■ डा. शर्मा

अभिनव हिन्दी निबन्ध

अभिनव हिन्दी-निबन्ध

[पी० सी० एस०, एस० टी० ओ०, बी० डी० ओ०, आई० ए० एस० आदि उच्च प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं तथा बी० ए०, एम० ए० (हिन्दी) आदि के परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी]

लेखक :

डॉ० मानसिंह वर्मा

एम० ए० (हिन्दी), कमला चौधरी पदक विजेता,
एम० ए० (संस्कृत), साहित्य रत्न, पी०एच० डी०
हिन्दी-विभाग
मेरठ कॉलेज, मेरठ

एक मात्र वितरक :

लॉयल बुक डिपो, मेरठ

प्रकाशक :
इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस
मेरठ

तृतीय परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण १९७९
मूल्य : १५.०० मात्र

मुद्रक :
एम० एल० प्रिन्टर्स,
२७३, सुभाष नगर मेरठ।

अनुक्रम

खण्ड–क : ज्वलन्त निबन्ध

विषय	पृष्ठ

भूमिका—१

(प्रथम संस्करण)

प्रस्तुत पुस्तक विभिन्न उच्च प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के प्रतियोगियों को ध्यान में रखकर लिखी गई है। गद्य को लेखक की कसौटी कहा जाता है और हिन्दी के प्रख्यात निबंधकार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध को गद्य की कसौटी माना है। उस कसौटी पर ये निबन्ध कहाँ तक खरे उतरते हैं, इसकी परख तो पाठक करेंगे। मुझे तो केवल इतना कहना है कि मेरी इच्छा प्रत्येक निबन्ध को उसके निजी व्यक्तित्व से संपृक्त करने की रही है और उस दिशा में मैंने प्रयत्न भी किया है। विचारों की अन्विति को महत्वपूर्ण माना गया है और वायवी भाषा के प्रयोग से यथा-संभव बचने का प्रयत्न किया गया है। न चाहने भी प्रूफ़ की कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिनके निराकरण के लिये पुस्तक के आगामी संस्करण की प्रतीक्षा करनी होगी। विश्वास है, पुस्तक पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी। इस विश्वास का आधार अभी तो मेरा अंत: करण ही है। अस्तु:

श्री रामलाल जी (लॉयल बुक डिपो) के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिन्होंने न केवल इसके प्रकाशन, मुद्रण का दायित्व सँभाला है, बल्कि बड़े आलसी से इतनी छोटी पुस्तक लिखवा लेने में भी सफलता प्राप्त की है।

——लेखक

भूमिका—२

(द्वितीय संस्करण)

'अभिनव हिन्दी निबन्ध' का द्वितीय परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण पाठकों को समर्पित करते हुए मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। एक वर्ष से भी कम की अल्पावधि में प्रथम संस्करण का समाप्त हो जाना पुस्तक की लोकप्रियता का प्रमाण है। पुस्तक संस्करण में न केवल कुछ नये निबन्ध जोड़े और कुछ कम कर दिये गये हैं, बल्कि पिछले निबन्धों को भी संशोधित और परिवर्धित कर सर्वथा अधुनातन बनाने का प्रयत्न किया गया है। संस्करण की एक और विशेषता यह है कि निबन्धों को अनेक शीर्षकों एवं उपशीर्षकों में विभाजित कर दिया गया है, जिससे विषय का विवेचन अधिक संगठित और वैज्ञानिक ढंग से सम्भव हो सका है और वैचारिक बिखराव को एक सीमा तक नियन्त्रित किया जा सका है। मेरा अनुभव है कि निबन्ध के प्रारम्भ में दी जाने वाली रूप-रेखा की पद्धति विषय को हृदयंगम करने एवं फिर उसे लिख सकने में विद्यार्थी के लिए उतनी उपयोगी एव सुविधाजनक नहीं होती,

जितनी कि निबन्ध में व्यक्त हर अलग विचार को अलग शीर्षक-उपशीर्षक में विभाजित करने वाली पद्धति उपयोगी एवं सुविधाजनक होती है। यह पद्धति हिन्दी-निबन्ध के लिए एकदम नयी नहीं है, क्योंकि पुस्तकों में यदा-कदा दो चार निबन्ध, विशेष रूप से साहित्यिक निबन्ध, इस पद्धति पर लिखे मिल जाते हैं, तदपि इस पद्धति पर लिखी कोई सम्पूर्ण एवं स्तरीय पुस्तक इधर मेरे देखने में नहीं आई। निबन्ध की प्रस्तावना और उसके निष्कर्ष को भी वांछित महत्व दिया गया है।

पुस्तक में इस बात का ध्यान बराबर रखा गया है कि इसके पाठक विशेष रूप से वे नवयुवक होंगे, जो विभिन्न प्रशासनिक पदों पर नियुक्त होकर इस देश की बागडोर सँभालेंगे। अतः स्थितियों एवं परिस्थितियों के विश्लेषण में यथासम्भव तटस्थ रहने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी, यदि पाठकों को कहीं किसी प्रकार का दुराग्रह अथवा किसी के प्रति अतिरिक्त आवेश-पूर्ण कथन दिखलाई पड़े तो उसे सामयिक विषयों के लेखक की सीमा ही समझना चाहिए। प्रचार-प्रसार एवं विज्ञापन के धुँधलके से अंटे वास्तविक तथ्य को ढूँढ़ निकालने की शक्ति एवं साहस साधारण लेखक में नहीं होता।

निबन्धों को इस बार भी दो मोटे वर्गों में ही रखा गया है, खण्ड-क ज्वलंत निबन्ध और खण्ड-ख साहित्यिक निबन्ध। विषयों का चयन लेखकीय सुविधा को ध्यान में रखकर नहीं किया गया, बल्कि पाठकीय उपयोगिता को दृष्टिगत रखकर किया गया है। पुस्तक का उद्देश्य केवल कुछ गिने चुने विषयों पर निबन्ध-लेखन की सामग्री प्रस्तुत करना नहीं है, वरन् पाठक के अन्दर वह आत्म-विश्वास उत्पन्न करना है, जिसके बल पर वे सर्वथा नये एवं अनछुए विषयों पर भी निबन्ध लिख सकने में समर्थ हो सकें। विश्वास है, पुस्तक अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल होगी।

मैं उन सभी विद्वान लेखकों के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके लेखों एवं निबन्धों से मैंने किसी भी प्रकार की सहायता पाई है। पाठकों के उपयोगी सुझावों का स्वागत किया जायेगा।

—मानसिंह वर्मा

भूमिका—३

(तृतीय संस्करण)

'अभिनव हिन्दी निबन्ध' के दूसरे संस्करण का पाठकों ने स्वागत किया। उसी से प्रेरित हो पुस्तक का 'तृतीय संस्करण' प्रस्तुत किया जा रहा है। संस्करण की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं—

(१) संस्करण में निबन्धों की संख्या ३७ से बढ़ाकर ५६ कर दी गई है।

(२) सामयिक महत्व वाले कुछ विषयों की रूप-रेखाएँ प्रस्तुत की गई हैं। ये रूप-रेखाएँ इतनी विस्तृत हैं कि पाठक इन विषयों पर सुविधापूर्वक निबन्ध तैयार कर सकते हैं।

(३) साहित्यिक निबन्धों में कुछ संक्षिप्त निबन्ध जोड़े गए हैं। ये निबन्ध संक्षिप्त होते हुए भी पूर्ण हैं। मात्र व्यास-शैली का अवलम्बन ले पाठक इनका विस्तार कर सकता है। यानी, उसे यथावश्यक तथ्य ढूंढ़ने के लिये अन्यत्र जाना आवश्यक नहीं होगा।

ये 'विस्तृत रूप-रेखाएँ' एवं 'संक्षिप्त निबन्ध' एक प्रकार से पाठकों के मूल्यांकन का अतिरिक्त आधार भी बन सकेंगे।

(४) निबन्धों में वस्तुपरक निबन्धों का ही प्राधान्य है किन्तु व्यक्तिपरक निबन्धों का भी नितान्त अभाव नहीं है। (देखिये, भ्रष्टाचार निबन्ध)। निबन्धों में तथ्यों का बाहुल्य है किन्तु उन्हें कलात्मक ढंग से ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

केवल एक बात और। एक हिन्दी के मनीषी से जब मैंने 'द्वितीय संस्करण' के विषय में उनकी प्रतिक्रिया जाननी चाही तो उन्होंने तुरन्त कहा—'तुम यह बताओ कि क्या इन निबन्धों में तुम्हें सृजन का सुख मिला है?' उस समय तो मुझे इस बात का पूरा एहसास नहीं हो पाया था कि किस प्रकार केवल 'सृजन के सुख' में ही निबन्ध की सम्पूर्ण कसौटी अवस्थित है, प्रस्तुत संस्करण को तैयार करते समय वह एहसास मुझे हुआ और मैं कह सकता हूँ कि इस संस्करण के अधिकांश निबन्धों में मुझे सृजन का सुख मिला है। जहाँ नहीं मिला, वहाँ मेरी सीमाओं के साथ-साथ पुस्तक के उद्देश्य की विशिष्टता भी बाधक रही है।

विश्वास है, प्रस्तुत संस्करण का स्वागत होगा।

२३, कल्याण नगर, —मानसिंह वर्मा
दुर्गा मन्दिर रोड, मेरठ (उ० प्र०)

खण्ड—क

ज्वलन्त निबन्ध

१ हरिजन समस्या

१. समस्या का वर्तमान स्वरूप :

'वेलछी में ग्यारह हरिजनों को जिन्दा जला दिया गया', 'कनाड़िया में भू-स्वामियों द्वारा चार हरिजनों की नृशंस हत्या', 'भोजपुर जिले के गाँवों में हरिजनों पर बढ़ते अत्याचार' आदि अखबारों में प्रकाशित होने वाली अनेक सुर्खियाँ स्वतन्त्र भारत के नागरिकों को हरिजन-समस्या की कहानियाँ प्रतिदिन सुनाती रहती हैं। आज देश को स्वतन्त्र हुये तीस से ऊपर वर्ष हो गये किन्तु हम समाज के इस कोढ़ को मिटाने में बुरी तरह असफल रहे। कभी-कभी तो लगता है—'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की' की उक्ति यहाँ सार्थक हो रही है। आज भी सवर्णों द्वारा उनकी सामूहिक हत्याएँ की जा रही हैं. उनके घर जलाये जा रहे हैं, उन्हें मन्दिर, धर्मशाला, कुआँ एवं पंचायत घरों आदि सार्वजनिक स्थानों पर उपेक्षित एवं अपमानित होना पड़ता है। ये आज भी भूस्वामियों और जमीदारों के शोषण के शिकार हो रहे हैं। विज्ञान की इस बीसवीं शताब्दी में भी वे अपने सिर पर मैला ढोने को विवश हैं। आज भी उन्हें गाँव के महाजनों और जमीदारों से मुँह मांगे ब्याज पर कर्ज लेना पड़ता है। उनके पुत्र-पुत्रियाँ सवर्णों के स्कूल जाते हुये बच्चों को केवल सतृष्ण नेत्रों से देख भर सकते हैं और आज भी उनकी बहू बेटियों की इज्जत, इज्जत नहीं समझी जाती। आज भी उनके बच्चे स्व० सियारामशरण गुप्त की 'अछूत बालिका' की भाँति इस समाज से—'मुझको देवी के प्रसाद का, एक फल तो दो लाकर' की जुहार करते हुये दम तोड़ देते हैं। आज भी सरकारी एवं गैर सरकारी प्रतिष्ठानों में उनके लिये आरक्षित अनेक स्थान उनकी वांछित शैक्षिक अर्हता के अभाव में रिक्त रह जाते हैं और आज भी वे समाज के अन्य अंगों से मानवी गरिमा के अनुकूल व्यवहार एवं सम्मान पाने से वंचित हैं।

२. हरिजन कौन हैं ? ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :

यहाँ थोड़ा रुककर यह विचार कर लेना भी उचित होगा कि ये हरिजन हैं कौन ? ये वे लोग हैं जिनका भारत की प्राचीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में चौथा वर्ण रहा और इन्हें 'शूद्र' की संज्ञा दी गई, जिनका कार्य शेष तीन वर्णों की सेवा-सुश्रुषा करना माना गया किन्तु वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक शूद्रत्व का आधार भी अन्य वर्णों की भांति जन्म अथवा जाति न होकर गुण एवं कर्म ही रहा, इसके यथेष्ठ प्रमाण प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मण काल में इस वर्ण-विभाजन

का आधार जन्म होने लगा और इसमें कठोरता भी आने लगी। सम्भवतः ब्राह्मण-काल में ब्राह्मणों ने अन्य वर्णों की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन प्रारम्भ किया और शनैः-शनैः भारतीय सामाजिक संरचना में श्रम-विभाजन के लिये प्रयुक्त, मानव स्वभाव के गहन अध्ययन एवं विश्लेषण पर आधारित वर्ण-व्यवस्था की यह विधि जन्म एवं जातिगत कठोरता को ग्रहण कर अपनी परिवर्तनशीलता और लोच को खोती चली गई। अब शूद्र के घर में जन्म लेने वाले को शूद्र ही कहे जाने की अनिवार्यता उत्पन्न हुई। विशेष पेशे से सम्बद्ध होने एवं कुछ के द्वारा अनार्य धर्म के स्वीकृत कर लेने से अपनी श्रेष्ठता का दम्भ भरने वाले आर्यों के लिये ये अस्पृश्य होने लगे। धार्मिक अनुष्ठानों, मन्दिरों, विद्यालयों में इनके प्रवेश को वर्जित माना जाने लगा। सम्पूर्ण मध्यकाल का इतिहास तो जैसे इन शूद्रों की क्रमशः हीन होती हुई स्थिति का ही इतिहास है। आधुनिक काल में अंग्रेजों ने इन्हें मुख्य राष्ट्रीय धारा से तोड़कर राष्ट्र-शक्ति को विभाजित करने का प्रयत्न किया। स्वतन्त्रता के बाद हरिजन कल्याण की अनेक योजनायें बनाई गई, नौकरियों में आरक्षण किया गया, हरिजनों पर अत्याचार करने वाले को दण्ड देने के लिये कानून बनाया गया, किन्तु हरिजनों पर अत्याचार आज भी नहीं रुके।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दिनों में महात्मा गाँधी ने अछूतों की समस्या को बहुत करीब से देखा। वस्तुतः गाँधी जी के मन में इस दलित एवं उपेक्षित वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति थी। वे इनका महत्व केवल राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं अपितु शुद्ध मानवीय दृष्टि से भी स्वीकार करते थे। यही कारण था कि उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण को अपने आन्दोलन का प्रमुख अंग बनाया। स्वयं इन अस्पृश्यों के साथ रहे, भोजन किया और उनके सुख-दुःख की धड़कनों को सुना। गाँधी जी ने इन्हें 'हरिजन' नाम से अभिहित किया और इन्हें सवर्णों के अधिकार दिलाने तथा मानवी गरिमा से युक्त करने के लिये अनेक बार अपने प्राणों की बाजी लगाई। स्पष्ट है कि गाँधी जी ने 'हरिजन' शब्द का प्रयोग अस्पृश्य समझी जाने वाली जाति के लिये ही किया था। आज स्वार्थी तत्वों ने उसके अर्थ का विस्तार कर लिया है और उसमें अनेक वर्गों को भी शामिल कर लिया है। संख्या की दृष्टि से भी अब इनका अच्छा महत्त्व है और आज लगभग हर सातवाँ भारतीय हरिजन है।

३. समस्या के कारण :

सामन्ती मानसिकता—अब यह स्पष्ट हो चुका है कि हरिजनों पर अत्याचार करने वाले गाँवों के वे बड़े-बड़े भूस्वामी अथवा महाजन लोग हैं, जो आज भी मध्ययुगीन सामन्ती मानसिकता के शिकार हैं। यों कहने को भारत में भी आधुनिक युग का पदार्पण हुआ है। औद्योगीकरण एवं तकनीक के क्षेत्र में भी उसने विकास किया है किन्तु शहरी आबादी के अतिरिक्त इन सबका ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत कम प्रभाव देखने को मिलता है। ग्रामीण सवर्ण स्वयं को शूद्रों और हरिजनों से श्रेष्ठ समझते हैं। यही कारण है कि आज भी देश के कई इलाकों में वे सवर्णों के सम्मुख अपनी

मूँछ ऊँची करके नहीं चल सकते। आज भी उन्हें गाँव से बाहर बसने को मजबूर किया जाता है। अनेक स्थलों पर आज भी वे सवर्णों के कुओं पर नहीं चढ़ सकते। उनसे सवर्णों के अंग का यदि कोई हिस्सा स्पर्श कर जाता है तो सवर्ण को उसकी शुद्धि के लिये गंगाजल की आवश्यकता पड़ती है। अनेक पंचायती चौपालों में उन्हें चौपाल या दरवाजे से बाहर बैठना पड़ता है। इस ग्रामीण सामन्ती मानसिकता का एक दिलचस्प उदाहरण पिछले दिनों देखने में आया। १९७५–७६ में आपातकाल के दौरान अनेक भूमिहीन हरिजनों को कुछ भूमि दी गई। कुछ बंधुवा मजदूरों को भी मुक्त किया गया एवं ऋण-मुक्ति की भी घोषणा की गई। कानून भी बना। खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी भी तय की गई। आपातकाल में दण्ड के भय से ये सामन्ती प्रवृत्ति वाले लोग कुछ चुप से दिखलाई पड़े किन्तु जैसे ही आपातकाल समाप्त हुआ, इनका दम्भ खुलकर सामने आया। अनेक की आवंटित भूमि को छीनने का प्रयत्न किया गया। उनका खेतों और मेड़ों पर जाना रोक दिया गया। उनकी खड़ी फसलों को नष्ट कर दिया गया और अनेक स्थानों पर उनके घरों, छप्परों को ही नहीं जलाया, बल्कि उन्हें भी गोली और आग का शिकार बना दिया गया। भला, इन परम्परावादी भूस्वामियों के रहते हरिजनों की क्या हिम्मत है कि वे भी स्वयं को भूस्वामी कह सकें अथवा अपनी मजदूरी का उचित पारिश्रमिक माँग सकें।

विशेष पेशे की सम्बद्धता—हरिजनों को आज भी समाज की दृष्टि में नीची नजरों से देखा जाता है, इसका एक कारण उनके एक वर्ग का मैला ढोने तथा कूड़े कर्कट की सफाई जैसे पेशे से सम्बद्धता भी है। समाज मानता है कि मैला उठाने वाला भी मैला ही है और इस कार्य का उत्तरदायित्व केवल हरिजनों पर ही है। अब जबकि अन्य कोई भी पेशा किसी जाति विशेष से सम्बद्ध नहीं रह गया है—अब ब्राह्मणों को हजामत बनाते देखा जा सकता है, राजपूत दर्जी का काम कर सकते हैं। वैश्य धोबी बन सकता है, तब भी इनमें से कोई भी जाति मैला ढोने का पेशा स्वीकार नहीं कर सकती। उसके लिये तो केवल हरिजन ही हैं। यदि कभी आत्म-सम्मान जग जाने के कारण अथवा उचित मजदूरी न मिलने के कारण अथवा किसी अन्य कारणवश ये लोग मैला उठाने से इनकार करते हैं तो इनके साथ मार पिटाई एवं झगड़े तक की नौबत पैदा हो जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये कि अस्पृश्यता के मूल में पेशे की यह सम्बद्धता भी कार्य करती है। उसे निम्न, दीन एवं हीन बना दिये जाने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक पिछड़ापन—हरिजन आर्थिक दृष्टि से भी बहुत पिछड़े हुये हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार अनुसूचित जातियों और जनजातियों की तीन चौथाई से अधिक आबादी किसी न किसी रूप में खेती से जुड़ी है। ७२·३ फीसदी लोग कृषि पर निर्भर हैं, जिनमें से ३४·४३ फीसदी लोगों के पास कोई जमीन नहीं है और उन्हें खेतिहर मजदूर कहा जाता है। जिनके पास जमीन है भी, वह बहुत थोड़ी है और लाभोत्पादक नहीं है। कुछ कुटीर उद्योग धन्धे भी ये लोग करते हैं

किन्तु वे न तो पर्याप्त हैं और न ही सुव्यवस्थित। ऐसी स्थिति में इनका आर्थिक दृष्टि से दुर्बल होना स्वाभाविक है। आत्म-विकास की बात तो छोड़िये, आज क अर्थप्रधान युग में ये अर्थ के अभाव में आत्म-रक्षा भी नहीं कर पाते क्योंकि न्यायालयों की खर्चीली न्याय-व्यवस्था में ये अपने पीड़िकों एवं शोषक भूस्वामियों के सामने नहीं टिक पाते।

आर्थिक पिछडापन किसी सीमा तक इनके सामाजिक एवं शैक्षिक पिछड़ेपन के लिये भी उत्तरदायी है। समाज की दृष्टि में यह अत्यधिक गिरा हुआ वर्ग है, इसलिये इनका सवर्णों के साथ रोटी और बेटी का सम्बन्ध अभी नहीं जुड़ पाया है। यदि आज के ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में कोई युवक-युवती इस प्रकार का साहस करता भी है तो उन्हें गाँव तक छोड़ने पर विवश होना पड़ता है। नारी को आज भी एक वस्तु से अधिक अहमियत प्राप्त नहीं है। विधवा विवाह एवं पुनर्विवाह को यद्यपि अधिकांशतः बुरा नहीं समझा जाता किन्तु बाल-विवाह, पर्दा प्रथा और एकाधिक स्त्री रखने की कुरीतियाँ इनमें आज भी प्रचलित हैं। शिक्षा के अभाव में अज्ञान और अन्धविश्वास का जोर है। टोना और टोटके के चक्कर में प्रतिवर्ष न जाने कितनी ही जानें चली जाती हैं। विवाह आदि के अवसर पर अपनी सामर्थ्य से अधिक खर्च किया जाता है, जिसकी पूर्ति प्रायः कर्ज से होती है और फिर उस कर्ज को चुकाने में कभी-कभी इनकी पीढ़ियाँ गुजर जाती हैं और महाजन का कर्ज ज्यों का त्यों बना रहता है, फिर भी कर्ज से इनको बहुत भय नहीं लगता। यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में प्रायः सभी राज्यों में इनके बच्चों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता, छात्र-वृत्तियों की भी व्यवस्था है, तदपि इन सुविधाओं का लाभ बहुत कम लोग उठा पाते हैं। सरकारी नौकरियों में आरक्षण का लाभ भी इनके एक विशेष, अपेक्षाकृत बहुत कुछ अधिक सम्पन्न वर्ग को, ही मिल पाया है। अतएव हर प्रकार के शोषण एवं उत्पीड़न का इन्हें शिकार होना पड़ता है।

दलगत राजनीति एवं संगठन का अभाव—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रायः प्रत्येक राजनीतिक दल ने हरिजनों की शोचनीय स्थिति पर आँसू बहाए हैं किन्तु वे मगरमच्छी ही सिद्ध हुए हैं। किसी भी दल ने कोई ऐसा ठोस कार्य नहीं किया, जिससे इनकी मूलभूत स्थिति में सुधार आए। चुनावों में दल की विजय में रही इनकी महत्वपूर्ण भूमिका का सदैव शोषण होता रहा है। चुनाव जीतने के बाद विजयी दल इनकी सुध नहीं लेता और विजित दल के लोग इन्हें अपना विरोधी समझकर उत्पीड़ित करने में कोई कसर नहीं उठा रखते। इसी कारण हर चुनाव के बाद हरिजन समस्या और अधिक उत्कट एवं गम्भीर हो उठती है। कभी-कभी विभिन्न राजनीतिक दल अपने दलगत स्वार्थों से प्रेरित होकर हरिजनों पर हो रहे अत्याचारों को अत्यधिक तूल देते हैं, जिससे विरोधी शासक दल की छबि भले ही मैली हो, हरिजनों की समस्या नहीं सुलझ पाती। विभिन्न जाँच समितियों की रिपोर्टों से भी यही तथ्य उजागर होता है। संगठन के अभाव एवं आपसी

वैमनस्य के कारण इनकी आवाज भी नक्कारखाने में तूती की आवाज ही बन कर रह जाती है। महाराष्ट्र के 'दलित पेंथर' जैसे संगठन अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं और उनकी संख्या भी न्यून है।

अन्य कारण—इनके अतिरिक्त हरिजन समस्या की पेचीदगी के कुछ अन्य कारण भी हैं। पुलिस और सेना आदि में उनकी संख्या न्यून है। स्वयं हरिजनों में भी एक ऐसे आभिजात्य वर्ग का उदय हुआ है, जो शासक वर्ग की तमाम सुविधाओं को डकार कर उसका सा ही आचरण करता है। हरिजनों के हित के लिये उसने कोई ठोस लड़ाई नहीं लड़ी। शिक्षा के अभाव में अधिकांश हरिजनों को कानून का भी ज्ञान नहीं है। अपने अधिकारों का भी समुचित बोध नहीं हो पाया है।

इन्हीं सब कारणों से हरिजनों के उत्पीड़न और शोषण में कमी नहीं आ पाती।

४. समस्या के निराकरण के लिए अब तक किये गये प्रयत्न

यह कहना उचित नहीं होगा कि इस समस्या के निराकरण के लिये अब तक कुछ भी नहीं किया गया। स्वयं सेवी संगठनों तथा सरकार की ओर से कुछ प्रयत्न अवश्य किये गये हैं किन्तु दो ढाई हजार वर्षों से भी अधिक समय से चली आ रही इस गम्भीर समस्या के लिये उनका महत्व ऊँट के मुँह में जीरे के समान ही सिद्ध हुआ है। स्वतन्त्रता से पूर्व और बाद में भी आर्य समाज जैसी संस्थाओं ने इस क्षेत्र में कुछ कारगर उपाय किये हैं किन्तु यह सही है कि इस समस्या की गहराई और इसके दर्द को समझने वाले स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी और समाजवादी चिंतक लोहिया जैसे व्यक्ति इस देश में अधिक नहीं हुए। स्वतन्त्रता के बाद अस्पृश्यता निवारण के लिये कानून भी बने। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ४६ में कहा गया है कि "राज्य जनता के कमजोर वर्गों में और खासकर अनुसूचित जातियों और जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों पर विशेष ध्यान देगा तथा सामाजिक अन्याय तथा हर तरह के शोषण से बचाव करेगा।" अनुच्छेद के अनुसार अस्पृश्यता समाप्त होगी और अस्पृश्यता (जुर्म) कानून १९५५ के अन्तर्गत अस्पृश्यता फैलाने वालों को दण्ड दिया जायेगा। अछूतों को मन्दिरों में प्रवेश दियां गया। सरकारी नौकरियों में उनके लिये आरक्षण किया गया। उनके लिये निःशुल्क शिक्षा का भी प्रावधान हुआ। छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की गई। समय-समय पर अछूतों को तालाबों, कुओं तथा मन्दिरों आदि के प्रवेश और उपयोग के लिये अनेक सत्याग्रह किये गए किन्तु ये सत्याग्रह किस प्रकार निष्फल रहे। इसके लिये महाराष्ट्र के कुलाबा जिले के महाड़ नगर के १९२७ ई० में हुए उस ऐतिहासिक सत्याग्रह की याद करना अनुचित न होगा, जिसमें तत्कालीन बम्बई सरकार के आधार पर नगर परिषद् ने अछूतों को तालाब से पानी लेने की छूट दी थी और बाबा साहब अंबेडकर के नेतृत्व में जब उस 'चवदार तले' नामक तालाब से हरिजनों

का जलूस पानी पीकर लौट रहा था तो कुछ सवर्णों ने वहाँ के प्रसिद्ध मन्दिर वीरेश्वर में उनके जबर्दस्ती प्रवेश की योजना की अफवाह फैलाकर जलूस की जमकर पिटाई की। यही नहीं, सनातनियों ने एक सप्ताह बाद तालाब के शुद्धीकरण के लिये एक सहस्र कलश पानी बाहर निकाला और तालाब पर पानी भरने की फिर से अस्पृश्यों को मनाही हो गई। मामला कोर्ट में गया और दस साल बाद कोर्ट का फैसला अंबेडकर जी के पक्ष में हुआ। अभी आपात् काल में भी यही सब हुआ। हरिजनों को ऋण से मुक्त किया गया। कुछ जमीन भी उन्हें आवंटित की गई और बैंक से ऋण दिलाने की भी व्यवस्था की गई किन्तु इस सबका कितने हरिजन लाभ उठा पाये ? अब जनता सरकार ने भी हरिजनों पर अत्याचार करने वालों के लिये कड़े दण्ड की घोषणा की है किन्तु क्या अत्याचार रुक पाए ? बाबू जगजीवन राम, रामधन एवं बी० पी० मौर्य जैसे अछूत नेता अब भी संघर्ष कर रहे हैं किन्तु पंचों की बात को सिर माथे पर रखकर भी सवर्णों का परनाला अपने पूर्व स्थान पर ही बह रहा है।

५. समस्या के निराकरण के लिये कुछ सुझाव

इस विकट समस्या के हल के लिये आवश्यक है—भारतीय सवर्णों की सामंती मानसिकता को बदलना। इसके अभाव में चाहे सरकार अथवा स्वयंसेवी संगठन कितने ही प्रयत्न क्यों न करें, हरिजनों के उत्थान की कितनी ही योजनाएँ बनायें, सब निष्फल ही रहेंगी। यह सही है कि यह सामंती मानसिकता एक वर्ष में नहीं बदली जा सकती किन्तु यदि राजनेता, समाज के शीर्षस्थ व्यक्ति, स्वयं सेवी संगठनों के सभी सदस्य, अध्यापक, वकील, व्यापारी, अभियंता, देश की नारी एवं युवा पीढ़ी इस मानसिकता को बदलने के लिये कमर कस लें तो यह असम्भव नहीं है, क्योंकि यही मानसिकता है; जिसके कारण हरिजन कल्याण के लिये किये गए सारे प्रयत्न एवं बनाए गए सभी कानून निष्फल ही नहीं, हास्यास्पद भी हो जाते हैं। हरिजनों के आर्थिक उत्थान पर भी तत्काल ध्यान देना अनिवार्य है। गाँव-गाँव में कुटीर उद्योगों का जाल फैलाने और इनमें हरिजनों को संलग्न करने का कार्य तुरन्त प्रारम्भ होना चाहिये। पूँजी सस्ती ब्याज दर पर सरकार द्वारा मुहैया की जानी चाहिये और तैयार माल की बिक्री का प्रबन्ध भी किया जाना चाहिये। इन कुटीर उद्योग-धन्धों में भी आमतौर पर जो धन्धे इस वर्ग में प्रचलित हैं—जैसे, मुर्गी पालन, सुअर पालन, चमड़े का सामान बनाना आदि को प्रवरता दी जानी चाहिये। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने पर कुछ समस्याएँ तो स्वयं ही समाप्त हो जायेंगी। मैला ढोने की परम्परा को तुरन्त बन्द किया जाना चाहिये। नगर-निगमों, नगर पालिकाओं, टाउन एरियाओं, जिला-परिषदों एवं पंचायतों की मदद से फ्लश प्रणाली की यथा-शीघ्र व्यवस्था की जानी चाहिये। गाँवों के शौचालयों को गोबर गैस संयंत्र से जोड़ा जाना चाहिये। क्योंकि मैला ढोने की प्रथा अस्वास्थ्यकर एवं

अवैज्ञानिक ही नहीं है, वरन् मानवी गरिमा को भी गिराने वाली है। सरकारी उच्च नौकरियों के लिये अन्तर्जातीय विवाहों को अनिवार्य घोषित किया जाना चाहिये। हरिजन के साथ विवाह करने वाले युवक युवती को सरकारी स्तर पर पुरस्कृत किया जाना चाहिये। व्यक्तियों के नामों के आगे पीछे जाति-सूचक नामों का चलन बन्द होना चाहिये। केवल राजनीतिक लाभ के लिए हरिजनों की स्थिति का शोषण बन्द होना चाहिये। सत्ताधारी दल के कार्यकर्त्ताओं एवं विधायकों के लिये आवश्यक हो जाना चाहिये कि वे समय-समय पर हरिजन टोलों में जायें, वहीं ठहरें, उन्हीं के साथ खायें, पीयें और उनकी समस्याओं का अध्ययन करें। इन सबके अतिरिक्त राज्य सरकारों को ऐसे लोगों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करनी चाहिये, जो हरिजनों और भूमिहीनों से अमानवीय व्यवहार करते हैं। यदि आवश्यक समझा जाए तो अन्याचारी की भूमि और हथियार छीन लिये जाने चाहियें। अत्याचार की किसी भी घटना की जाँच के लिये सर्वदलीय संसदीय समिति नियुक्त होनी चाहिये और उसकी सिफारिशों को तुरन्त लागू किया जाना चाहिये। भूमि-वितरण, बधुवा मजदूर और ऋण-मुक्ति आदि के सम्बन्ध में राष्ट्रीय नीति की घोषणा की जानी चाहिये। अंततः निर्मलकुमार बोस समिति द्वारा सुझाए गए उपायों को भी यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा। समिति के अनुसार—"भूमि-हीन और दलित लोगों को संरक्षण और सुविधा देना ही पर्याप्त नहीं है। इससे भी महत्त्वपूर्ण काम है—उन्हें उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों का अहसास कराने के लिये उन्हें शिक्षा देना, संगठित करना और संवैधानिक तरीकों से अपने अधिकारों का उपयोग करने में मदद देना। इसके साथ ही कानून में जो खामियाँ हैं, उन्हें दूर करना।"

६. राष्ट्रीय समस्या, मानवी समस्या

वस्तुतः हरिजन समस्या को राष्ट्रीय समस्या के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिये, बल्कि इससे भी बढ़कर उसे मानवी-समस्या के रूप में समझा जाना चाहिये। यह समस्या किसी एक दल की नहीं है, केवल सरकार की नहीं है, केवल स्वयं-सेवी संगठनों की नहीं है, यह हम सबकी है, प्रत्येक मानव की है। इसके समाधान के लिये हम सबको ही एकजुट होकर कार्य करना पड़ेगा, कुछ न कुछ आहुति देनी होगी। कितना अच्छा हो कि इसके लिये स्वयं सवर्ण ही आगे आयें और संकल्प लें कि उनके अपने क्षेत्र में हरिजनों एवं कमजोरों पर कोई अत्याचार नहीं होगा। आज मानवी अधिकारों और मानवी स्वतन्त्रता की रक्षा का जितना ढोल पीटा जाता है, यदि उसका अल्पांश भी हम व्यवहार में उतार पायें तो मानव कहे जाने वाले जीव के साथ पशुओं जैसा निर्दय व्यवहार कदापि संभव न हो। काश! हम सब हिमाचल प्रदेश की राजधानी शिमला में हरिजनों की पूजा का अनुष्ठान करने वाले स्वामी चिदानन्द के इन शब्दों का अर्थ समझ सकें—

"छुआछूत हमारे धर्म के विपरीत है। यह एक सामाजिक अभिशाप है। हमारा धर्म कहता है, सब में भगवान का निवास है। हम सब एक पिता-परमात्मा की सन्तान हैं। उनमें भेद कैसा ? हरिजन उद्धार का कार्य स्वयं के उद्धार का कार्य है। हरिजनों को धकेल कर हम पतित हुए हैं, उनको गले लगाकर हमारा उद्धार होगा।" हमें यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि मनुष्य की पूजा से बढ़कर कोई पूजा नहीं, उसकी सेवा से बढ़कर कोई सेवा नहीं और उसके धर्म से बढ़कर कोई धर्म नहीं—

क्या करेगा प्यार वह भगवान को,
क्या करेगा प्यार वह ईमान को।
जन्म लेकर गोद में इनसान की,
प्यार कर न पाया जो इनसान को॥

—गोपालदास नीरज

———

२ शराबबन्दी

१. शराब का बढ़ता प्रचलन : गम्भीर होती हुई समस्या :

शराबबन्दी की समस्या केवल भारत की ही नहीं, पूरे विश्व की समस्या है। पश्चिम के ठंडे मुल्कों में तो इसका प्रचलन दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। कुछ देश ऐसे भी हैं, जहां जल के स्थान पर भी शराब का ही प्रयोग होता है। सभा में, बैठक में, क्लब में. एवं विभिन्न अवसरों पर आयोजित उत्सवों एवं जलपानों में शराब एक प्रमुख आवश्यकता बनती जा रही है। अनेक स्थानों पर शराब न पीने वालों को असभ्य एवं पिछड़ा हुआ करार दिया जाता है। शराब की दिनोंदिन बढ़ती इस खपत से विश्व के अनेक देश चिन्तित हो उठे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठन भी अपनी चिन्ता प्रकट करता रहा है। कुछ देशों में शराबबन्दी के कानून भी बने हैं किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। हमारे यहाँ भी विश्व-विद्यालयों एवं कालेजों के युवक-युवतियों में, खानों में मिलों में काम करने वाले साधारण आय वाले मजदूरों में, सैनिकों में, रिक्शा एवं ट्रक-बस चालकों में, ग्रामीण कृषकों में एवं वकील, इंजीनियर, डाक्टर, प्रशासक, कवि-साहित्यकार आदि आर्थिक दृष्टि से समर्थ और असमर्थ वर्गों में भी जिस तीव्रता से इसका प्रचलन बढ़ता जा रहा है, शराबबन्दी की समस्या उसी अनुपात में उत्कट एवं गम्भीर होती जा रही है। पीने वाले कुछ न कुछ कारण खोज ही लेते हैं। कोई ग़म गलत करने के लिए पीता है तो कोई दिन भर की थकान मिटाने के लिए। कोइ बतौर फैशन पीता है तो कोई अपनी सृजन की प्रेरणा की खोज में। कोई अपने स्वास्थ्य को चंगा बनाने के लिए पीता है तो कोई सूख-सूख कर मर जाने के लिए और कोई इसलिए पीता है कि उसके पास पैसा अधिक है तो कोई केवल इस चिन्ता को दूर करने के लिए पीता है कि उसके पास पैसा नहीं है। बहरहाल, पीने वालों की संख्या नित्य प्रति बढ़ती जा रही है। कुछ ऐसा अजीब नशा है इसमें कि जिसने आज एक प्याला पी, कल वह दो प्याला पीने के लिए आतुर देखा जाता है—

> रूपसि, तूने सबके ऊपर
> कुछ अजीब जादू डाला,
> नहीं खुमारी मिटती, कहते
> दो, बस प्याले पर प्याला।

—(कवि मनोरंजन द्वारा की गई बच्चन की 'मधुशाला' की एक पैरोडी)

२. सोमरस : भारतीय शराब का प्राचीन रूप ?

कहा जाता है, वैदिक कालीन आर्य जिस सोमरस का पान करते थे, वह भी एक प्रकार की शराब ही थी किन्तु जिस प्रकार 'ऋगवेद' के सम्पूर्ण नवे मंडल में 'सोम' की अभ्यर्थना की गई है, उससे इतना तो स्पष्ट है ही कि वह कुछ इस प्रकार का पेय था जो मादक होते हुए भी शक्ति एवं स्फूर्ति देने वाला था। अपनी आनन्ददायक शक्ति के कारण इसे 'दैवी पान' की संज्ञा दी गई थी और विश्वास किया जाता था कि इसके पान से देव और मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होते हैं। इसे दीर्घायु का दाता, शरीर का रक्षक, आलोक का अन्वेषक; पीड़ा, रोग तथा चिन्ताओं का उपहारक कहा गया है। कहते हैं, इसकी उन्मादक शक्ति ने इन्द्र को वृत्रासुर के साथ युद्ध करने की उत्तेजना प्रदान की थी। सोमरस को तैयार करना तथा उसे अर्पित करना दोनों कार्य हिन्द ईरानी पूजा में आवश्यक समझे जाते थे। इस सबके बावजूद भी आर्य लोग इसके प्रयोगाधिक्य की हानियों से अवगत न हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीलिए ऋषि बार-बार प्रार्थना करता है—"हे अश्वों के स्वामी, मैं उस हितकर मित्र की संगति करूँगा, जो पिये जाने पर भी मुझे क्षति नहीं पहुँचायेगा। × × × हे रक्षक देवताओं। हमारे पक्ष में बोलो। निन्द्रा हमें अभिभूत न करे और न ही व्यर्थ की जल्पना।" यानी एक सीमा से अधिक पिये जाने पर ऋषि को क्षति की आशंका थी। निद्रा से अभिभूत होने और जल्पक होने का भय भी था। इसीलिए वह ऐसी प्रार्थना करता है।

३. शराब की लत : एक अभिशाप

वस्तुतः मद्यपान सामाजिक, आर्थिक एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से एक अभिशाप सिद्ध हो रहा है। शराब की लत ने कितने ही परिवारों को उजाड़ फेंका है, घर गृहस्थी का सुख छीन लिया है। जब गृह-स्वामी दिन भर घर से बाहर रहकर रात को शराब के नशे में धुत होकर लौटता है तो परिवार के बीवी बच्चे अपना माथा पीट लेते हैं। बच्चे संस्कारहीन एवं अशिक्षित रह जाते हैं। फलस्वरूप, बड़े होकर जुआ, चोरी, डाकेजनी, हत्या एवं लूटपाट आदि दुष्कृत्यों की ओर प्रवृत्त होते हैं। अनेक नारियाँ व्यभिचारिणी तक बनने को विवश होती हैं। शराबी में दायित्वहीनता आ जाना एक साधारण बात है। अपने गम्भीर से गम्भीर कर्त्तव्यों की भी वह उपेक्षा करने लगता है। उसकी बुद्धि कमजोर हो जाती है और शनैः शनैः उसकी विचार शक्ति भी लुप्त होने लगती है। उसकी मनोवृत्ति पलायनवादी हो जाती है और धीरे-धीरे वह अपने ही बनाए हुए समस्याओं के व्यूह में फँस जाता है। उसके इस सामाजिक पतन में उसकी गिरती आर्थिक स्थिति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। पियक्कड़ की शारीरिक शक्ति का तो ह्रास होता ही है, कमाई के पैसे शराब के पीने में चले जाते हैं। इस प्रकार का व्यक्ति शीघ्र ही सामाजिक यश से भी हाथ धो बैठता है। अधिक पीने वाले की धीरे धीरे भूख भी कम होती जाती है और अन्ततः अल्कोहल से ही उसकी क्षुधा की तृप्ति होने लगती है। शरीर निर्बल तथा

क्षीण हो जाता है। उसे अनेक रोग घेर लेते हैं। प्रायः जिगर और गुर्दे की सूजन, क्षय रोग और पेचिश जैसे भयंकर रोगों का वह शिकार हो जाता है। आँतें कमजोर हो जाती हैं। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि इस शराब की लत ने अनेक राजा महाराजाओं के मुकुटों को धूल में मिला दिया, कितनों को फुटपाथों पर भटकने के लिए विवश कर दिया और कितनों ही को आत्म-हत्या के मार्ग पर ला पटका। कितनी सही है यह कहावत कि पहले आदमी शराब पीता है और बाद में धीरे-धीरे शराब आदमी को पीने लगती है। कभी-कभी बड़े घिनौने एवं कारुणिक दृश्य भी उपस्थित हो जाते हैं। अधिक पी जाने के कारण बेहोश हुए व्यक्ति को जब गंदगी के ढेर पर, नाली में अथवा सड़क के बीचोंबीच पड़ा देखा जाता है तो मस्तिष्क में एकाएक प्रश्न उछलता है कि क्या यह इस संसार की सर्वश्रेष्ठ कृति वही मनुष्य है, जिसने आज आकाश पाताल को नाप डाला है, सागर को चीर डाला है और धरती के कण-कण को छान डाला है ? क्या यह जीवों का वही सरताज है जिसने भयंकर से भयकर पशुओं को भी पिंजड़े में बन्द कर पालतू बना लिया है ? जब यह संसार की श्रेष्ठ कृति और जीवों का सरताज शराब को अधिक नशीली बनाने के चक्कर में उसे विषैली तक बना डालता है और इसका पान कर बड़ी संख्या में प्राण देकर अखबार की सुर्खी बनता है, तब तो सचमुच इसके विवेक पर तरस आता है। लेकिन खाते रहो तरस और काण्ड की होती रहे सरकारी जांच, शराब जब तक पी जाती रहेगी, ऐसे दुष्काण्ड होते ही रहेंगे।

४. देश-विदेश में शराबबन्दी के लिए किए गये प्रयत्न :

शराब की लत एक अभिशाप है, यही कारण है कि देश विदेश में प्राचीन-काल से लेकर अब तक शराबबन्दी के प्रयत्न किये जाते रहे हैं। 'मनु' ने 'मनुस्मृति' में शराब की निंदा की है। महात्मा बुद्ध और उनके समर्पित प्रचारक अशोक ने अपने राज्य में शराबबन्दी की नीति लागू की। मुगल सम्राट औरंगजेब ने शराब-बन्दी के लिए फरमान निकाले। आधुनिक काल में शराबबन्दी का प्रबल विरोध किया महात्मा गाँधी ने। उन्होंने अपने स्वतन्त्रता-आन्दोलन के दौरान मद्य-निषेध आन्दोलन भी चलाया। १९२० में हुए कांग्रेस के अधिवेशन में लोगों का ध्यान मद्य-निषेध की ओर खींचा और इसके लिये सत्याग्रह भी किया। गाँधी जी शराब पिये जाने के कितने विरुद्ध थे, इसका आभास उनके इस कथन से होता है—"अगर मैं सारे भारत का एक घण्टे के लिए डिक्टेटर बना दिया जाऊँ तो सबसे पहला काम जो मैं करूँगा, वह बिना मुआवजा दिये तमाम शराब की दुकानों का बन्द करना होगा।" सन् १९३७ में कांग्रसी सरकारों ने शराबबन्दी को सरकारी नीति के रूप में स्वीकार किया था। स्वतन्त्रता के बाद भी कांग्रेस सरकार शराबबन्दी की घोषणा करती रही, किन्तु उसमें उसे सफलता अंश-मात्र भी नहीं मिली। अब जनता सरकार के पदारूढ़ होने पर प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने 'शराबबन्दी' आन्दोलन को पूरे जोर शोर से चलाने का व्रत लिया है। उन्हें शराब से मिलने वाले न

तो करोड़ों रुपये के राजस्व की चिन्ता है और न इस कारण प्रधानमन्त्री के पद से मुक्त किये जाने की। मोरारजी भाई चार वर्ष में पूर्ण नशाबन्दी का स्वप्न संजोए हुए हैं।

विदेशों में फ्रांस, जर्मनी, स्विटजरलैण्ड, कैनेडा एवं संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों में भी शराबबन्दी के प्रयत्न निरन्तर किये जाते रहे हैं, लेकिन कहीं भी वांछित सफलता नहीं मिली।

सरकारों के अतिरिक्त संसार के सभी प्रसिद्ध धर्मों—हिन्दू, ईसाई, इस्लाम, बौद्ध एवं जैन आदि–ने शराबादि के पान को पाप बताया है। अनेक समाज सुधारक इसकी निंदा करते रहे हैं।

५. शराबबन्दी कैसे सफल हो

वर्तमान जनता सरकार चार वर्षों में पूर्ण शराबबन्दी करना चाहती है। यद्यपि यह एक दुष्कर कार्य है किन्तु असम्भव नहीं। विभिन्न वर्ग के शराबी विभिन्न कारणों से शराब पीते हैं। सरकार को इन वर्गों और शराब पीने के इनके कारणों से अवगत होना होगा और इन कारणों को दूर करने के लिए उपाय खोजने होंगे। सामान्यतः भारतीय शराबियों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है।

शराबियों का एक वर्ग ऐसा है, शराब पीना जिसके लिये अनिवार्य बन गया है। शराब पिये बिना जो जी नहीं सकता।

दूसरा वर्ग वह है, जो किसी विशेष पर्व, उत्सव अथवा आयोजन के अवसर पर अपने परम्परागत रीति-रिवाजों के अनुसार अवश्य पीता है। उदाहरण के लिए, कुछ जातियों में होली के अवसर पर प्रायः शराब पी जाती है। कुछ लोग विवाहादि संस्कारों के अवसर पर शराब पीते हैं। अनेक आदिवासी कबीलों में खुशी के विभिन्न मौकों पर शराब अवश्य पी जाती है।

शराबियों का तीसरा वर्ग वह है, जिसने शराब को आधुनिकता का पर्याय मान लिया है। शराब उसके लिए एक फैशन है, एक विलासिता है। इसमें उन लोगों को भी रखा जा सकता है, जो 'ईट ड्रिंक एण्ड बी मैरी' के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं और अपनी मौज मस्ती में किसी का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते। आज के अधिकांश नये धनिक, बुद्धिजीवी तथा कालेजों और विश्वविद्यालयों के युवक-युवतियाँ इसी वर्ग में आते हैं।

चौथा वर्ग उन देहाती किसानों का हो सकता है, जो ठर्रा और प्रायः घर पर ही बनाई गई शराब पीते हैं।

पाँचवा वर्ग उन मजदूरों का है जो प्रायः बड़े औद्योगिक नगरों में झुग्गी झोंपड़ी बनाकर रहता है। वेतन के दिन एवं प्रायः मास के पहले सप्ताह में इनको मनोरंजन के लिए शराब पीते देखा जा सकता है। इसी वर्ग में विषाक्त शराब पीकर मरने की घटनाएं सबसे अधिक घटती हैं।

इन सबके अतिरिक्त भी कुछ अन्य वर्ग हो सकते हैं। जैसे, एक वर्ग उनका

भी हो सकता है, जो आज शराब नहीं पीता है किन्तु कभी भी पी सकता है। एक वर्ग कलाकारों और साहित्यकारों का हो सकता है, जिसे शराब से ही कला एवं साहित्य-सृजन की प्रेरणा मिलती है।

यदि शराबबंदी नीति को सफल बनाना है तो केवल कानून से काम नहीं चलेगा। इन विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओं और मनोवृत्ति को समझकर सरकार को कुछ व्यापक कार्यक्रम बनाने होंगे। जो पिये बिना जी नहीं सकते हैं, उनकी शराब को एकदम बंद करना यदि संभव भी हो जाय तो भी अनर्थकर सिद्ध हो सकता है। अत उनके लिए कुछ अवधि और दी जाय, जिसमें वे शराब को धीरे-धीरे कम करके उससे मुक्त होने में समर्थ हो सकें। यद्यपि इस वर्ग की पहिचान करा सकना आसान न होगा क्योंकि ऐसे लोगों को डाक्टरी जांच के लिए प्रस्तुत करना होगा और इस देश में ऐसे लोग भी वह डाक्टरी प्रमाण-पत्र प्राप्त कर सकते हैं, जो वस्तुत: इस वर्ग में न आते हों। रीति रिवाजों के अनुसार विशेष अवसरों पर पीने वालों को रेडियो टेलीविजन, समाचार पत्रों तथा अन्य समाज सुधारक समाज सेवी संस्थाओं के द्वारा यह समझाने का प्रयत्न किया जाय कि उनका यह रिवाज मात्र रूढ़ि है। जिससे मुक्त होने में उनका एवं उनकी आने वाली पीढ़ियों का भला होगा। फैशन परस्तों विलासियों, नव धनाढ्यों, बुद्धिजीवियों एवं कालेज के युवक-युवतियों को शराबबंदी का कानून उनकी अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता में अनुचित दखलंदाजी प्रतीत हो सकता है। इनको समझाना बुझाना भी 'दूसरे के विचारों का मात्र आरोपण' हो सकता है। इसलिए इस वर्ग के लिए भली-भांति सोच-विचारकर कोई विशेष कार्यक्रम तैयार किया जाना चाहिए। कानून के द्वारा शराब के ठेकों, दूकानों को बंद किया जा सकता है। किन्तु शहर से काफी दूर के गांवों और जंगलों की उन असंख्य भट्टियों को बंद करने के लिए सरकार को तहसील एवं परगना स्तर पर काफी सतर्कता कर्मचारियों की नियुक्ति करनी होगी और पंचायतों को विश्वास में लेना होगा। शराब बनाने एवं बेचने के व्यवसाय में संलग्न लोगों के लिए किसी वैकल्पिक व्यवसाय की व्यवस्था करनी होगी। मजदूरों के लिए पर्याप्त मनोरंजन का प्रबंध करना होगा। शिक्षा के व्यापक प्रचार द्वारा शराब से होने वाली हानियों से नई पीढ़ी को अवगत कराना होगा। सरकारों को शराब से होने वाले करोड़ों के राजस्व का भी कोई विकल्प खोजना होगा। तब जाकर कहीं आशा की जा सकती है कि शराबबंदी को लोग मन से स्वीकार सकेंगे।

६. उपसंहार :

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि शराब पीना एक सामाजिक अभिशाप है। शराब के पीने वाले चाहे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की बात करें, चाहे करोड़ों के राजस्व की हानि एवं लाखों की बेरोजगारी का हवाला दें अथवा इस नीति को वर्तमान सरकार की कोरी सनक कहें, शराब पीने की वकालत नहीं की जा सकती. किन्तु इतने व्यापक व्यसन को जड़मूल से उखाड़ने के लिए मात्र चार वर्ष की अवधि अपर्याप्त होगी और इस अवधि में केवल कानून के बल पर अथवा थोड़े-बहुत प्रचार के बल पर इसे उखाड़ फैंकना तो व्यावहारिक है ही नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि चार-वर्ष के बजाय शराबियों को अनिश्चित काल तक पीने के लिए मुक्त कर दिया जाय बल्कि केवल इतना कि शराबबंदी की अवधि उसके लिए किए गए ठोस प्रयत्नों के अनुपात में ही निर्धारित करें। अभी फिलहाल शराब को कम करने का तो निर्णय लिया ही जा सकता है।

३ विद्यार्थी और राजनीति

१. किस्म-किस्म की राजनीति

विश्वविद्यालय की 'विचार मनीषा' संस्था ने 'जनता सरकार अपने चुनाव-वादों को पूरा करने में पूर्णतः सफल रही है।' विषय पर एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें विद्यार्थियों ने पक्ष और विपक्ष में धुआंधार किन्तु तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किए। प्रांगण में उस विद्यार्थी वक्ता की बड़ी चर्चा रही जिसने जनता सरकार की धज्जियाँ उड़ाते हुए उसे भी देश के अन्य सामान्य राजनीतिक दलों की भाँति ही सत्ता की भूखी सिद्धान्तहीन सिद्ध किया। यों अनेक वक्ताओं ने जनता सरकार की सफलताओं पर भी प्रकाश डाला, पर उनके वक्तव्यों में वैसा पुष्ट तर्क कहाँ था ?

छात्र-संघ के चुनाव के दिन। जीप, कार, ट्रेक्टर, रिक्शा एवं ताँगों पर परिसर तथा नगर की गलियों एवं बाजारों में चिल्लाते लाउड स्पीकर। रंग-बिरंगे इश्तहारों से पटा विश्वविद्यालय का परिसर। कहीं छात्र-नेताओं के भाषण सुनती भीड़ तो कहीं भंगड़ा करती हुई छात्रों की टोली। अपने अपने प्रिय छात्र नेताओं को जिताने की होड़। अरे साहब, छात्र संघ के अध्यक्ष एवं महासचिव आदि का चुनाव क्या कोई मामूली चुनाव है ? एम० पी० और एम० एल० ए० के चुनाव-दृश्य भी इन दृश्यों के सम्मुख फीके पड़ जायें।

'छात्र एकता जिन्दाबाद', 'हमारी माँगे पूरी करो', तानाशाही नहीं चलेगी' आदि नारों से गूंजता हुआ आकाश। उपकुलपति को हटाओ, प्रवेश के इच्छुक सभी विद्यार्थियों को प्रवेश दो. परीक्षा की तिथि बढ़ाओ, अमुक विद्यार्थी के निष्कासन आदेश को वापिस लो, आदि माँगों की लम्बी सूची और तोड़ फोड़ का अनियंत्रित सिलसिला। धमकी, मारपीट और भूख हड़ताल।

उक्त तीनों ही स्थितियों में विद्यार्थी का राजनीति से सबन्ध दिखलाई पड़ताहै। पहली स्थिति में वह विचार के स्तर पर है तो तीसरी स्थिति में व्यवहार के स्तर पर दूसरी स्थिति कहीं शुद्ध प्रशिक्षण के स्तर पर राजनीति से जुड़ती दिखलाई पड़ती है तो कभी सक्रिय राजनीति के स्तर पर। इनके अलावा सक्रिय राजनीति की एक और भी स्थिति है. जहाँ विद्यार्थी का विश्वविद्यालय अथवा महाविद्यालय प्रशासन से संघर्ष न होकर सीधा सरकार से होता है और उनके आन्दोलन एवं हड़तालें परिसर के बाहर सड़कों और प्रशासनिक कार्यालयों के सामने होते दिखाई पड़ते हैं। स्पष्ट है कि राजनीतिक चेतना के उद्‌बुद्ध होने अथवा विचार के स्तर पर राजनीति की अच्छाई बुराई के विश्लेषण को किसी

भी प्रकार विद्यार्थियों के लिए अहितकर नहीं ठहराया जा सकता। राजनेता बनने का प्रशिक्षण भी शिक्षण के क्षेत्र की ही वस्तु है, यदि उसके पीछे शुद्ध प्रशिक्षण ही है तो, क्योंकि आज का विद्यार्थी ही कल का नागरिक होगा किन्तु सवाल है उस व्यवहार के स्तर की राजनीति का, जिसने इन विद्या-मन्दिरों की पवित्रता एवं उनके मूल लक्ष्यों को ही भ्रष्ट कर दिया है और शिक्षण संस्थाएँ पेशेवर राजनीतिज्ञों और राजनीतिक दलों की चेरी और पोषिका बनकर रह गई हैं। क्या इस प्रकार की राजनीति विद्यार्थी के हित में हो सकती है? शिक्षण, संस्थाओं अभिभावकों और अंततः देश के हित में हो सकती है?

२ कहाँ है उद्गम इस राजनीति का?

(अ) युवा शक्ति विषयक धारणाएँ—इन प्रश्नों का हल खोजने से पहले जरा रुककर यहाँ यह विचार करना भी समीचीन होगा कि इस सक्रिय राजनीति का प्रवेश विद्या-मन्दिरों में कैसे होता है? विद्यार्थियों को राजनीति का औजार बनाने के पीछे कौन-सी धाराणाएं कार्य करती हैं और उन धारणाओं को व्यावहारिक रूप कैसे दिया जाता है? पेशेवर राजनीतिज्ञ युवकों की इन कतिपय विशेषताओं को भली प्रकार समझते हैं। युवकों की पहली विशेषता होती है कि इनमें अपरिमित शक्ति निहित है। दूसरी, उनमें आदर्श के लिए मर मिटने की साध होती है। तीसरी, पेशेवर राजनीतिज्ञों के असली स्वार्थ को पहचानने और उसका सूक्ष्म विश्लेषण कर सकने की गहरी सूझ का अभाव होता है। अतः किसी एक को अपना नेता स्वीकार कर लेने पर उसके प्रति उनकी निष्ठा भक्ति की सीमा तक पहुँच जाती है और चौथी राजनेता इस भय से मुक्त रहते हैं कि अल्पवय और विद्याध्ययन के क्षेत्र में रहते हुए विद्यार्थी उनके सम्मुख नेतृत्व की प्रतिस्पर्धा में शामिल हो सकेगा। युवकों की अनेक विचारक इस युवा-शक्ति का सहारा लिये बिना किसी भी प्रकार की क्रान्ति को संभव नहीं मानते। अतः सत्ता की राजनीति के मंजे हुए खिलाड़ी विद्यार्थियों को मोहरा बनाने के लिए लालायित रहते हैं।

(आ) पदाधिकारियों के चयन की विधि—स्वतंत्र भारत में पिछले तीस वर्षों से सत्तारूढ़ एवं विपक्षी दोनों ही प्रकार के दलों ने विद्यार्थियों के माध्यम से अपने संकीर्ण दल-गत स्वार्थों को पूरा करने का प्रयत्न किया है। दलगत राजनीति के प्रवेश की यह समस्या प्रायः विश्वविद्यालय स्तर पर ही अपना प्रचण्ड रूप धारण करती हैं। अतः अंग्रेजों के जमाने से ही विवश्विद्यालयों की स्वायत्तता की पूर्णतः वकालत करते हुए भी उन पर किसी न किसी प्रकार का सरकारी नियंत्रण रखने की कुचेष्टा निरंतर की जाती रही है। उदाहरण के लिए, किसी भी विश्वविद्यालय का सर्वोच्च अधिकारी कुलपति (चांसलर) होता है। विश्वबिद्यालय अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि केन्द्रीय विश्वविद्यालयों का कुलपति प्रधानमन्त्री एवं राज्यीय विश्व-विद्यालयों का राज्यपाल होगा। विश्वविद्यालय के उपकुलपति के चयन में कुलपति का हाथ रहता है और इस कुलपति (राज्यपाल) की नियुक्ति राष्ट्रपति केन्द्रीय

सरकार के सुझाव पर करता है। वह या तो सत्तारूढ़ पार्टी का सदस्य होता है अथवा सदस्य जैसा ही होता है। ऐसी हालत में सत्तारूढ़ दल का प्रभाव स्वतः विश्वविद्यालयों में फैलता जाता है। यानी, उपकुलपति के चयन में एक प्रकार से सरकार का नियन्त्रण बना रहता है। फलस्वरूप, उपकुलपति तथा कालेजों के प्राचार्य आदि सत्तारूढ़ दल के नेताओं तथा प्रभावशाली कार्यकर्त्ताओं के साथ तालमेल बिठाने में ही जुटे रहते हैं। शिक्षक और छात्रनेता भी यही रास्ता चुनते हैं। चुनावों के समय सत्तारूढ़ दल को इसका लाभ मिलता है। तब विपक्षी दल भी हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठ रहना चाहते और वे भी विश्वविद्यालयों के शिक्षकों तथा छात्र-नेताओं में घुसपैठ करने का प्रयत्न करते हैं। छात्र-संघ के चुनावों के अवसर पर यह स्थिति काफी स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि प्रत्याशी छात्र विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा समर्थित होते हैं। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालय के पदाधिकारियों की यह चयन-विधि राजनीतिक अधिक है, शैक्षिक कम। इसे ही विद्यार्थी जगत की राजनीति का उद्गम समझा जाना चाहिये।

(इ) **राजनीतिक भविष्य निर्माण की हविस**—विभिन्न राजनीतिक दल तो अपने सीमित दलीय स्वार्थों की पूर्ति के लिये विश्वविद्यालय में सक्रिय रहते ही हैं, अब छात्र-नेताओं का एक ऐसा वर्ग भी तैयार हो रहा है जो कालेजों अथवा विश्व-विद्यालयों का उपयोग अपने राजनीतिक भविष्य के निर्माण के लिये करना चाहता है। यह वर्ग विद्याध्ययन से कोई सरोकार नहीं रखता, केवल अपनी नेतागिरी की क्षमता से आश्वस्त हो जाना चाहता है। ये नेता प्रवेश के समय से ही विश्वविद्यालय अथवा कालेज परिसर में सक्रिय हो जाते हैं। किसी को प्रवेश नहीं मिल रहा हो, किसी का शुल्क जमा नहीं हो पा रहा हो, किसी को वांछित विषय के अध्ययन की सुविधा न मिल रही हो अथवा किसी का सेक्शन परिवर्तित न हो पा रहा हो, अपनी सेवायें माँगे बिन माँगे प्रस्तुत कर ही देते हैं। परीक्षाओं के अवसर पर विद्यार्थियों को नकल कराने में सहायता करने से लेकर उनके अंक बढ़वाने तक का दुस्साहस कर सकने को उत्सुक देखे जाते हैं और उस सबका लाभ छात्र-संघ के चुनाव में अथवा बाद में देश के आम चुनावों के अवसर पर उठाना चाहते हैं। प्रभावशाली होने पर किसी न किसी राजनीतिक दल की गोद इन्हें स्वतः प्राप्त हो जाती है। ये छात्र नेता अपने पृष्ठ पोषकों के उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक सभी प्रकार के कार्य कराते हैं, जिसके लिये अनेक बार इन्हें गुण्डागर्दी का भी सहारा लेना पड़ता है, अनु-शासन के तमाम नियमों को ताक पर रखना पड़ता है और विद्यार्थीजनोचित विनय-शीलता का परित्याग करना होता है। इस प्रकार राजनीतिक भविष्य निर्माण की इनकी हविस अनेक प्रकार की उच्छृंखलताओं को जन्म देती चली जाती है।

मोटे तौर पर उक्त धारणायें, पदाधिकारियों की चयन विधि एवं स्वयं विद्यार्थियों की राजनीतिक लिप्सा आदि विद्यार्थियों को राजनीति के क्षेत्र में ला घसीटती है।

३. देश-विदेश की राजनीति और विद्यार्थी :

भारतीय राजनीति में यों तो लार्ड कर्जन के जमाने से ही विद्यार्थियों का उपयोग किया जाने लगा था किन्तु गाँधी जी द्वारा प्रवर्तित स्वतन्त्रता-आन्दोलनों में विद्यार्थियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। १९२१ में जहाँ उन्होंने कालजों और विश्वविद्यालयों का बहिष्कार किया, वहीं १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की तो प्रमुख शक्ति ही छात्र रहे। स्वतन्त्र भारत में दलीय स्वार्थों की पूर्ति के लिये विद्यार्थियों को राजनीति में घसीटा जाने लगा। हिन्दी के विरोध और समर्थन में दक्षिण तथा उत्तर भारत में जोरदार छात्र आन्दोलन हुए। १९७४ में गुजरात आन्दोलन की यादें तो अभी ताजा ही हैं। आपात काल की घोषणा से पूर्व बाबू जयप्रकाश नारायण के आह्वान पर बिहार राज्य में विद्यार्थियों को संगठित कर जिस युवा-वाहिनी का निर्माण किया गया, उसकी प्रचंड शक्ति एवं आन्दोलनों से तो हम सब परिचित हैं ही। इतना ही नहीं, अब तो कुछ राजनैतिक दल स्पष्टतः यह घोषित करने लगे हैं कि वे अब कालेजों और विश्वविद्यालयों में अपने प्रभाव की स्थापना के लिये योजना बना रहे हैं। विदेशों की अनेक क्रान्तियों में विद्यार्थियों का योग रहा है। जनरल द गाल के काल में फ्रांस में छात्र-आन्दोलनों ने जो भयंकर रूप धारण किया, क्या उसे भुलाया जा सकता है? १९६७-६८ में इंडोनेशिया में राष्ट्रपति सुकर्ण का तख्ता पलटने वाले छात्र ही थे। बंगला देश के निर्माण में भी छात्रों की युवा-वाहिनी ने महत्वपूर्ण योगदान किया। भुट्टो सरकार के विरुद्ध पाकिस्तानी विद्यार्थियों ने भी जोरदार अभियान चलाया। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि देश-विदेश में समय-समय पर विद्यार्थियों को सक्रिय राजनीति का अंग बनाया जाता रहा है और उन्होंने कभी परतन्त्रता के बंधन काटने में, कभी अत्याचारी एवं भ्रष्ट शासन को उखाड़ फेंकने में और कभी तानाशाही की जड़ें हिलाने में भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

४. राजनीति धर्म नहीं आपात धर्म :

इतना होने पर भी राजनीति को विद्यार्थी का धर्म तो नहीं स्वीकार किया जा सकता। विद्यार्थी का मुख्य लक्ष्य तो विद्या का अर्जन करना ही है। यही समय होता है जब व्यक्ति अपने भावी जीवन को सुखी बनाने की तैयारी करता है। भविष्य में बनने वाले जीवन के महल की नींव रखता है। यदि यह नींव ही कमजोर रह गई तो महल के भरभरा कर नीचे गिरने का खतरा सदैव बना रहेगा। यदि विद्यार्थी इस काल में राजनैतिक पैंतरेबाजी में ही संलग्न रहता है तो उसके जीवन-महल की नींव निश्चय ही कमजोर रह जायेगी। अतः इस काल में उसे अपनी सम्पूर्ण क्षमता को विद्याध्ययन में ही केन्द्रीत कर सकना चाहिये। एक अन्य कारण से भी विद्यार्थी का राजनीति में सक्रिय होना अहितकर सिद्ध होता है। वस्तुतः विद्यार्थी का जीवनानुभव अत्यन्त अल्प होता है। वह राष्ट्र की परिस्थितियों का सूक्ष्म एवं गहन विश्लेषण नहीं कर पाता। अतः विवेक की कचाई के कारण उसे दूसरे के हाथों खेलने के लिये विवश होना पड़ता है और यह स्थिति निश्चय ही उसके लिये हितकर नहीं होगी।

फिर आज की राजनीति भी तो षड्यन्त्रों, प्रपंचों और गुण्डागर्दी की राजनीति है। सिद्धान्त हीनता ही आज उसका प्रमुख लक्षण बन गया है। ऐसी स्थिति में राजनीति में पड़कर विद्यार्थी सिर्फ अपनी शक्ति और भावना का शोषण ही करायेगा, इसके अलावा और कुछ नहीं। कुछ लोगों का तर्क है कि आज का विद्यार्थी ही कल का नागरिक बनेगा। उसके कन्धों पर ही कल देश के नेतृत्व का भार आयेगा। अतः इस नेतृत्व का प्रशिक्षण उसे विद्यार्थी जीवन में ही मिलना चाहिये जिससे उसमें नेतृत्व के अच्छे गुणों का विकास हो सके। एक तर्क और भी। देश के सुख दुःख से, गति-प्रगति से भला उस युवा-शक्ति को कैसे विमुख रखा जा सकता है, जो किसी भी देश की प्राण होती है ? क्रान्ति के लिये तो सर्वदा उसका ही सहारा लिया जाता है। जहाँ तक विद्यार्थी में नेतृत्व के गुणों के विकास की बात है, उसके लिये विद्यार्थी का आज की दलगत राजनीति की दूषित पैंतरेबाजी में लिप्त होना कतई आवश्यक नहीं है। इसके विकास के लिये शिक्षा-शास्त्री अनेक प्रकार के कार्यक्रमों का निर्माण कर सकते हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक रचनात्मक भी होंगे। जहाँ तक युवा-शक्ति का देश की स्थिति से अलग-थलग पड़ने का सवाल है, वहाँ हमें केवल यह कहना है कि वैचारिक स्तर पर तो यह युवा-शक्ति हर स्थिति में देश के साथ जुडी ही रहती है, उसे जुडा रहना भी चाहिये किन्तु व्यावहारिक स्तर पर वह तभी जुड़े, जब देश की स्थिति असामान्य हो, अ-साधारण हो। सामान्य स्थिति में इन विद्या मन्दिरों से राजनीतिक आधार को, हस्तक्षेप को, दलगत प्रपंचों को दूर ही रखना श्रेयस्कर होगा।

५. निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जहाँ तक सम्भव हो सके, हमें विद्यार्थियों को राजनीति में नहीं घसीटना चाहिये। उसे दलगत राजनीति से दूर रखना चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया गया तो विद्यार्थी में हर प्रकार की व्यवस्था के प्रति-तिरस्कार की भावना निरन्तर बढ़ती जायेगी, जिसके दुष्परिणाम का अंदाजा भी नहीं लगाया जा सकता। दूसरे, विद्यार्थी निरन्तर बहिर्मुखी होता जायेगा। अपने ध्यान को भीतर की ओर केन्द्रित कर विद्या प्राप्ति के लिये आवश्यक एक निष्ठ साधना खो बैठेगा। ये दोनों ही दुष्परिणाम आज दिखलाई पड़ने लगे हैं। विश्वविद्यालयों में आज जो अशांति और अनुशासहीनता दिखलाई पड़ रही है, उसका भी बहुत कुछ कारण विश्वविद्यालयों में दलगत राजनीति का प्रवेश ही है। वस्तुतः विद्या-मन्दिरों में श्रमसंघीय प्रवृत्ति और गतिविधि को पनपने से तुरन्त रोका जाना चाहिये। इसके लिये हमें उच्चतर स्तर पर चलने वाली राजनीति को समाप्त करना पड़ेगा। राज्य-पाल का राज्य विश्वविद्यालयों का और प्रधानमन्त्री का किसी केन्द्रीय विश्वविद्यालय का कुलपति होना, शिक्षा के क्षेत्र में राजनीतिक दखलंदाजी को ही बढ़ावा देना है। उपकुलपति की नियुक्ति राजनीतिक खींचतान से प्रभावित नहीं होनी चाहिये। किसी शिक्षा-शास्त्री को ही उसकी योग्यता, प्रतिभा और अनुभव के आधार पर, इस पद पर नियुक्त किया जाना चाहिये। देश के राजनीतिक दलों को भी अपने संकीर्ण दलगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये विद्यार्थियों को राजनीति में घसीटने से बाज आना चाहिये।

४ 'सम्पूर्ण क्रान्ति'

१. नारे का जन्म और उसकी प्रेरणा

५ जून, ७४ को बिहार-आन्दोलन के समय पटना के गाँधी मैदान में पहली बार जननायक बाबू जयप्रकाश ने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का नारा दिया। १३ अप्रैल, ७७ की संध्या को आकाशवाणी और दूरदर्शन से राष्ट्र के नाम प्रसारित अपने सन्देश में इस नारे को पुनः दोहराया और स्वस्थ होने के बाद आजीवन इसकी पूर्ति में जुटे रहने का संकल्प प्रकट किया। इसकी प्रेरणा उन्हें १९७३ के उन आखिरी महीनों में मिली, जब वे पावनार आश्रम में थे। उन्हीं के अनुसार—"भीतर से प्रेरणा हुई कि युवकों का आह्वान करना चाहिये। 'लोकतन्त्र के लिए युवा' शीर्षक से अपील लिख कर मैंने उसे समाचार-पत्रों में प्रकाशन के लिए भेजा। इस आह्वान का प्रत्युत्तर मेरी अपेक्षा से भी ज्यादा मिला। × × × गुजरात आन्दोलन ने भी मुझे रास्ता दिखाया और जब बिहार में लड़कों ने आन्दोलन छेड़ा और मैं उसमें आ गया तो अपने चिन्तन को प्रायोगिक रूप देने का आधार पाकर 'सम्पूर्ण क्रान्ति' को इस आन्दोलन का लक्ष्य घोषित किया।" (धर्मयुग, ५ जून' ७७)

बाबू जयप्रकाश नारायण इस देश की विभूतियों में रहे हैं, जिन्हें सत्ता और पद का मोह नहीं रहा है और जिन्होंने 'सर्वोदय' के सिद्धान्त को आधार बनाकर देश का ही नहीं, सम्पूर्ण मानवता का हित-चिंतन किया है। ऐसे निस्पृह व्यक्ति के चिन्तन को केवल 'अव्यावहारिक आदमी का सपना' कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। इसमें कदाचिद् दो मत हों कि भारत जैसे गरीब, सदियों से पराधीनता भोगी और विश्व-सभ्यता की दौड़ में अपेक्षाकृत पिजड़े देश में, 'सम्पूर्ण क्रान्ति' की बात करना चाहे जितना आसान हो, उसे व्यवहार में घटित करना लोहे के चने चबाना है, किन्तु ऐसा सोचकर अकर्मण्य हो जाने का अर्थ देश की तमाम सम्भावित प्रगति को अवरुद्ध करना भी हो सकता है। कठिनाइयों एवं संघर्षों से निरन्तर जूझने वाली दुर्दम्य मानवी शक्ति के सम्मुख प्रश्न-वाचक चिन्ह लगाना भी हो सकता है। उक्त नारे को महद् लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि किसी महद् लक्ष्य के अभाव में किसी भी देश और जाति का दिग्भ्रमित हो जाने का खतरा बना रहता है। जब सामने कोई स्पष्ट लक्ष्य ही नहीं हो, तब उसकी प्राप्ति की बात करना बेमानी होगा।

२. नारे निरर्थक कब होते हैं

नारों में मन्त्र की शक्ति होती है, बशर्ते वे किसी निस्पृह एवं समर्पित

व्यक्तित्व की देन हों, उन्हें जनबल प्राप्त हों, वे केवल सस्ती लोक प्रियता प्राप्त करने की इच्छा अथवा राजनीतिक चाल की उपज न हों और उसके प्रवक्ता तथा अनुयायियों को वस्तु-स्थिति का भी यथार्थ बोध हो। यह वस्तु स्थिति का बोध बड़े मार्के की चीज है। हम क्या होना चाहते हैं, इसके लिये यह जानकारी भी नितान्त आवश्यक है कि हम क्या हैं, कहाँ हैं और कैसे हैं। आकाश तक उड़ान भरने के लिए पैरों को धरती का आधार अपेक्षित होता है—'आँख में हो स्वप्न, लेकिन पाँव धरती पर खड़े हों'—(बच्चन)। अन्यथा, त्रिशंकु बन जाने का खतरा सदैव बना रहता है और 'न खुदा ही मिला, न विसाले सनम' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भारत एक विशाल देश है, जिसकी ७२ प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है और इसका अधिकांश गरीबी की सीमा-रेखा के नीचे जीवन बिताता है। अतिशय गरीबी नैतिकता को निगल जाती है। व्यक्ति के आचार भ्रष्ट होने का खतरा बना रहता है। व्यक्ति में उच्च मानवी-मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का न साहस होता है और न शक्ति ही। भूख उसकी शिराओं के रक्त को बर्फ बना देती है और 'भूखे भजन न होइ गुपाला' की उक्ति को दोहराने की आवश्यकता नहीं। यही भारत का यथार्थ है। सदियों से पराधीनता का बोझा ढोते-ढोते यहाँ के व्यक्ति की कमर टूट गई है। गरीबी जीते-जीते उच्च मानवीय मूल्यों के प्रति उसकी ललक कहीं खो गई-सी लगती है। यह तस्वीर का एक पहलू है। दूसरा पहलू यह भी है कि इस देश की संस्कृति को अनेक संघर्षों और जटिलताओं से होकर गुजरना पड़ा है। इसने हर बार कुछ खोकर बहुत कुछ पाया है और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीवनशक्ति को हाथ से नहीं जाने दिया। तभी तो हमारा अस्तित्व अभी तक कायम है। बाबू जयप्रकाश देश के इस यथार्थ से परिचित न हों, ऐसा मानने का कोई कारण नजर नहीं आता। वस्तु-स्थिति का भली-भाँति अध्ययन करने के बाद ही उन्होंने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का नारा दिया है। अब तो इस नारे को जन-बल भी प्राप्त होने लगा है और इस प्रकार प्रस्तुत नारा निरर्थक, ठाले बैठे का कथन अथवा कल्पना-मात्र नहीं रह गया है। उससे कुछ अधिक हो गया है।

३. सम्पूर्ण क्रान्ति का अर्थ एवं मार्ग

इस सम्पूर्ण क्रान्ति का अर्थ क्या होगा, इसे स्पष्ट करते हुए जे० पी० कहते हैं—"सम्पूर्ण क्रान्ति का अर्थ हुआ सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग और संगठन के ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन। क्रान्ति चूंकि शान्तिमय होगी, इसलिये वह अचानक और तूफान की तरह नहीं होगी। इसमें वक्त लगेगा। सामाजिक ढाँचे में बुनियादी परिवर्तन पहले होगा, बाद में व्यक्ति का, समुदाय का मानसिक परिवर्तन होगा। राजनीतिक ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन सम्पूर्ण क्रान्ति का अविभाज्य अंग है, इसलिए संघर्ष का वह भी एक अंग है।"

स्पष्ट है कि जे० पी० व्यक्ति, समुदाय, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में बुनि-

यादी परिवर्तन चाहते हैं। समय-समय पर इसके लिये उन्होंने जो मार्ग सुझाए हैं, उनमें से कुछ की ओर यहाँ संकेत किया जा रहा है—

भ्रष्टाचार का उन्मूलन : लोकपाल की नियुक्ति—सरकार और राजनीति से भ्रष्टाचार को समाप्त करना, सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए वे पहली आवश्यकता समझते हैं। देश में व्याप्त भ्रष्टाचार ने ही सम्भवतः उनके मन में 'सम्पूर्ण क्रान्ति' की कल्पना उत्पन्न की थी। यही कारण है कि जब भी उन्हें अवसर मिला, उन्होंने भ्रष्टाचार के उन्मूलन पर विशेष जोर दिया है। मार्च, ७७ के लोकसभा चुनावों में जनता पार्टी को बहुमत मिलते ही २१ मार्च को पटना के एक संवाददाता सम्मेलन में अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए कहा था—"पिछले दिनों में उथल-पुथल की जो स्थिति रही है, वहाँ सरकार और राजनीति में भ्रष्टाचार की स्थिति रही है। आम लोगों की अब जनता पार्टी से सबसे ज्यादा अपेक्षा यही होगी कि वह एक ईमानदार और अच्छी सरकार उन्हें दे सके।" इसी प्रकार १३ अप्रैल की संध्या को आकाशवाणी और दूरदर्शन से राष्ट्र के नाम एक सन्देश प्रसारित करते हुए उन्होंने कहा—"सत्तारूढ़ नेताओं को गुजरात में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन को ध्यान में रखना चाहिये। वे राजनैतिक और सरकारी क्षेत्रों से भ्रष्टाचार खत्म करने के लिए ठोस और कारगर कदम उठायें।" ये ठोस और कारगर कदम क्या होंगे, जयप्रकाश जी ने इस पर भी विचार किया है। उन्होंने केन्द्र सरकार को सुझाव दिया है कि जनता पार्टी केन्द्र में और राज्यों में भी एक ऐसा स्वतन्त्र और प्रभावशाली निकाय स्थापित करे, जिसका नाम लोकपाल हो। इसमें पाँच से अधिक सदस्य न हों और यह अपनी ओर से कोई जाँच पड़ताल कर सके या किसी नागरिक, सरकारी या गैर-सरकारी निकाय की शिकायत के आधार पर छानबीन कर सके। इस सुझाव के अनुसार, जनता का चुना हुआ कोई प्रतिनिधि अपने कार्यकाल की अवधि पूरी होने तक अपने पद पर बना ही रहे, यह आवश्यक नहीं होना चाहिये। जनता को उसे वापिस बुलाने का अधिकार भी होना चाहिये। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए जे० पी० ने बताया कि इस वापिस बुलाने के अधिकार का मतलब यह नहीं है कि थोड़े से असन्तुष्ट लोगों को यह हक होगा कि वे जब चाहें तब निर्वाचित प्रतिनिधि या सरकार को सत्ता त्यागने के लिये मजबूर कर दें, लेकिन इसका मतलब यह जरूर है कि जब कभी जनता का बहुमत यह विश्वास करने लगे कि निर्वाचित प्रतिनिधि या सरकार अक्षमता, भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद की शिकार हो गयी है, तब वे उससे इस्तीफे की माँग कर सकें। जनता की आवाज का आदर किया जाना चाहिये। उन्होंने इस सम्भावना को भी स्वीकार किया है कि जनता के वापिस बुलाने पर सत्तारूढ़ दल या निर्वाचित प्रतिनिधि भी अपने समर्थकों को एकत्रित करने का प्रयत्न करेंगे किन्तु अगर उनके विरुद्ध उठी जनता की आवाज में सच्चाई है तो प्रजातन्त्र की नैतिकता और व्यवहार के अनुरूप यह आवश्यक हो जायेगा कि बहु-संख्यक लोगों की बात मानी जाय। यह सुझाव विचारणीय है, जिसकी मंशा

निर्वाचित सदस्यों पर अंकुश रखना है। केवल सोचना यह है कि सत्तारूढ़ दल द्वारा नियुक्त यह निकाय सरकार के विरुद्ध जाकर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रख सके। दूसरे, यह निकाय भ्रष्ट न हो सकेगा, प्रभावशाली तत्त्वों के अनुचित दबावों से प्रभावित नहीं होगा, इसकी क्या गारन्टी होगी ? कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि निकाय और सरकार अथवा निर्वाचित प्रतिनिधि परस्पर प्रतिस्पर्धी बनकर रह जायें, अथवा निर्वाचित प्रतिनिधि अपने क्षेत्र के कुछ चुनिदा नेता सरीखे लोगों के हाथ की कठपुतली बन जायें और उनका काम इन्हें ही खुश रखना हो जाये। यदि इन शंकाओं का उचित समाधान खोजते हुए 'लोकपाल' की नियुक्ति का कोई ढंग खोजा जा सके तो राजनीतिक एवं सरकारी भ्रष्टाचार को किसी सीमा तक दूर किया जा सकेगा। प्रख्यात हिन्दी-लेखक एवं गांधीवादी विचारक जैनेन्द्र ने इस सुझाव को 'राजनीति के इतिहास में एक दम नया' बतलाते हुए लिखा है—'श्री जय प्रकाश नारायण ने जो प्रस्ताव रखा है, ऐतिहासिक महत्व का है। केन्द्र में और सारे राज्यों में लोकपाल-समिति यदि बनती है तो यह राजशक्ति के समक्ष राज्य स्वीकृत उस शक्ति संस्थान के प्रयोग का आरम्भ होगा, जो मूलतः राज्य के अधीन तो होगी ही नहीं, प्रत्युत उसके समीक्षण और निरीक्षण का काम करेगी। यह प्रयोग लोकतन्त्र के लिए ही नहीं, पूरी राजनीति के इतिहास में एकदम नया होगा। यदि भारत में यह प्रयोग सफल हो जाता है तो एक बार ही विश्व में अग्रणी मार्गदर्शक की स्थिति पा जायेगा।"

जातिवाद का विरोध :

जातिवाद भारत का काफी पुराना रोग है और इस देश की नियति से वह नासूर बनकर चिपक गया है। हमें उत्तराधिकार में बहुत से अंध-विश्वास, गलत मूल्य और अन्यायपूर्ण मानवीय और सामाजिक बन्धन मिले हैं। जातिवाद इसका एक उदाहरण है। भगवान बुद्ध के समय से और हो सकता है, उससे भी पहले से इस बात की कोशिश की गई है कि ऊँच-नीच पर आधारित जाति-प्रथा को समाप्त किया जाय। लेकिन अभी तक यह प्रथा पूरे देश में फैली हुई है। श्री जय प्रकाश जी के अनुसार—"अब समय आ गया है कि हम हिन्दू समाज के इस कलंक को मिटा दें और भाई चारे और समानता को अपना आदर्श बनाकर उसे अपने पूरे जीवन में उतारें।"

यह सही है कि सरकार और समाज दोनों ने इस कलंक को मिटाने के लिये सिर्फ लफ्फाजी के अलावा अभी तक कुछ ठोस कार्य नहीं किया है। अभी भी अनेक सरकारी नौकरियों के आवेदन-पत्रों में, स्कूलों के प्रवेश पत्रों एवं अन्य अनेक स्थलों पर जाति का कॉलम बना हुआ है। लोग अपने नाम के आगे जाति, वंश अथवा गोत्रवाचक शब्द जोड़कर गर्व का अनुभव करते हैं। समय-समय पर होने वाले साम्प्र-दायिक झगड़ों की तह में यही जाति का विष होता है। चुनाव के मौके पर यह जातिवाद जो रंग दिखलाता है, उससे हम सब भली-भांति अवगत हैं। अभी भी कुछ बेहद स्वार्थी लोग जाति-विशेष के हित-चिंतक का मुखौटा धारण कर, जाति के लोगों

के विभिन्न संगठन खड़े करते देखे जाते हैं, जिनका उपयोग जाति के हित के लिए कम, अपनी व्यक्तिगत लिप्सा की पूर्ति के लिए अधिक किया जाता है। समाज में प्रचलित दहेज प्रथा, मृत्य भोज की प्रथा एवं धार्मिक संकीर्णता आदि अनेक परम्पराएँ सब इन्हीं अंध-विश्वासों, गलत मूल्यों एवं अन्यायपूर्ण मानवी-शोषण की प्रवृत्ति की उपज है। इन सबके बिना सम्पूर्ण क्रान्ति का क्या अर्थ हो सकता है ?

शैक्षिक सुधार :

सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए शिक्षा-प्रणाली में भी आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता पर लोकनायक ने बार-बार बल दिया है। अपने जन-सन्देश में उन्होंने कहा —"अब समय आ गया है कि कोठारी कमीशन तथा दूसरे सारे शिक्षा कमीशनों के आमूल परिवर्तन के सुझाव लागू किये जायें।" साक्षरता अभियान को बल देने केलिए उन्होंने चीन के अनुकरण की बात कहीं है, जहाँ सभी स्कूल और कालेज बन्द कर दिये गये थे और छात्रों को गरीबों की झोंपड़ियों में भेजा गया, जिससे वे जवान, बूढ़े हर नागरिक को बुनियादी शिक्षा दे सकें। शिक्षा किसी भी देश की उन्नति की धुरी होती है। पिछली इन्दिरा सरकार ने शिक्षा में गुणात्मक एवं परिमाणात्मक सुधार लाने के कुछ प्रयत्न किए थे। १० + २ + ३ शिक्षा-प्रणाली उन्हीं प्रयत्नों का परिणाम थी, जिसमें शिक्षा को व्यवसायपरक बनाने का प्रयत्न किया गया है, जिसे सिद्धान्त रूप में सभी राज्यों ने स्वीकार कर लिया। कुछ ने व्यवहार में भी उसको अपनाया है और कुछ उसे अपनाने की तैयारी में हैं। इस क्षेत्र में कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयां हैं, जैसे इसके लिए आपेक्षित व्यवसाय-संस्थानों की स्थापना अभी नहीं हो पाई है। विज्ञान विषय को दसवीं कक्षा तक अनिवार्य कर दिया गया है, किन्तु वांछित प्रयोगशालाएँ निर्मित करने का कार्य अभी भी अधर में ही लटका हुआ है। दूसरे यह शिक्षा-प्रणाली कुछ विचारकों की दृष्टि में बच्चे पर अतिरिक्त बोझा डालती है। आवश्यकता है इसकी कमियों को दूर कर इसे व्यावहारिक रूप देने की। जयप्रकाश बाबू कोठारी कमीशन की समस्त सिफारिशों को लागू करना सम्पूर्ण क्रांति के लिये आवश्यक समझते हैं।

प्रशासनिक एव चुनाव सम्बन्धी सुधार :

जयप्रकाश जी सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए प्रशासन में भी आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। वे प्रशासन और जनता के बीच की दूरी कम करने के हामी हैं। प्रायः देखने में आता है कि प्रशासन को जनता की कठिनाइयों का वास्तविक ज्ञान नहीं होता। अधिकारी अप्रत्यक्ष रूप में जानकारी प्राप्त करते हैं, जिससे इनके द्वारा जनता के हितार्थ किए गए कार्य भी जनता के लिए अप्रत्यक्ष हो जाते हैं। कागजों, फाइलों और आंकड़ों के आधार पर जनता की कठिनाइयां हल हो जाती हैं किन्तु वास्तविक कठिनाई ज्यों की त्यों बनी रहती है। महानगरों के वातानुकूलित कक्षों में बैठकर ग्राम-विकास की योजनाएं बनती हैं। हाथी दाँत की मीनारों में बैठे लोग झोंपड़ी निवासियों का हित चिन्तन करते हैं। झटपट योजनाएँ तैयार

की जाती हैं, जिनके लिए कुछ धन-राशि स्वीकृत करा ली जाती है। उस धन-राशि के खर्च कर देने मात्र से योजना की सफलता की घोषणा कर दी जाती है। ऐसा भी होता है कि कभी उस राशि को बीच की व्यवस्था ही निगल जाती है। इतने पर भी देश के आगे बढ़ने के विज्ञापन धड़ाधड़ समाचार पत्रों में छपते देखे जाते हैं। निश्चय ही, इस स्थिति को समाप्त करना बहुत आवश्यक है। भारत की चुनाव प्रक्रिया भी अत्यधिक खर्चीली है। पिछले चुनावों के अनुभव बतलाते हैं कि चुनाव में विजय-पराजय बहुत कुछ दल एवं प्रतिनिधि की सम्पन्नता एवं क्षेत्र में प्रत्याशी की जाति के बोलबाले के आधार पर निर्भर करती है। प्रत्याशी की योग्यता, कर्मठता एवं ईमानदारी से उसका बहुत कम सम्बन्ध होता है, अथवा नहीं ही होता। इस प्रकार चुनकर गया प्रतिनिधि सही अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसके लिए यह सम्भव होना चाहिए कि पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों एक ही मंच से अपना पक्ष प्रस्तुत करें। उन्हें यह मंच चुनाव-आयोग प्रदान करे।

इन सब प्रयत्नों के अतिरिक्त जे० पी० युवा-शक्ति का रचनात्मक कार्यों में अधिक से अधिक उपयोग करना चाहते हैं। युवा-शक्ति यदि तमाम विध्वंसात्मक कार्यों का परित्याग कर रचनात्मकता की ओर उन्मुख हो उठे तो सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा सार्थकता प्राप्त कर सकता है।

४. उपसंहार : गरीबी पर चोट प्राथमिक आवश्यकता :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जय प्रकाश जी की 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के पीछे उनकी स्वतन्त्रता, समानता एवं विश्व-बन्धुत्व स्थापित करने की कामना कार्य कर रही है। मानव की अबाध स्वतन्त्रता के वे प्रबल हिमायती हैं। आर्थिक, सामाजिक एवं अन्य किसी भी प्रकार की विषमता को वे समाप्त करना चाहते हैं और पारस्परिक वैमनस्य और विद्वेष की भावना को खतम कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को जिन्दा करना चाहते हैं। निश्चय ही इस सबके लिए भारत की गरीबी को दूर करना प्राथमिक आवश्यकता है। जब तक समाज के इस निचले तबके को रोटी नहीं जुटाई जायेगी, तब तक स्वतन्त्रता या विश्व-बन्धुत्व की बात करना उनके लिए निरर्थक होगा और समानता का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। हमारे मत से सम्पूर्ण क्रान्ति के स्वप्न को साकार करने के लिए गरीबी पर सबसे पहले कारगर चोट की जानी चाहिए। इससे अनेक बाधायें स्वतः समाप्त हो जायेंगी। पर जनता सरकार ने इस संबंध में अब तक क्या किया है? केवल राजनीतिक परिवर्तन से ही तो क्रान्ति नहीं हो जाती। जे० पी० ने उसका सही मूल्यांकन करते हुए अपनी चिंता प्रकट की है—"राजनीतिक वातावरण में सबसे बड़ा परिवर्तन यही हुआ है कि एक तुष्टिभाव ने परिवर्तन की तीव्रता की जगह ले ली है। सामाजिक व्यवस्था में और मान्यताओं में परिवर्तन के बगैर किसी भी क्रान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। इस तरफ किसी का ध्यान नहीं है। सब सत्ता की शर्तों में उलझ गए हैं। जनता सरकार द्वारा घोषित अबाध स्वतन्त्रता यदि गुरुतर दायित्व से जुड़ सके, युवा-शक्ति

यदि आन्दोलनों एवं हड़तालों में ही नहीं चुके, वह रचनात्मकता के प्रति उन्मुख हो और यदि लोकनायक का यह नारा जनता-जनार्दन के व्यवहार में उतर आए तो देश में शान्तिपूर्ण सम्पूर्ण क्रान्ति का सपना साकार हो उठेगा और विश्व के धरातल पर एक बार पुनः गांधी जीवित हो उठेगा। विश्व राजनीति में यह अपने ढंग की एवं अनूठी मिसाल होगी। इस शांतिपूर्ण क्रान्ति से गाँव और शहर का, गरीब और अमीर का, शोषित और शोषक का, छूत और अछूत का तथा धर्म ओर राजनीति का पारस्परिक भेद मिट सके, इस धरती पर ही स्वर्ग उतर आए, यही कामना है, यही प्रतीक्षा :

राग जायें दिशाओं में बिखर
पथ हो जाय उज्ज्वल/और उस पल
इस धरा पर स्वग का गंधर्व आए उतर
बस, इतनी प्रतीक्षा मुझ भी हैं, तुम्हे भी है। (अजित कुमार)

—: ० :—

५ लोकनायक जयप्रकाश

१. भारत का लोकनायक कौन ?

भारत एक विशाल देश है। इतना विशाल कि दुनिया के ऐसे अनेक देश हैं, जो क्षेत्रफल एवं जनसंख्या दोनों ही दृष्टियों से इसके केवल एक राज्य के समान अथवा उससे भी कम हैं। जनसंख्या की दृष्टि से यह विश्व का चीन के बाद सबसे बड़ा दूसरा देश है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसने अनेक उथल-पुथल देखी हैं। विश्व की प्राचीनतम सस्कृतियों वाले इस देश में न जाने कितनी जातियाँ, कितने धर्म एव कितने सम्प्रदाय आ-आकर मिलते रहे। हूण, कुषाण, यवन, तुर्क, पठान, मुगल एवं अंग्रेज आदि विश्व की अनेक जातियाँ साम्राज्य-लिप्सु बनकर यहाँ आई और यहीं की हो रहीं। इन सब बाह्य विभेदों भिन्नताओं के अतिरिक्त, इसकी अपनी जाति, धर्म, भाषा, सम्प्रदाय एवं प्रान्त अथवा राज्यगत आदि कुछ कम विविधतायें नहीं रहीं हैं। देव-असुर एवं आर्य-अनार्य अथवा द्रविड़ संस्कृति एवं जाति का; आस्तिक नास्तिक का, द्वैत-अद्वैत का, शैव-वैष्णव और शाक्त का, बौद्ध एवं जैन का, हिन्दू एवं मुसलमान आदि दर्शनों एवं धर्मों का तथा भाषा एवं संस्कृत का संघर्ष, इसकी आन्तरिक अनेकताओं और विविधताओं का ही सूचक रहा है। ऐसी विविधताओं और अनेकताओं से भरे इस देश का लोकनायक केवल वही हो सकता है, जो इन विविधताओं को एकता में परिणत कर सके। इसके अतिरिक्त लोकनायक का लोक-सेवक, निस्पृह, लोक का मार्ग-दर्शक एवं अंततः स्वस्थ-जीवन मूल्यों का प्रतिपादक होना आवश्यक है ही। महात्मा बुद्ध ने छूत-अछूत सभी के लिए अपनी साधना के द्वार खोलकर यही कार्य किया था। बाबा तुलसीदास ते शैव-वैष्णव, द्वैत-अद्वैत एव भाषा तथा संस्कृत का भेद मिटाकर लोकनायकत्व प्राप्त किया था। आधुनिक युग में महात्मा गाँधी और पं० नेहरू ने छूत-अछूत की, निर्बल एवं सबल की तथा धर्म राजनीति और विज्ञान के बीच की दीवारों को ढहाकर जननायकत्व प्राप्त किया और अब जय प्रकाश बाबू सर्वथा अपने ढग से लोकनायक के पथ पर अग्रसर हैं।

२. संक्षिप्त जीवन झाँकी :

जयप्रकाश बाबू के जीवन को यदि एक ही शब्द के द्वारा समझने का प्रयत्न किया जाये तो वह शब्द 'संघर्ष' ही हो सकेगा। अनवरत संघर्ष; व्यवस्था, दल, विचारधारा और सत्ता से संघर्ष। देश की आजादी के साथ-साथ मानव की वास्तविक आजादी के लिए संघर्ष। मानव के अनूठेपन को उजागर करने के लिए संघर्ष। इसी

कारण लोगों ने उन्हें 'जलता हुआ सूर्य' कहकर पुकारा। युग का यह सूर्य उत्तर प्रदेश, बिहार के सीमान्त पर गंगा-घाघरा के संगम पर बसे एक छोटे-से गाँव 'सिताब दियारा' में ११ अक्तूबर, १९०२ ई० को उदित हुआ। पिता हरसूदयाल जी नहर विभाग में शाहबाद में कार्य-रत थे। बचपन शाहबाद में ही व्यतीत हुआ। माता फूलरानी दूध के दाँत निकलने में देर हुई जानकर 'बउला' होने की आशंका प्रकट करती हैं और 'बउला' नाम परिजन, पुरजन एवं मित्रगणों में आज भी चलता है। बचपन की-सी चपलता, उछलकूद का अभाव। पिता फूलरानी से कहते हैं—'ईत जैसन बूढ़ा लरिका हउअन'—यह तो जैसे बूढ़ा लड़का है। बाद में इसी अनुभव ने अनेक सहयोगी राजनीतिज्ञों एवं सहकर्मियों को जयप्रकाश का प्रतिस्पर्धी बना दिया है १९१९ में मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और उच्च शिक्षा के लिए पटना में शिक्षा वृत्ति प्राप्त की। जून १९१९ में ही १४ वर्षीया प्रभावती से विवाह सम्पन्न हो गया। इस विवाह से जयप्रकाश को राजनीति का एक सहज क्षेत्र प्राप्त हुआ, क्योंकि प्रभा जी के पिता जी बाबू ब्रजकिशोर थे। वे ब्रजकिशोर, जिनका सन् इक्कीस से तैंतीस तक बिहार की कांग्रेस पर एकछत्र राज्य रहा, जिन्होंने महात्मा गाँधी को चम्पारन बुलाया, जिन्होंने दरभंगा नरेश जैसे विख्यात धनीमानी से लोहा लिया था और सबसे बड़ी बात—स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व जिनकी ही छत्रछाया में पलकर विकसित हुआ। राजेन्द्र बाबू के बड़े लड़के मृत्युन्जय का विवाह प्रभा जी की छोटी बहिन के साथ हुआ। इन सम्बन्धों से जयप्रकाश जी राजनीति के निकट आते गए। १९२० में महात्मा गाँधी के आह्वान पर कालेज छोड़ दिया। विवाह के तीसरे वर्ष १९२२ में ही जयप्रकाश बाबू उच्च अध्ययन के लिये अमेरिका चले गये और १९२९ में समाजशास्त्र में ओहायो वि० वि० से ससम्मान एम० ए० उत्तीर्ण किया। पी-एच० डी० के लिए न्यूयार्क वि० वि० से फैलोशिप प्राप्त की। अमेरिका के इस ७–८ वर्ष के पूरे विद्यार्थी जीवन में जे० पी० ने मजदूरी और सख्त मेहनत करके जीवन के विभिन्न अनुभव प्राप्त किये। इसी बीच प्रभाजी साबरमती आश्रम में पहुँचकर बापू की सेवा में रत हो गईं। आश्रम के प्रभाव से प्रभा जी ने जयप्रकाश जी से ब्रह्मचर्य व्रत निभाने की अनुमति चाही, जो व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता के हिमायती से उन्हें प्राप्त हो ही गई। इस सेक्सविहीन दाम्पत्य जीवन की इस गहरी आत्मीयता और अटूट विश्वसनीयता को जिसने जाना, वही चकित हो उठा। अमेरिकी लेखक हर्बट पासिन, जो जे० पी० की बायोग्राफी लिखना चाह रहा था, जे० पी० के इस सेक्स-विहीन दाम्पत्य जीवन की सफलता को लेकर हतप्रभ रह गया। सेक्स के बिना भी ऐसा गहन, प्रेमिल, प्रगाढ़ दाम्पत्य जीवन जिया जा सकता है, यह पश्चिम के उस व्यक्ति की कल्पना से बाहर की बात थी। अमेरिका में शिक्षा-प्राप्त कर जब युवक जयप्रकाश भारत लौटा तो वह सिर से पैर तक मार्क्सवादी विचारधारा में डूबा हुआ था।

इससे आगे का जीवन भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रमुख सेनानी, गाँधी,

नेहरू, राजेन्द्र बाबू, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० राममनोहर लोहिया, पटेल एवं विनोबा भावे प्रभृति मनीषियों के सत्संग तथा संघर्ष का, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के मंत्रित्व पद का (१९३४), कांग्रेस के एसेम्बली में जाने के निर्णय के विरोध स्वरूप कांग्रेस छोड़ने का (१९३६), गाँधी जी से मतभेद होने का (१९३६–४०), अग्रेज सरकार द्वारा अनेक बार जेल की यातनायें सहन करने का, देवली जेल में ३१ दिन की भूख-हड़ताल करने का (१९४१), दिवाली की रात को अपने पाँच साथियों के साथ जेल की १८ फुट ऊँची दीवार कूदकर भागने का (१९४२) और अगस्त क्रान्ति के प्रमुख वीर की पदवी पाने का, नेपाल सीमान्त के जंगलों में आजाद दस्ता बनाकर अंग्रेजों के विरुद्ध गोरिल्ला युद्ध तक की तैयारी करने का (१९४२–४३), लाहौर सेण्ट्रल जेल में यातना भोगने एकान्त जीने का (१९४३–४६), कांग्रेस सो० पार्टी से अलग सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना करने का (१९४८), आचार्य कृपलानी की किसान मजदूर प्रजा पार्टी के साथ मिलकर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी खड़ी करने का (१९५१), छ: सौ युवा जनों के साथ भूदान में जीवनदान की घोषणा का (१९५४), सर्वोदय सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन का सभापतित्व करने का (१९६१) एवं नागा विद्रोहियों की समस्या सुलझाने के प्रयत्न करने (१९६४), नक्सलपंथियों के आतंक का सामना करने, मुजफ्फरपुर की धूल छानने (१९७०), चम्बल घाटी में माधोसिंह और मोहरसिंह जैसे कुख्यात चार सौ डाकुओं का रोमाचकारी आत्म-समर्पण कराने (१९७१) आदि का संघर्ष एवं घटना बहुल जीवन है। इस बीच में मनीला के मैगसे से विश्व के शांति प्रेमियों में से प्रतिवर्ष किसी एक को दिया जाने वाला पारितोषिक भी आपने प्राप्त किया (१९६५) और जीवन में छाया की तरह साथ लगी रहने वाली अपनी प्रिय पत्नी श्रीमती प्रभावती को भी खोया (१९७३)। यह जयप्रकाश के लिये सबसे बड़ा आघात सिद्ध हुआ। मन से तो वे टूटे ही, तन से भी अस्वस्थ रहने लगे किन्तु इसी आघात से उन्हें न जाने कहाँ से इतना अद्या-बल मिला कि भारत सरकार और राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार के उन्मूलन द्वारा सम्पूर्ण क्रान्ति लाने के लिये कमर कसकर तैयार हो गए। गुजरात व बिहार में युवा छात्रों को सगठित कर आन्दोलन प्रारम्भ किया (१९७४)। गाँधी मैदान, पटना की विशाल सभा को सम्बोधित करते हुए पी० ए० सी० की लाठियों का प्रहार सहा। दिल्ली वोट-क्लब पर देश के सभी गैर कम्युनिस्ट दलों के नेताओं का, एक जुट होकर भ्रष्टाचार समाप्त करने के लिये आह्वान किया (६ मई, ७५) और जून ७५ में इन्दिरा गाँधी के इलाहाबाद हाई कोर्ट में चुनाव-याचिका हार जाने पर दिल्ली की एक जन-सभा में सरकार छोड़ देने का आह्वान किया। फलस्वरूप २६ जून ७५ को देश में आपात स्थिति घोषित हुई, जयप्रकाश को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें चण्डीगढ़ जेल में एकान्त जीवन की यातना दी गई और वहाँ से दिसम्बर ७६ में तभी मुक्त हुए, जब वे डाक्टरों द्वारा गम्भीर रूप से बीमार घोषित किये गये और उनके दोनों गुर्दों के नाकाम होने की घोषणा की गई। जनवरी ७७ में श्रीमती इन्दिरा गाँधी द्वारा चुनाव घोषणा करने के पश्चात्

जे० पी० की प्रेरणा से जनता पार्टी का गठन हुआ और मार्च, ७७ के चुनाव में जनता पार्टी को ऐतिहासिक विजय प्राप्त हुई। जनता पार्टी के तमाम विजयी विधायकों को जयप्रकाश बाबू ने राजघाट पर स्थित बापू की समाधि के साक्ष्य में बापू के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने की शपथ दिलाई (२४ मार्च ७७) और इसी दिन मोरारजी देसाई का प्रधानमन्त्री के रूप में एकमत से चुनाव करा सकने में सफलता प्राप्त की। २६ मार्च. ७७ को गम्भीरावस्था में बम्बई के जसलोक अस्पताल में भर्ती हुए, जहाँ उन्हें कृत्रिम गुर्दे (डाइलेसिस) के आधार पर ही जीवित रखा जा सका। १३ अप्रैल, ७७ को राष्ट्र के नाम दिये अपने एक ऐतिहासिक जन-सन्देश में सम्पूर्ण क्रान्ति के नारे को दोहराया। ३० अप्रैल, ७७ को हाजी मस्तान और युसुफ पटेल सहित लगभग एक सौ कुख्यात तस्करों ने जयप्रकाश बाबू के सम्मुख तस्करी छोड़ने की शपथ ली। १ मई, ७७ को अपने ग्राफ्ट-आपरेशन के लिए वे अमेरिका के लिए रवाना हुए और ३ मई, ७७ को अमेरिका के सिएटल स्थित डायलिसिस केन्द्र में उनका सफल ग्राफ्ट आपरेशन किया गया। भारत लौटकर तन से अस्वस्थ एवं निर्बल हुए भी मन से सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए जनता एवं सरकार का निरन्तर मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। यह है इस मनीषी के अब तक के जीवन की एक संक्षिप्त झांकी ! कितनी संघर्ष-पूर्ण, कितनी घटना-बहुल !! इस सब पर दृष्टि डालने के बाद स्व० दिनकर की ये पंक्तियाँ कितनी सार्थक प्रतीत होती हैं—

> विप्लव ने उगला तुम्हें, महामणि
> उगले ज्यों नागिन कोई
> माता ने पाया तुम्हें यथा,
> मणि पाए बड़भागिन कोई।
> लौटे तुम रूपक बन स्वदेश की
> आग भरी कुर्बानी का,
> अब जयप्रकाश है नाम देश की,
> आतुर, हठी जवानी का।……

३. लोकनायक की कसौटी पर :

समन्वयकारी—जीवन की उक्त संक्षिप्त झाँकी से स्पष्ट है कि जयप्रकाश बाबू की सम्पूर्ण जीवन की गाथा निरन्तर संघर्ष की गाथा रही है। इसी अनवरत संघर्ष में से पिछले कुछ दिनों में उनका लोकनायक का स्वरूप उद्घाटित हुआ है। प्रभाजी की मृत्यु के पश्चात् जैसे इस व्यक्ति ने देश की समस्त बिखरी हुई शक्तियों को संगठित करना प्रारम्भ किया और 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के महत् लक्ष्य की प्राप्ति के झण्डे के नीचे जनसंघ, सगठन कांग्रेस, भारतीय लोक दल और सोशलिस्ट दलों को ही नहीं, वरन् बाबू जगजीवनराम की नवनिर्मित प्रजातांत्रिक कांग्रेस को भी जनता पार्टी के नये दल में विलीन कर पाने में सफलता प्राप्त की। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि इन परस्पर विरोधी विचारधारा वाले दलों को एक झण्डे के नीचे एकत्रित

कर सकने में भारत की वर्तमान परिस्थितियों ने भी बहुत बड़ी भूमिका निभायी है, किन्तु यह भी असंदिग्ध है कि बिना किसी प्रेरक शक्ति से इनका एक दल में विलीनीकरण असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। यह प्रेरक शक्ति बाबू जयप्रकाश की ही रही। अन्यथा कहाँ जनसंघ और कहाँ सोशलिस्ट और कहाँ संगठन कांग्रेस ? जिन्हें 'कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा' कहकर पुकारा गया वे एक संगठित दल के रूप में यकायक कैसे इकट्ठे हो गये ? स्वयंसेवक संघ के सर संघ चालक श्री बाला साहब देवरस और दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी अपनी तमाम धर्म-रत संकीर्णताओं का परित्याग कर किस चमत्कार के बल पर आपस में गले मिले ? चम्बल के कुख्यात डाकुओं और देश के तस्करों को आत्म-समर्पण के लिये कौन-सी शक्ति ने प्रेरित किया ? यही नहीं, युवा छात्र, वृद्ध राजनीतिज्ञ, मजदूर, किसान, व्यापारी, बुद्धिजीवी प्रोफेसर, वकील, डाक्टर, इन्जीनियर और सरकारी सेवाओं से जुड़े प्रशासनिक अधिकारी एवं कर्मचारी गण को एक हो जाने की प्रेरणा कहाँ से मिली ? निश्चय ही यह प्रेरक शक्ति जयप्रकाश के निर्भीक, अपराजेय एवं संघर्षशील व्यक्तित्व के प्रभाव का ही परिणाम थी। बाबा तुलसीदास ने कभी शैवों, वैष्णवों और शाक्तों को एक सूत्र में जोडने का प्रयत्न किया। आज इन धार्मिक सम्प्रदायों का स्थान राजनीतिक मतवादों ने ले लिया है, जिनको एक सूत्र में पिरोने का गुरुतर कार्य जयप्रकाश नारायण कर रहे हैं। इस देश में कभी गाँधी की आँधी आई थी। ऐसी आँधी, जिसने पारस्परिक द्वेष-वैमनस्य को छोड़कर विदेशी सत्ता से लोहा लिया था। सोहनलाल द्विवेदी की निम्नलिखित पंक्तियाँ गाँधी के लोकनायकत्व का प्रबल समर्थन करती हैं—

> 'चल पड़े जिधर दो डगमग में, चल पड़े कोटि पग उसी ओर।
> पड़ गई जिधर भी एक दृष्टि, गड गये कोटि दृग उसी ओर।'

कुछ इसी प्रकार की आँधी पिछले दिनों जयप्रकाश बाबू की भी देखी गई। जिधर को दिशा दी, करोड़ों छात्र, राजनीतिज्ञ, बुद्धिजीवी, और मजदूर उधर को ही मुड़ गये। कितना कठिन था, जनता पार्टी द्वारा नेता का चुनाव। विरोधियों ने तो इसे असम्भव सा ही समझ रखा था। जयप्रकाश बाबू ने मोरार जी का नाम प्रस्तावित किया, सभी ने स्वीकार कर लिया। वस्तुतः सब उन्हें अपना समझते हैं। भले ही वह किसी के न हों और निश्चय ही वे किसी एक के तो नहीं ही हैं। डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल ने अपनी पुस्तक 'जयप्रकाश' में ठीक ही लिखा है—"वह एक ऐसे प्राणी होते चले जाते हैं, जिसके लिये राजनीतिज्ञ सोचता है, वह मुझे मिनिस्टर बना देंगे। किसान सोचता है, कलक्टर हैं, मेरे गये हुए खेत को वापस मिला देंगे। मजबूर किसान दौड़ता है, सरकार हमरा खेत में पानी न रखे। मजदूर सोचता है, यही है वह कामरेड जो मेरा हक दिला देंगे। स्त्री को विश्वास है, यह मेरे भागे हुऐ पति को वापस घर ला देंगे। बच्चे सोचते हैं, बाबा हैं. दुआ देंगे तो गाँव में हवाई जहाज उतर पड़ेगा।" विचारों में भी जयप्रकाश सबके होकर भी केवल अपने

ही हैं। मार्क्सवादियों ने सोचा—सच्चा कामरेड मिल गया, अब भारत में कम्यूनिज्म जम कर ही रहेगा। गाँधी ने सोचा—मेरे आदर्शों और नैतिकता को सच्चा जामा पहिनाने वाला मिल गया। नेहरू को लगा—जैसे एक दूसरी भुजा 'भाई' के रूप में उन्हें प्राप्त हो गई। आचार्य नरेन्द्र देव, राममनोहर लोहिया, कृपलानी आदि ने उनमें एक सच्चे सोशलिस्ट की उभरती तस्वीर देखी तो सुभाष बाबू ने उनमें एक धधकता ज्वालामुखी पाया। विनोबा को लगा कि जैसे 'सर्वोदय' और भूदान के प्रचार-प्रसार के लिये उन्हें एक सच्चा शिष्य, सहयोगी मिल गया है और अन्ततः करोड़ों निराश और अंधकार में भटकते हुए भारतीयों को वह 'आकाशदीप' ही दिखाई पडने लगा हो तो आश्चर्य क्या ? किन्तु जयप्रकाश सबके होकर भी अपने बने रहे। उन्होंने सत्य को कभी सीमित दायरे में नहीं देखा। यही कारण है कि उनके हृदय में सबके लिए स्थान बना रहा।

निस्पृह, निस्संग—भारतीय लोकनायक सदैव निस्पृही, त्यागी और तपस्वी ही रहे। सत्ता से वे कभी नहीं जुड़े। महात्मा-बुद्ध ने तो प्राप्त सत्ता को ठोकर लगा दी। बाबा तुलसीदास ने कभी कोई बादशाहत नहीं चाही। गाँधी जी ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के लिए सब कुछ होम दिया किन्तु स्वतन्त्रता मिलने के बाद कुर्सी को दूर से ही प्रणाम कर दिया। यही हालत जयप्रकाश जी की भी रही। विभिन्न संगठनों के संगठानात्मक कार्य उन्होंने किये, किन्तु किसी प्रकार की सत्ता प्राप्ति की इच्छा से वे कभी संचालित नहीं हुए। लोगों ने उनकी इस निस्पृहता पर अनेक प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ कीं। किसी ने उनको 'अवसर खोने वाला' कहा तो किसी ने 'फ्रस्टेटेड जीनियस'। किसी ने घोर प्रतिक्रियावादी कहा तो किसी ने दक्षिण पंथी, किन्तु जयप्रकाश ने कभी इनकी परवाह नहीं की। वे चाहते तो स्वतन्त्र भारत में कौन-सा पद उन्हें नहीं मिल सकता था। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने ठीक ही लिखा है—"सोचता हूँ जे० पी० में जितने गुण, अवगुण हैं, इतना-इतना उन्होंने पढ़ा है, कर्म किये हैं, इतने दण्ड, इतनी यातनायें सही हैं, इतना प्यार और नफरत मिली है उन्हें। इतने सुअवसर और परिस्थितियाँ मिली हैं और खोई हैं। इनमें से कोई भी एक चीज मुझे मिली होती तो मैं साधारण से असाधारण हो गया होता। मेरे बोलने का ढंग असामान्य हो गया होता, मेरा रंग ढंग, मेरा सारा स्वभाव और व्यवहार अजब हो गया होता। प्रभावती जैसी पत्नी के साथ मैं पागल हो गया होता। मार्क्स और लेनिनवाद के साथ मैं क्रांतिकारी हो गया होता। राष्ट्रपिता गाँधी के साथ मैं राष्ट्र का कोई बहुत बडा सम्बन्धी बन गया होता। भाई नेहरू के साथ मैं कम से कम राष्ट्रपति बन गया होता।" जे० पी० न राष्ट्रपति बने और न प्रधान मन्त्री, किन्तु राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री न बन कर वह आज जो कुछ बन गये हैं, क्या राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री उसके गौरव की छाया भी छू पायेंगे ? राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री इतिहास के पन्नों में सिमट कर, काल के आवरण में छिप सकते हैं किन्तु जे० पी० को भुला सकना काल के लिये भी कठिन होगा।

मानवी स्वतन्त्रता और आस्था के प्रति सर्मपित—वैसे जयप्रकाश जी किसी व्यक्ति, दल अथवा विचार के प्रति एकान्ततः समर्पित नहीं हुए। व्यक्तियों में यह सुयोग मिला हो तो केवल प्रभा जी को और विचारों में मानव की अबाध स्वतन्त्रता और उसके प्रति अटूट आस्था को। मानव की अबाध स्वतन्त्रता के हामी यहाँ तक कि प्रभा जी को ब्रह्मचर्य व्रत लेने से नहीं रोक सके और मानवी आस्था इतनी दृढ़ कि कभी शेख अब्दुल्ला के आत्म-निर्णय वाले अधिकार की वकालत करते हैं तो कभी नक्सलियों को समझाने-बुझाने दौड़ पड़ते हैं। कुख्यात डाकुओं और तस्करों के अन्तर में भी छिपे हुए मानव की तलाश वे कर लेते हैं।

४. उपसंहार :

वस्तुतः जे० पी० का व्यक्तित्व एक महासमुद्र है। हम लोग तो समुद्र के किनारे पड़े सीप और घोंघों को बटोरकर सुखी हो सकते हैं। उसकी समस्त मणियों को पाना कठिन ही है। उनका सारा जीवन भारतीय संस्कृति के "चरैवेति चरैवेति" सिद्धान्त का साकार रूप है। निरन्तर चलना, निरन्तर संघर्ष करना ही उनका जीवन रहा है, क्योंकि सत्य को अंतिम उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इस देश एवं अन्ततः मानव-जाति के लिये जो कुछ किया है; उसने उन्हें महात्मा-बुद्ध, कबीर, तुलसी, गोखले, तिलक, अरविन्द, गाँधी एवं नेहरू आदि लोकनायकों की श्रेणी में ला खड़ा किया है। उनके 'सम्पूर्ण क्रांति' के स्वप्न की पूर्ति की भूमिका बनने लगी है। किन्तु अभी यह भूमिका ही है, अभी बहुत कुछ कार्य शेष है। ईश्वर उन्हें दीर्घायु दे, ताकि वे इस स्वप्न को पूर्ण कर सकें। स्व० दिनकर जी के शब्दों में हम कहना चाहेंगे—

"सेनानी ! करो प्रयाण अभय,
भावी इतिहास तुम्हारा है।
ये नखत अमा के बुझते हैं,
सारा आकाश तुम्हारा है।
हाँ, जयप्रकाश है नाम समय की,
करवट का अँगड़ाई का।
भूचाल बवंडर के ख्वाबों से,
भरी हुई तरुणाई का।
है जयप्रकाश वह नाम जिसे,
इतिहास समादर देता है।
बढ़कर जिसके पद चिन्हों को,
उर पर अंकित कर लेता है।"

—: o :—

६ ग्राम-विकास : राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकता

१. भारतीय गाँवों की वर्तमान स्थिति :

जब हिन्दी के एक कवि की ये पंक्तियाँ सामने आती हैं—

'अहा ! ग्राम जीवन भी क्या है,
क्यों न इसे सबका मन चाहे।'

तो सहसा एक सवाल उभरता है कि क्या वास्तव में ही ग्राम-जीवन इतना सुखद होता है कि कवि के मन में उसके प्रति ललक पैदा हो गई ? वस्तुतः गाँव के खुलेपन ने कवि को आकृष्ट किया होगा। महानगर के दमघोंटू वातावरण से मुक्त रहकर प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण वाले गाँव का जीवन कुछ घण्टों अथवा कुछ दिनों के लिये तो सुखकर प्रतीत हो सकता है किन्तु आज के भारतीय गाँवों में आधुनिक सुविधाओं के भोगी व्यक्ति के लिये स्थायी रूप से जीवन-यापन करना कठिन होगा। बिजली, पानी, सड़क, स्कूल, अस्पताल, डाकखाना एवं बैंक आदि की दैनंदिन सुख-सुविधाओं के अभाव में आज के अधिकांश गाँवों का जीवन नारकीय बना हुआ है। इतने पर भी जहाँ की जनता का अधिकांश गरीबी की सीमा-रेखा से नीचे जीवन-यापन करता हो, वहाँ के जीवन की विडम्बना का अनुमान किया जा सकता है।

भारत एक ग्राम प्रधान देश है। यहाँ की ८०% जनता गाँवों में निवास करती है। देश के लगभग ५ लाख ८० हजार गाँवों में ७२% लोगों के पास खेती की जमीन है, २५% खेतिहर मजदूर हैं और शेष लगभग तीन प्रतिशत दस्तकार हैं। जिन ७२% काश्तकारों के पास जमीन है, उनमें २५% ऐसे हैं जिनके पास एक एकड़ से भी कम जमीन है। इस प्रकार गाँव की आबादी में लगभग ५० प्रतिशत ऐसे लोग हैं, जिनकी आय गरीबी की भी सीमा-रेखा से नीचे है। यानी, देश के ८०% लोग गाँवों में निवास करते हैं और गाँवों की आधी जनसंख्या गरीबी की भी सीमा रेखा से नीचे अपना जीवन-यापन करती है। इसका अर्थ है कि देश की लगभग एक तिहाई से अधिक आबादी जीवन की आवश्यक सुविधाओं से वंचित हैं। उन्हें दोजून खाना आवश्यक मात्रा में कपड़ा तथा सिर ढकने के लिये आवासीय सुविधा नसीब नहीं हैं। देश के बहुत थोड़े से गाँव है, जो नगरों से सड़कों के माध्यम से

जुड़े हैं। जहाँ बिजली पहुँच चुकी है, जहाँ शिक्षा एवं स्वास्थ्यादि से सम्बन्धित प्राथमिक सुविधायें उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में, कवि का उक्त कथन बेमानी-सा लगता है। साथ ही यह तथ्य भी और अधिक उजागर होकर हमारे सामने उपस्थित होता है कि यदि इस देश के गाँवों की वर्तमान स्थिति में कोई सुधार नहीं किया गया तो देश के विकास की बात करना व्यर्थ है। केवल नगर निवासियों की समस्याओं के प्रति जागरूक रहकर स्वयं को देश की समस्याओं के प्रति जागरूक बतलाना गलत है; चंद बुद्धिजीवियों के दुःख दर्दों की जानकारी, हिन्दुस्तान की जनता के दुःख दर्दों की जानकारी नहीं है। देश की पाँचवीं योजना को ग्रामोन्मुख बनाया गया है, पहली अथवा दूसरी को क्यों नहीं ?

२. गरीबी के विभिन्न स्तर : विकास के विभिन्न केन्द्र-बिन्दु :

स्पष्ट हैं कि गाँवों की, देश की प्रमुख समस्या गरीबी है। अन्य अनेक समस्यायें इससे ही उत्पन्न होती हैं। गाँव के विकास का अर्थ ग्रामीणों को इस गरीबी के चंगुल से ही छुड़ाना है। भोजन, कपडा, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, बिजली, सड़क एवं मनोरंजन आदि साधनों के अभाव को दूर करना है तो ग्रामीणों को गरीबी से मुक्त करना ही होगा। ऊपर से एक सरीखी दिखलाई पड़ने वाली गरीबी के विभिन्न स्तर देखने को मिलते हैं। मोटे तौर पर, ग्रामीणों की गरीबी के तीन स्तर रेखांकित किये जा सकते हैं—

(१) अलाभकर जोत वाले किसानों की गरीबी—जिन किसानों के पास एक या दो एकड़ अथवा इससे कम अथवा कुछ अधिक होने पर भी अलाभकारी जोत वाली जमीन है, वे सब भी गरीबी की सीमा रेखा से नीचे आते हैं। पिछले दिनों सरकार ने लाखों भूमिहीन हरिजन, खेतिहर मजदूर, बटाईदार परिवारों को एक-एक, दो-दो हैक्टर भूमि देकर उन्हें भूमिधर बना दिया है। इसका महत्व केवल इतना ही है कि कुछ भी न करने की अपेक्षा कुछ किया गया है किन्तु इससे गरीबी की समस्या हल नहीं हुई। जिस प्रकार की और जितनी मात्रा में जमीनें दी गई हैं, उससे इन ग्रामीणों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया है। देश में ऐसे किसान परिवारों की संख्या काफी है। एक सर्वेक्षण के अनुसार देश के ७ करोड़ ७० लाख ग्रामीण परिवारों में से ५ करोड़ ५८ लाख परिवार (७२·४ प्रतिशत) किसान हैं और इनमें से एक तिहाई की सम्पत्ति ढाई हजार रुपये से भी कम है। आधे किसान परिवारों की जोत ढाई एकड़ से भी कम है। २४ प्रतिशत किसानों के पास ढाई से पाँच एकड़ तक जमीन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ग्रामीण विकास के लियें इन किसानों की कठिनाइयों को सामने अवश्य रखना होगा।

(२) खेतिहर मजदूरों की गरीबी—गरीबी का दूसरा स्तर ग्रामीण जनसंख्या के लगभग एक चौथाई भाग वाले खेतिहर मजदूरों की गरीबी का है। रिजर्व बैंक के एक अध्ययन के अन्तर्गत कहा गया है कि १९७६ में खेतिहर मजदूर परिवारों की संख्या १ करोड़ ४१ लाख थी। एक अन्य सर्वेक्षण के अनुसार इनकी आय का औसत

२० रुपये से ३० रुपये प्रतिमास से अधिक का नहीं है। पं० बंगाल के श्रम विभाग के अनुसार उनके राज्य में एक औसत खेतिहर मजदूर को, जिसके तीन-चार आश्रित हैं, ३७ पैसे दैनिक मजदूरी मिलती है। उसे वर्ष में १५० से १७० दिन तक काम मिलता है। जिन खेतिहर मजदूरों को खेती की जमीन मिली है, उनकी स्थिति में नाम मात्र का अन्तर आ सकता है किन्तु खेतिहर मजदूरों की बड़ी संख्या अब भी भूमिहीन है, भूमिहीन ही रहेगी, क्योंकि जमीन तो नहीं बढ़ सकती। पिछली सरकार ने इन खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी तय की थी किन्तु इन कानूनों को लागू करना कठिन है। विवशता में वह कम पैसों पर ही काम करने के लिये तैयार हो जाता है। वह ऐसा दबाव डालने की स्थिति में नहीं है कि उसे काम भी मिले और कानूनी दर पर मिले, क्योंकि उसका शहरों के औद्योगिक मजदूरों की भाँति कोई संगठन नहीं है।

(३) **दस्तकारों की गरीबी**—यद्यपि गाँवों में दस्तकारों की संख्या कम है तथापि उनकी स्थिति भी उपेक्षणीय नहीं है। गाँवों में बढई, जुलाहा, लुहार, कुम्हार एवं चर्मकार आदि दस्तकारों के सम्मुख अब अनेक समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं। टेक्नॉलॉजी के प्रवेश ने, खेती के बढ़ते हुए यंत्रीकरण ने बढ़ई, लुहारों को अनुपयोगी बना दिया है। लोग मिल का बना अपेक्षाकृत सस्ता कपड़ा पहिनते हैं, हाथ के बुने हुए कपड़े में उनकी रुचि दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। यही स्थिति चर्मकारों की है। हाथ के बने हुए अपेक्षाकृत महँगे जूते के बजाय कारखानों में तैयार हुए जूते अधिक पसन्द किये जाते हैं।

इस प्रकार ग्राम-विकास से सम्बन्धित किसी भी योजना में उक्त तीनों श्रेणियों को ध्यान में अवश्य रखना होगा।

३. ग्राम विकास से सम्बद्ध विशिष्ट आवश्यकताएं—

बंगलौर स्थित भारतीय प्रबन्ध संस्था के अनुसार गाँवों के विकास के लिये आवश्यक है कि उनकी विकास सम्बन्धी विशिष्ट आवश्यकताओं को समझा जाये और अब तक विकास के जो साधन तैयार कर लिये गए हैं, उनकी रक्षा की जाये। इन आवश्यकताओं को इस प्रकार समझा जा सकता है—

(अ) भौतिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताएं

ग्रामीण विकास के लिये सबसे पहले उसके भौतिक विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। गाँव के भौतिक विकास से आशय है—गाँव में सड़क, बिजली, पानी, औषधालय, डाकघर एवं स्कूल आदि की सुविधाएँ जुटाना। यह सही है कि आज हमें आजाद हुए तीस से अधिक वर्ष हो गए किन्तु अभी भी हम गाँवों को भौतिक दृष्टि से विकसित नहीं कर पाए। यद्यपि गाँवों को सड़कों से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है, बिजली भी गांवों में पहुँची है, स्कूल और कहीं-कहीं औषधालय आदि की भी व्यवस्था हुई है किन्तु अभी लाखों गाँव इन सुविधाओं से वंचित हैं। गाँव को कैसे इन सुविधाओं से युक्त किया जाये, इसके लिए एक सुझाव है—

गाँवों को इकाई रूप में संगठित किया जाये—भारत के ग्रामीण विकास के लिये आवश्यक है कि गाँवों को उनकी जनसंख्या के आधार पर एक इकाई के रूप में संगठित किया जाये। देश के लगभग ५ लाख ८० हजार गाँवों में से लगभग साढ़े तीन लाख गाँवों की आबादी ५०० से कम है। इन साढे तीन लाख गाँवों में से भी लगभग आधे गाँवों की संख्या २०० से भी कम है। स्पष्ट है कि इतने छोटे स्तर पर प्रत्येक गाँव के लिए बिजली, पानी, सड़क, डाकखाना, औषधालय एवं स्कूल आदि की सुविधा जुटाना अभी भारत के लिये बहुत कठिन है। इस स्थिति में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ० वी० आर० वी० राव का यह सुझाव ध्यान देने योग्य है कि ग्रामीण विकास के लिए एक हजार अथवा दो हजार की आबादी को एक इकाई माना जाये। यदि गांवों के पुनर्गठन में इनमें से किसी एक आधार को स्वीकार कर लिया जा सके तो ग्रामीण विकास निश्चय ही गति पकड़ सकेगा। इस दृष्टि से केरल के उदाहरण को आदर्श के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। केरल की अधिकांश ग्रामीण जनता पाँच हजार तक की आवादी वाले गाँवों में रहती है। फलस्वरूप, विकास एवं सामाजिक आर्थिक दृष्टि से केरल के गाँवों का सम्यक् विकास सम्भव हो सका है। आज केरल में साक्षरता का स्तर ही देश में सबसे ऊँचा नहीं है, बल्कि वहाँ के ग्रामीणों को देश के अन्य ग्रामीणों की अपेक्षा स्वास्थ्य सेवाएँ भी अधिक प्राप्त हैं।

(आ) आर्थिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताएँ

कृषि विकास की आवश्यकता—भारत के गाँवों का ही मुख्य व्यवसाय कृषि नहीं है, बल्कि यह देश का भी प्राथमिक उद्योग है। क्योंकि ५०% राष्ट्रीय आय, रोजगार की ६०% संभावनाएँ और ८०% निर्माता उद्योग इसी कृषि पर आश्रित हैं। यह सही है कि कृषि के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है, उत्पादन बढ़ा है। ५०-५१ में देश में गेहूँ का उत्पादन ७० लाख टन था, जो ७५ में बढ़कर २ करोड़ ७० लाख टन हो गया। एक ताजा पड़ताल के अनुसार देश में एक दशाब्द में किसान ने खाद्यान्न उत्पादन में ५०% की वृद्धि की है। ६६ में देश में ७ करोड़ २० लाख टन अनाज पैदा हुआ, जबकि १९७६ में उत्पादन ११ करोड़ ८० लाख टन रहा। किन्तु इस सबका लाभ थोड़ी जमीन वाले किसान को नहीं मिल सका। 'हरित क्रान्ति' ने भी बड़े किसान को ही लाभ पहुँचाया। टेक्नॉलॉजी एव उर्वरक छोटे किसान को कुछ नहीं दे सके। अभी कृषि के विकास की सम्भावनाएँ भी अनन्त हैं। अभी भी भारत का किसान दैवी आपदाओं एवं प्रकृति का दास बना हुआ है। रिजर्व बैंक के एक अध्ययन के अनुसार भयंकर सूखा वाले वर्षों में कृषि उत्पादन में १६·७ प्रतिशत की गिरावट आयी, जबकि वर्ष अच्छा होने पर उत्पादन में १०·५% तक की वृद्धि हुई। काफी प्रयत्नों के बावजूद अभी भी सिंचाई की सुविधा केवल एक चौथाई भूमि पर ही उपलब्ध है। वस्तुतः कृषि-विकास को, एक विकास

खण्ड स्तर पर नहीं तो कम से कम जिला-स्तर पर अवश्य ही संगठित करना चाहिए। खेतों की स्थानीय स्थिति को, उनकी आवश्यकताओं को, भली-भाँति समझकर, उनका विकास किया जाना चाहिए। अब तक कृषि विकास की योजनाएँ प्रायः राज्य स्तर पर बनाई जाती हैं और कृषि के विभिन्न मदों के लिए कुछ धन-राशि स्वीकृत कर दी जाती है। प्रत्येक क्षेत्र के विकास-कार्य का अलग-अलग जायजा लेते रहने के बजाय सिर्फ यह देखा जाता है कि निर्धारित राशि खर्च कर दी गई या नहीं। यदि राशि खर्च हो गई तो यह मान लिया जाता है कि लक्ष्य भी पूरा हो गया और इस प्रकार उपलब्धियों के आँकड़े मात्र 'इतने व्यय से इतनी प्रगति' के अनुमान मात्र होते हैं। आवश्यकता है, कृषि-विकास की स्थानीय विशिष्ट आवश्यकताओं के गम्भीरता पूर्वक अध्ययन की और फिर उनका सम्यक समाधान करने की।

रोजगार जुटाने की आवश्यकता—ग्राम विकास के लिये रोजगार जुटाने की महती आवश्यकता है। जिन ग्रामीणों के पास पाँच या इससे कम एकड़ जमीन है, वे वर्ष भर अपने लिए पर्याप्त कार्य नहीं पाते। खेतिहर मजदूरों का भी अधिकांश बेरोजगार रहता है। भगवती आयोग के अनुसार इस समय देश में बेरोजगार देहाती मजदूरों की संख्या १ करोड़ ८७ लाख है। इनमें ९७ लाख ऐसे लोग भी शामिल हैं, जिनको सप्ताह में सिर्फ २४ घण्टे काम मिलता है। उधर गाँव के दस्तकार भी बेरोजगार होते जा रहे हैं। पिछले वर्षों में केन्द्र और राज्य-सरकारों ने गाँव वालों को रोजगार देने के कुछ कार्य-क्रम आयोजित किये हैं। जैसे कुछ राज्यों में सूखा-पीड़ितों को रोजगार देने के कुछ कार्य-क्रम चालू किये गए किन्तु ऐसे कार्य-क्रम स्थानीय न होने के कारण अधिक लाभकारी सिद्ध नहीं हो पाये। कुछ दिन सड़कें बनाने अथवा नहर खोद लेने से वर्ष भर की रोटी नहीं कमायी जा सकती। आवश्यकता है, कुछ स्थायी रोजगार जुटाने की।

लघु-कुटीर उद्योग खड़े करना : ग्रामीण बेरोजगारी का स्थायी हल—इस बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिये गाँवों में लघु-कुटीर उद्योगों की बड़े स्तर पर स्थापना करनी पड़ेगी। आवश्यकता इस बात की है कि ये लघु-उद्योग स्थानीय कच्चे माल और स्थानीय खपत को ध्यान में रखकर बनाये जायें। इन लघु उद्योगों में दुग्ध योजनाएँ, कुक्कुट पालन, घास एवं लकड़ी का विभिन्न रूपों में उपयोग करने वाले उद्योग, कपड़ा-बुनना, जूते बनाना, मिट्टी के बर्तन बनाना आदि कुटीर उद्योगों को स्थानीय माँग के अनुरूप स्थापित किया जा सकता है। स्थानीय आवश्यकताओं एवं कच्चे माल की जानकारी के लिए जिला बोर्डों का उपयोग किया जा सकता है। इन उद्योगों की स्थापना में देश के वैज्ञानिक एवं तकनीकी संस्थानों का भी उपयोग किया जाना चाहिए। यह गर्व का विषय है कि अमेरिका तथा रूस के बाद भारत ही विश्व का ऐसा तीसरा देश है, जहाँ वैज्ञानिक तथा तकनीकी विशेषज्ञों की संख्या इतनी बड़ी है। इन्हें आयोजित ढंग से गाँव के उद्योगों में

लगाया जा सकता है। इससे जहाँ इन वैज्ञानिकों को काम की तलाश में विदेशों को पलायन न करना पड़ेगा, वहीं गाँव के विकास में इनका सम्यक् योगदान भी हो सकेगा। कुछ राज्यों में इन कुटीर उद्योगों को चालू किया गया है। उदाहरण के लिए, गुजरात तथा महाराष्ट्र में सहकारी आधार पर दुग्ध योजनाएँ चालू की गई, उनसे गाँव की खुशहाली बढ़ी। नागालैण्ड में एक तरह की घास से तेल निकालने का उद्योग गाँव-गाँव में खोल दिया गया है। इसी प्रकार पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के गन्ना-बहुल इलाकों में गन्ने की खोई से कागज आदि बनाने के कारखाने खड़े किये जा सकते हैं। दस्तकारी को सहकारी समितियों के माध्यम से नया जीवन प्रदान किया जा सकता है। अनेक स्थानों पर जुलाहों की सहकारी समितियाँ सफलतापूर्वक चल रही हैं। चर्मकारों को भी सहकारी समितियों के अन्तर्गत लाकर चमड़े के छोटे-छोटे कारखाने खड़े किये जा सकते हैं, जहाँ गाँव के ये लोग छोटी मशीनों की सहायता से चमड़े की अनेक चीजें बनाकर गाँव में बेच सकते हैं, शहर को भेज सकते हैं और अनेक वस्तुओं का विदेशों को निर्यात भी कर सकते हैं। इन छोटे उद्योग-धन्धों में प्रारम्भ में बैंकों का पैसा लगाया जा सकता है, फिर धीरे-धीरे काम करने वाले भी शेयर खरीद सकते हैं। धीरे-धीरे बैंक का पैसा लौट आ सकता है और ग्रामीणों को भी स्थायी रोजगार मिल सकता है।

(इ) सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताएँ

भौतिक एवं आर्थिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं के साथ ही साथ गाँव के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास पर भी ध्यान देना आवश्यक है। आज भी गाँवों में हरिजनों को उचित न्याय नहीं मिल पाता। आज भी छुआछूत की भावना उनमें व्याप्त हैं, यद्यपि हमारे नगर भी इससे सर्वथा मुक्त नहीं हैं। आज भी विवाह आदि के अवसर पर अनाप-शनाप खर्च किया जाता है। दहेज का रोग नगरों की ही भाँति वहाँ भी है। आज भी वे बढ़ती हुई जनसंख्या के खतरों के प्रति जागरूक नहीं है। मृत्यु-भोज आज भी आयोजित किये जाते हैं। नारी वर्ग की स्थिति आज भी मध्यकालीन नारी जैसी है। न तो उन तक शिक्षा का प्रकाश पहुँच पाया है और न ही उन्हें उचित सम्मान मिल पाया है। वहां आज भी बाल-विवाहों की संख्या नगरों की अपेक्षा अधिक है। इनके अलावा ग्रामीण आज भी अनेक रूढ़ियों और अंध-विश्वासों से ग्रस्त हैं। उनके साँस्कृतिक विकास पर भी यथोचित ध्यान नहीं दिया गया। इसके लिए लोक गीतों, लोकनाट्यों एवं स्वाँगों आदि का उपयोग किया जा सकता है। रेडियो एवं दूरदर्शन के माध्यम से उन्हें शिक्षित करने में मदद ली जा सकती है। इन सबके लिए समय-बद्ध कार्यक्रम बनाने एवं उन्हें व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने की आवश्यकता है।

४. निष्कर्ष

अब ग्रामों का द्रुत विकास एक अनिवार्यता बन गया है। मार्च, १९७७ के लोक सभा चुनावों ने नेताओं, अधिकारियों और बुद्धिजीवियों के इस भ्रम को तोड़

दिया है कि अनपढ़ होने के कारण भारतीय गाँवों की जनता अपने हितों के प्रति भी जागरूक नहीं है। यदि भारत में प्रजातांत्रिक प्रणाली को जीवित रखना है तो देश की इस अधिसंख्यक ग्रामीण जनता की आवाज को बहुत दिनों तक दबाया नहीं जा सकता। उनकी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर तत्काल ध्यान दिया जाना चाहिए। भोजन, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क एवं बिजली आदि की बेहतर सुविधाएँ प्रदान करने की न केवल कागजी योजनाएँ तैयार की जाएँ, वरन् गाँव-गाँव जाकर उनकी समस्याओं एवं कठिनाइयों का गहराई से अध्ययन किया जाये और यथा-शीघ्र उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाये। यद्यपि रबर के पहिये आ जाने से ग्रामीण गाड़ी का काफी विकास हुआ है और आज भैंसा-बुग्गी गाँव में काफी लोकप्रिय एवं सुविधाजनक सिद्ध हो रही है फिर भी उसके और विकास की सम्भावनाएँ समाप्त नहीं हुई हैं। लोक-न्यायालयों की स्थापना करने से ग्रामीणों का बहुत सा समय और पैसा बचाया जा सकता है। छोटे-छोटे गाँवों को संगठित कर एक इकाई के रूप में विकसित किया जाय। स्थानीय साधनों का अधिक से अधिक दोहन किया जाय। गाँव-गाँव में लघु उद्योग धन्धों का जाल बिछाकर ग्रामीणों को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाया जाय। दस्तकारों को सहकारी समितियों के अन्तर्गत संगठित कर आर्थिक दृष्टि से उन्हें आत्म निर्भर बनाया जाय। खेतिहर मजदूरों का नगरीय औद्योगिक मजदूरों के समान एक संगठन बनाया जाय। शिक्षा को ग्रामोन्मुख बनाया जाये, जिससे नवयुवकों में शहरी विलास के प्रति ललक पैदा न हो और वे शहरों की ओर न भागें। जनता सरकार ने आगामी दस वर्षों में देश से गरीबी हटाने का शुभ-संकल्प किया है। ग्रामों के उचित विकास के अभाव में उसका यह संकल्प पूर्ण नहीं हो सकता। यदि जनता और सरकार मिलकर गाँवों को आधुनिक सुख सुविधाओं से युक्त बना सकें, उनकी बेरोजगारी को मिटा सकें तो शहरी सुविधाओं और ग्रामीण वातावरण की उन्मुक्तता पाकर भारतीय गाँव स्वर्ग बन जायेंगे और तब कवि की वे पंक्तियाँ भी अधिक सार्थक सिद्ध हो सकेंगी। निश्चय ही यह सब केवल सरकार का दायित्व नहीं है, हम सबकी भी जिम्मेदारी है।

———

७ भारत सोवियत सम्बंध : नया परिप्रेक्ष्य

१. नयी सरकार, निर्मूल संशय :

केन्द्र में जनता सरकार के सत्तारूढ़ होने की सम्भावनाओं के साथ ही साथ कुछ पत्रकारों एवं राजनयिकों ने आशंका प्रकट की थी कि अब भारत रूस के पिछले ३० सालों के सम्बन्धों में उतार आयेगा और भारत-रूस सन्धि तोड़ दी जायेगी। उनकी इस आशंका का आधार था, चुनाव के चार दिन पहले तक सोवियत अखबार जनता पार्टी को 'घोर प्रतिक्रियावादियों का सीधा हथियार', 'जमींदारों के हितों का रक्षक तथा देशी और विदेशी धन्ना सेठों का दलाल' कहते रहे। इन अखबारों का ख्याल था कि दक्षिण पंथी राजनीतिक तत्वों से युक्त जनता पार्टी से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह शासक दल का पद ग्रहण करने के बाद उन नीतियों पर चल सकेगी, जिनकी स्थापना पूर्ववर्ती शासक दल ने की थी। यह आशंका और भी बढ़ी जब प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने अपनी विदेशी नीति की ओर सकेत करते हुए सच्ची गुट निरपेक्षता की ओर बढ़ने तथा किसी भी देश से विशेष सम्बन्ध न रखने का संकेत करते हुए कहा—"भारत किसी एक देश के साथ विशेष प्रकार के सम्बन्ध नहीं रखेगा और सच्ची गुट निरपेक्षता की नीति पर चलेगा।" तथा भारत रूस की २० वर्षीय मैत्री सन्धि के विषय में कहा—"यदि भारत रूस मैत्री सन्धि अन्य देशों से सम्बन्ध बढ़ाने के मार्ग में बाधक होगी तो उसमें परिवर्तन करने पड़ सकते हैं।" किन्तु शीघ्र ही इन भविष्यवक्ताओं और राजनयिकों का भ्रम टूट गया, जब जनता सरकार ने सत्तारूढ़ होते ही सर्वप्रथम सोवियत विदेश मन्त्री श्री आन्द्रेईग्रोमिको को भारत-यात्रा के लिये निमन्त्रित किया और उस निमन्त्रण को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर रूस के विदेश मन्त्री ने २५–२६ अप्रैल को भारत की यात्रा की। सभी संशयों को निर्मूल बताते हुए वार्ता के दौरान विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा—"भारत रूस मैत्री एशिया तथा विश्व में शान्ति तथा स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण वरदान सिद्ध हुई है। भारत रूस मैत्री के बन्धन इतने मजबूत हैं कि उन पर एक व्यक्ति या एक राजनीतिक दल के बनने बिगड़ने का कोई असर नहीं पड़ सकता।" श्री वाजपेयी का संकेत श्रीमती इन्दिरा गाँधी तथा कांग्रेस पार्टी की हार की ओर था। यात्रा की समाप्ति पर श्री ग्रोमिको ने कहा—"मैं अपनी इस यात्रा से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। भारत के प्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री के वक्तव्य से मैंने

महसूस किया है कि भारत और सोवियत मैत्री इतनी मजबूत है कि कोई भी शक्ति इसे प्रभावित नहीं कर सकती।" उक्त दोनों कथन इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि जनता पार्टी सरकार के सत्तारूढ़ होते ही भारत-रूस सम्बन्धों के ठण्डे पड़ने की आशंका निर्मूल थी।

वस्तुत: किसी भी देश की विदेश नीति के निर्धारण में देश का हित सर्वोपरि होता है, कोई व्यक्ति अथवा दल नहीं। रूस एवं भारत दोनों के हित एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। चीन के साथ रूस की निरन्तर संघर्ष की स्थिति में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है, सोवियत संघ इसे भली-भाँति समझता है। इधर सोवियत संघ ने भारत के औद्योगिक और आर्थिक निर्माण में तो भारी सहयोग दिया ही है, पर्याप्त मात्रा में सैनिक सामग्री देकर भी कभी उसे 'सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था' मे शामिल होने अथवा अणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य नहीं किया। सम्बन्धों पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाने वाले लोगों ने इस तथ्य को नजरंदाज कर दिया था कि किसी देश से प्रगाढ़ सम्बन्ध होने तथा किसी अन्य देश से उतने गहरे सम्बन्ध न होने का एक इतिहास होता है, जो तब तक बदला नहीं जाता जब तक उससे बहुत बड़ी हानि की आशंका न हो। भारत और रूस मैत्री का आधार ठोस है और उसका लम्बा इतिहास है।

२. भारत रूस सम्बन्धों का इतिहास :

राजनैतिक सम्बन्ध : बीस वर्षीय भारत-रूस मैत्री सन्धि—भारत और रूस के सम्बन्धों का इतिहास १४ अप्रैल १९४७ से ही प्रारम्भ हो जाता है, जब यह घोषणा की गई थी कि सोवियत संघ और भारत ने राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया है। सन् १९४७ ई० में कश्मीर के सवाल पर रूस ने सुरक्षा परिषद् में भारत का साथ दिया और कश्मीर में पश्चिमी देशों की फौजें भेजने के अमेरिकी प्रस्ताव के खिलाफ विशेषाधिकार का प्रयोग किया। सन् १९५५ में जब अमेरिका के पाकिस्तान को अपने सैनिक संगठनों का सदस्य बनाकर उसे आधुनिकतम हथियारों से सज्जित करना प्रारम्भ किया तो भारत को चिन्ता होना स्वाभाविक था। भारत ने भी अमेरिका से लड़ाकू विमान खरीदने का प्रस्ताव किया तो अमेरिका ने हथियार देने से इनकार कर दिया। भारत ने तब रूस से हथियार प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की। रूस ने भारत को मिग विमान का कारखाना ही नहीं दिया, वरन् कई प्रकार के अन्य आधुनिकतम हथियार एवं पनडुब्बियाँ आदि भी प्रदान कीं। १९६१ में रूस ने सुरक्षा परिषद में अमेरिकी प्रस्ताव के खिलाफ पुन: विशेषाधिकार का प्रयोग किया, जब गोवा के मामले में भारत को आक्रामक घोषित किया जाने वाला था। यदि सचमुच ही भारत को आक्रामक घोषित कर दिया जाता तो भारत को अपनी सेनाएँ गोवा से हटानी पड़तीं एवं गोवा पुर्तगाल के अधीन ही बना रहता। सन् १९७१ के बंगला देश की मुक्ति के संदर्भ में रूस ने खुलकर पाकिस्तान की आलोचना की और पूर्वी पाकिस्तान में

७ भारत सोवियत सम्बंध: नया परिप्रेक्ष्य

१. नयी सरकार, निर्मूल संशय :

केन्द्र में जनता सरकार के सत्तारूढ़ होने की सम्भावनाओं के साथ ही साथ कुछ पत्रकारों एवं राजनयिकों ने आशंका प्रकट की थी कि अब भारत रूस के पिछले ३० सालों के सम्बन्धों में उतार आयेगा और भारत-रूस सन्धि तोड़ दी जायेगी। उनकी इस आशंका का आधार था, चुनाव के चार दिन पहले तक सोवियत अखबार जनता पार्टी को 'घोर प्रतिक्रियावादियों का सीधा हथियार', 'जमींदारों के हितों का रक्षक तथा देशी और विदेशी धन्ना सेठों का दलाल' कहते रहे। इन अखबारों का ख्याल था कि दक्षिण पंथी राजनीतिक तत्वों से युक्त जनता पार्टी से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह शासक दल का पद ग्रहण करने के बाद उन नीतियों पर चल सकेगी, जिनकी स्थापना पूर्ववर्ती शासक दल ने की थी। यह आशंका और भी बढ़ी जब प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने अपनी विदेशी नीति की ओर सकेत करते हुए सच्ची गुट निरपेक्षता की ओर बढ़ने तथा किसी भी देश से विशेष सम्बन्ध न रखने का संकेत करते हुए कहा—"भारत किसी एक देश के साथ विशेष प्रकार के सम्बन्ध नहीं रखेगा और सच्ची गुट निरपेक्षता की नीति पर चलेगा।" तथा भारत रूस की २० वर्षीय मैत्री सन्धि के विषय में कहा—"यदि भारत रूस मैत्री सन्धि अन्य देशों से सम्बन्ध बढ़ाने के मार्ग में बाधक होगी तो उसमें परिवर्तन करने पड़ सकते हैं।" किन्तु शीघ्र ही इन भविष्यवक्ताओं और राजनयिकों का भ्रम टूट गया, जब जनता सरकार ने सत्तारूढ़ होते ही सर्वप्रथम सोवियत विदेश मन्त्री श्री आन्द्रेईग्रोमिको को भारत-यात्रा के लिये निमन्त्रित किया और उस निमन्त्रण को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर रूस के विदेश मन्त्री ने २५-२६ अप्रैल को भारत की यात्रा की। सभी संशयों को निर्मूल बताते हुए वार्ता के दौरान विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा—"भारत रूस मैत्री एशिया तथा विश्व में शान्ति तथा स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण वरदान सिद्ध हुई है। भारत रूस मैत्री के बन्धन इतने मजबूत हैं कि उन पर एक व्यक्ति या एक राजनीतिक दल के बनने बिगड़ने का कोई असर नहीं पड़ सकता।" श्री वाजपेयी का संकेत श्रीमती इन्दिरा गाँधी तथा कांग्रेस पार्टी की हार की ओर था। यात्रा की समाप्ति पर श्री ग्रोमिको ने कहा—"मैं अपनी इस यात्रा से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। भारत के प्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री के वक्तव्य से मैंने

महसूस किया है कि भारत और सोवियत मैत्री इतनी मजबूत है कि कोई भी शक्ति इसे प्रभावित नहीं कर सकती।" उक्त दोनों कथन इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि जनता पार्टी सरकार के सत्तारूढ़ होते ही भारत-रूस सम्बन्धों के ठण्डे पड़ने की आशंका निर्मूल थी।

वस्तुतः किसी भी देश की विदेश नीति के निर्धारण में देश का हित सर्वोपरि होता है, कोई व्यक्ति अथवा दल नहीं। रूस एवं भारत दोनों के हित एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। चीन के साथ रूस की निरन्तर संघर्ष की स्थिति में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है, सोवियत संघ इसे भली-भाँति समझता है। इधर सोवियत संघ ने भारत के औद्योगिक और आर्थिक निर्माण में तो भारी सहयोग दिया ही है, पर्याप्त मात्रा में सैनिक सामग्री देकर भी कभी उसे 'सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था' मे शामिल होने अथवा अणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य नहीं किया। सम्बन्धों पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाने वाले लोगों ने इस तथ्य को नजरंदाज कर दिया था कि किसी देश से प्रगाढ़ सम्बन्ध होने तथा किसी अन्य देश से उतने गहरे सम्बन्ध न होने का एक इतिहास होता है, जो तब तक बदला नहीं जाता जब तक उससे बहुत बड़ी हानि की आशंका न हो। भारत और रूस मैत्री का आधार ठोस है और उसका लम्बा इतिहास है।

२. भारत रूस सम्बन्धों का इतिहास :

राजनैतिक सम्बन्ध : बीस वर्षीय भारत-रूस मैत्री सन्धि—भारत और रूस के सम्बन्धों का इतिहास १४ अप्रैल १९४७ से ही प्रारम्भ हो जाता है, जब यह घोषणा की गई थी कि सोवियत संघ और भारत ने राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया है। सन् १९४७ ई० में कश्मीर के सवाल पर रूस ने सुरक्षा परिषद् में भारत का साथ दिया और कश्मीर में पश्चिमी देशों की फौजें भेजने के अमेरिकी प्रस्ताव के खिलाफ विशेषाधिकार का प्रयोग किया। सन् १९५५ में जब अमेरिका के पाकिस्तान को अपने सैनिक संगठनों का सदस्य बनाकर उसे आधुनिकतम हथियारों से सज्जित करना प्रारम्भ किया तो भारत को चिन्ता होना स्वाभाविक था। भारत ने भी अमेरिका से लड़ाकू विमान खरीदने का प्रस्ताव किया तो अमेरिका ने हथियार देने से इनकार कर दिया। भारत ने तब रूस से हथियार प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की। रूस ने भारत को मिग विमान का कारखाना ही नहीं दिया, वरन् कई प्रकार के अन्य आधुनिकतम हथियार एवं पनडुब्बियाँ आदि भी प्रदान कीं। १९६१ में रूस ने सुरक्षा परिषद में अमेरिकी प्रस्ताव के खिलाफ पुनः विशेषाधिकार का प्रयोग किया, जब गोवा के मामले में भारत को आक्रामक घोषित किया जाने वाला था। यदि सचमुच ही भारत को आक्रामक घोषित कर दिया जाता तो भारत को अपनी सेनाएँ गोवा से हटानी पड़तीं एवं गोवा पुर्तगाल के अधीन ही बना रहता। सन् १९७१ के बंगला देश की मुक्ति के संदर्भ में रूस ने खुलकर पाकिस्तान की आलोचना की और पूर्वी पाकिस्तान में

पाकिस्तानी शासकों को अपने नृशंस व्यवहार से बाज आने को कहा। बाद में जब भारत को युद्ध में कूदना ही पड़ा तो १९७१ की 'भारत रूस की २० वर्षीय मैत्री संधि' ने भारत के मनोबल को बढ़ाए रखने में जो महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, उसे हम सभी लोग जानते हैं। अमेरिका के तत्कालीन विदेश मन्त्री डॉ० किसिंजर का रूख तो भारत विरोधी था ही। भारत को डराने धमकाने के लिये अमेरिका ने अपना सातवाँ बेड़ा बंगाल की खाड़ी में ला खड़ा किया था। उस समय रूस का समर्थन हमारे लिये कितना उपयोगी सिद्ध हुआ, यह लिखने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। इसी सन्धि का एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है कि युद्ध काल उपस्थित होने पर दोनों देश परस्पर विचार विमर्श करेंगे। जनता पार्टी सरकार के कुछ लोग इस मुद्दे को शुद्ध युद्ध काल की उपज मानकर अब इसे रद्द करने की बात सोच सकते हैं, क्योंकि इसी मुद्दे को आधार बनाकर भारत के कुछ लोगों के साथ कुछ पश्चिम के लोगों का यह विचार रहा है कि भारत अब गुट-निरपेक्ष राष्ट्र नहीं रहा। अब वह प्रत्यक्ष रूप से न सही, अप्रत्यक्ष रूप से रूस के साथ सैनिक सन्धि में बंध गया है। कुछ पश्चिमी देशों ने इसे भारत रूस 'गुप्त' या 'विशिष्ट' सम्बन्धों की संज्ञा भी दी है। प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने पश्चिम की इसी आलोचना की काट के लिये 'सच्ची गुट-निरपेक्षता' पर चलने की बात कही और इसके लिये आवश्यक होने पर अपनी विदेश नीति में यत्किंचित परिवर्तन को भी असम्भव नहीं माना। रूसी विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको की अप्रैल, ७७ की भारत-यात्रा से यह स्पष्ट हो गया है कि भारत-रूस की यह सन्धि किसी भी अन्य देश के साथ उनके सम्बन्धों की स्थापना में बाधक नहीं है। भारत अमेरिका एवं पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ भी अपने सम्बन्ध स्थापित करने के लिये स्वतन्त्र हैं। ऐसी स्थिति में इस सन्धि को रद्द करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि भविष्य में उसका कोई उपयोग नहीं हो सकेगा अथवा उससे देश का किसी प्रकार हित संभव नहीं होगा तो पत्रकार डॉ० वेदप्रताप वैदिक के शब्दों में—'उसको फिर से जगाकर मारने से अच्छा है, उसे सोते-सोते ही निरस्त हो जाने देना' क्योंकि 'जगाकर मारने से' भारत अवसरवादिता के दोषारोपण से नहीं बच सकता और उसका प्रभाव मित्र देश के साथ अपने आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों पर भी पड़ सकता है। हर्ष का विषय है कि ग्रोमिको की भारत-यात्रा के अवसर पर प्रकाशित संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों देशों ने स्वीकार किया है कि दोनों देश १९७१ की भारत-रूस मैत्री सन्धि की भावना के अनुकूल बराबरी तथा पारस्परिक लाभ के आधार पर सहयोग बढ़ाने के मार्ग पर चलेंगे।

सांस्कृतिक सम्बन्ध—दो देशों की मित्रता के वास्तविक परिचायक वहाँ के सांस्कृतिक सम्बन्ध होते हैं। राजनैतिक सम्बन्ध इन संबंधों की अपेक्षा अधिक अस्थिर होते हैं। पिछले तीस वर्षों में भारत-सोवियत संघ के सांस्कृतिक संबंधों में निरन्तर घनिष्ठता आई है। साहित्य, चित्रकला, संगीत एवं सिनेमादि के क्षेत्रों में दोनों देश एक दूसरे के, काफी निकट आये हैं। इनमें भी सर्वाधिक निकटता का कारण साहित्यिक

आदान-प्रदान बना है। सोवियत सत्ता काल में अब तक लगभग १०५ भारतीय लेखकों की पुस्तकों का सोवियत जनगण की ३४ भाषाओं में अनुवाद हुआ और उनकी तीन करोड़ से अधिक प्रतियाँ छापी गयीं। अकेले रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ही रचनाओं के १६० संस्करण प्रकाशित हुए और उनकी ६० लाख प्रतियाँ प्रकाशित हुयीं। सोवियत जनता भारतीय चित्रकार अमृताशेरगिल, अतुल बोस, एम० आर० अचरेकर व हुसैन के चित्रों की प्रदर्शनी को बहुत उत्साह से देखती है तथा भारतीय कारीगरों के काम व भारतीय संगीतकारों, फनकारों की प्रशंसक है। उदयशंकर, इन्द्रानी, रहमान, गोपीनाथ व शान्ति वर्धन जैसे कलाकारों के प्रदर्शनों को रूस में बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई है। अनेक भारतीय फिल्में, फिल्म-निर्माता एवं अभिनेता-अभिनेत्रियों को रूस में बहुत अधिक सराहा और पसंद किया गया है। सोवियत जनता विमलराय, पृथ्वीराज कपूर, बलराज साहनी, सत्यजित रे, दिलीप कुमार, मृणाल सेन, राजकपूर, नर्गिस तथा अन्य फिल्म कर्मियों की बड़ी प्रशंसक रही है। अनेक साहित्यकारों एवं चित्रकारों ने भारतीय जन समुदाय की क्रान्तिकारी चेतना, यहाँ के श्रमजीवी किसान, मजदूर, कुली कारीगर, रिक्शा-ताँगे चालकों की जीवनानुभूतियों को लेकर अपने साहित्य एवं चित्रों का निर्माण किया है। उदाहरण के लिये, पुरानी पीढ़ी के एक सोवियत कवि निकलाइ तिखोनोव ने आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक अपनी रचनाओं में भारतीय जन समुदाय की क्रान्तिकारी चेतना को, जागरण को अभिव्यक्ति दी है, जिसका अनुकरण रूसी कवि द० सुर्कोव, ए० सोफ्रोनोव, ई० विनोकुरोव तथा कवयित्री एम० केम्पे आदि अनेक साहित्यकारों ने किया है। चित्रकार एस० चुइकोव, एल० गैरासिमोव, एन० क्लिमैशिन एवं टी० नरिमान बेकोव आदि भारत की यात्रा कर चुके हैं और भारतीय जनजीवन को अपने चित्रों का विषय बना रहे हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत सोवियत सघ के सांस्कृतिक सम्बन्ध काफी गहरे हो चुके हैं और निरन्तर होते जा रहे हैं।

विज्ञान, टेक्नालॉजी, उद्योग एवं वाणिज्य आदि के क्षेत्र में सम्बन्ध—भारत के नव-निर्माण में रूस के वैज्ञानिकों, तकनीशियनों ने जो महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उससे आज सभी लोग अवगत हैं। इसका एक उदाहरण है, १९ अप्रैल, ७५ को भारतीय उपग्रह आर्यभट्ट की अन्तरिक्ष में स्थापना। यह ३६० किलोग्राम वजन का प्रथम भारतीय उपग्रह सोवियत संघ की राजधानी मास्को से कुछ दूर स्थित बियर्स झील के प्रक्षेपण स्थल से ही, सोवियत इण्टर कॉसमॉस राकेट द्वारा अन्तरिक्ष में फेंका गया। उपग्रह की १० प्रतिशत सामग्री भी रूस की ही थी। मिग विमान कारखाना इस्पात उद्योग एवं भारत हैवी इलैक्ट्रिकलस आदि को खड़ा करने में रूस ने जो योगदान किया है, वह भूलने की चीज नहीं है। व्यापार के क्षेत्र में भी दोनों देश काफी आगे बढ़ रहे हैं। मार्च, ७७ तक यह व्यापार ७५० करोड़ रुपये का था। अप्रैल, ७७ की रूसी विदेश मन्त्री की भारत यात्रा के दौरान हुए एक समझौते के

अनुसार उसमें १६० करोड़ रुपये के व्यापार की और वृद्धि होगी। सन् १९८० तक इस व्यापार को बढ़ाकर १००० करोड़ रुपये तक पहुँचाने की योजना है। इन सबके अतिरिक्त अनेक प्रकार की सैनिक सामग्री, हथियार एवं ऋण राशि देकर रूस ने सतत भारत के विकास में अपना सराहनीय योगदान किया है।

३. अप्रैल, ७७ की ग्रोमिको की भारत यात्रा की उपलब्धियाँ :

नये परिप्रेक्ष्य में ग्रोमिकों की भारत यात्रा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। इस यात्रा की सबसे बड़ी उपलब्धि तो यह रही कि भारत-रूस के सम्बन्धों के ठण्डे पड़ने एवं सन्धि टूटने की आशंका समाप्त हो गई है, जिससे इसी तथ्य की पुष्टि हुई है कि किसी भी देश की विदेश नीति का स्थायी आधार देशहित होता है, कोई दल या विशेष व्यक्ति नहीं। दोनों देशों ने मैत्री सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ बनाने की आवश्यकता पर बल दिया, जिसका प्रमाण वे तीन समझौते हैं, जो दोनों देशों के बीच सम्पन्न हुए। पहले समझौते के अनुसार रूस ने भारत को २५ करोड़ रुबल (लगभग २ अरब २५ करोड़ रुपये) का उदार शर्तों पर ऋण दिया। इस ऋण की अदायगी २० साल में की जायगी और इस पर केवल ढाई प्रतिशत ब्याज होगा। पहले तीन साल भारत को कोई भुगतान नहीं करना होगा। इस ऋण की विशेषता यह है कि अब तक रूस ने १२ वर्ष की अवधि के लिये ही कर्ज दिया था, लेकिन इस बार यह कर्ज २० साल के लिये दिया गया है। दूसरा समझौता दोनों देशों के बीच हर मौसम में सचार-सेवा की स्थापना से सम्बन्धित है और तीसरे समझौते के अनुसार १९७७ के वर्ष में भारत-रूस के व्यापार में १६० करोड़ रुपये की वृद्धि होना है। इन सबके अतिरिक्त संयुक्त विज्ञप्ति में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से सम्बन्धित सभी मसलों पर पारस्परिक हित की दृष्टि से एक मत प्रकट किया गया है। दोनों देशों ने निरस्त्रीकरण के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है और विश्व-शान्ति के लिये मिल-जुलकर प्रयत्न करने की इच्छा प्रकट की है। विश्व-शान्ति के लिये गुट-निरपेक्ष देशों की महत्वपूर्ण भूमिका की स्वीकृति, हिन्द महासागर से सभी सैनिक अड्डे हटाने की माँग, अरब क्षेत्रों से इस्रायली सेनाओं के हटने और फिलिस्तीनियों के अधिकार उन्हें दिलाने तथा दक्षिणी अफ्रीका के गोरे शासकों की निन्दा आदि सभी विषयों पर विचार किया है।

४. सम्बन्धों को और अधिक सुदृढ़ कैसे बनाया जाय ?

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत-रूस के सम्बन्ध बालू की ऐसी दीवार पर खड़े हुए नहीं हैं कि प्रतिकूल हवा के एक ही झोंके से धराशायी हो जायें किन्तु यह भी कैसे कहा जा सकता है कि इन सम्बन्धों को और अधिक सुदृढ़ बनाने की सभी सम्भावनायें समाप्त हो गई हैं। भारत की नयी जनता सरकार के कुछ घटक दलों को रूसी सरकार से कुछ शिकायतें हो सकती हैं। विरोध पक्ष की भूमिका अदा करते समय उन्होंने, रूसी सरकार की खुले आम आलोचना भी की है और

भारत-रूस सन्धि को भारतीय गुट निरपेक्षता की नीति में बाधक बतलाया है। इस आलोचना का आधार निस्सन्देह, रूस द्वारा कुछ दलों अथवा व्यक्तियों को बढ़कर प्रोत्साहन देना अधिक रहा है, देश का अहित कम। अब जनता पार्टी को अधिक व्यावहारिक होना चाहिये और रूस की उस आलोचना को भुलाकर, देश-हित को सर्वोपरि रखते हुए, रूस के साथ अपने सम्बन्धों को और अधिक मजबूत बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और यह नहीं भूलना चाहिये कि रूस ने सदैव आड़े समय में भारत की सहायता की है। उधर रूस को भी चाहिये कि वह भारतीय स्थिति का अध्ययन स्वयं गहराई के साथ करे और अपने द्वारा समर्थित किसी विशेष भारतीय दल के नजरिए से भारत के विषय में अपनी धारणायें न बनाए। भारत-चीन संबंधों का प्रभाव अवश्य ही भारत-रूस मैत्री पर पड़ सकता है। भारतीय कूटनीति की यह कसौटी होगी कि वह रूस की नाराजगी मोल लिए बिना चीन के साथ अपने संबंध सुधार सके। दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि पिछले दिनों भारतीय रुपये और रूसी रुबल की दर का पेचीदा हो गया है। दोनों देशों को विवेक एवं पारस्परिक सहानुभूति का दृष्टिकोण रखकर इसे शीघ्र ही हल कर लेना चाहिये अन्यथा यह भारत-रूस के बढ़ते हुए मैत्री सम्बन्धों में बाधक सिद्ध हो सकता है। इनके अतिरिक्त आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं तकनीकी के क्षेत्रों में परस्पर सहयोग का अभी पर्याप्त अवकाश है।

———

८ आज के भारत में युवा-पीढ़ी की भूमिका

१. युवावस्था : शक्ति का शाश्वत स्रोत

प्रकृति की विभिन्न ऋतुओं में जिस प्रकार बसंत के आगमन पर प्रकृति अपने चरम सौन्दर्य और उल्लास को प्रकट कर सकने में समर्थ होती है, नदी अपने उद्‌गम स्थल से निकल कर अपनी पहाड़ी यात्रा में, जिस प्रकार उद्दाम एवं प्रखर वेग प्रकट करती है और सागर जिस प्रकार ज्वार के समय अपनी उत्ताल तरंगों से तरंगायित होने लगता है, उसी प्रकार युवावस्था में मनुष्य की दुर्दमनीय शक्ति प्रकट होती है। युवा-शक्ति की यह प्रचंडता, दुर्दमनीयता शाश्वत है और प्रकृति की ओर से प्राप्त वरदान है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए इतिहास के साक्ष्य की कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, समय के अंधड़ ने जब तब इस बासंती वैभव को, इस उच्छलित यौवन को प्रस्फुटित न होने देने का दुस्साहस किया है, उसे झपकियाँ लेने पर विवश किया है किन्तु तभी कोई जवानी का उन्मत्त गायक ललकार उठा है—

प्राण अन्तर में लिए, पागल जवानी।
कौन कहता है कि तू
विधवा हुई खो आज पानी ?

—माखन लाल चतुर्वेदी

और जवानी फिर अँगडाई लेकर उठी है, अंधड़ को उसने फिर ललकारा है, आततायी के लिए उसका एक-एक शीश फिर हिमालय के समान भारी एवं कठोर हो उठा है, शूल उसके लिये फूल बन उठे हैं, पानी में रक्त की उष्णता समा गई है, उसने बलिदान के महाकाव्य रच डाले हैं और शहादत की अमर कहानियाँ घड़ डाली हैं।

२. युवा पीढ़ी : क्रान्ति की अगुआ

क्रान्ति का बीज प्रायः अनुभवी एवं परिपक्व मस्तिष्क में पैदा होता है किन्तु उसका प्रस्फुटन युवा-शक्ति के माध्यम से ही होता है। प्रसिद्ध विचारक 'राइट मिल्स' एवं 'मारकुस' आदि युवा छात्रों एवं बुद्धिजीवियों को ही क्रान्ति का मुख्य आधार स्वीकार करते हैं। वस्तुतः किसी भी क्रान्ति के लिए जिस अपार जोश, दुर्दम शक्ति, दृढ़ संकल्प, बड़े से बड़े बलिदान के लिए अंधी क्षमता तथा क्रान्ति की असफलता के खतरों से जूझ लेने का साहस जैसा युवा-पीढ़ी में होता है, वैसा किसी दूसरी पीढ़ी में

संभव ही नहीं है। यही कारण है कि देश-विदेश की सभी क्रान्तियाँ प्रायः युवा-पीढ़ी के बल पर ही सफल हुई हैं। भारतवर्ष में चाहे वह सर डगलस ह्यूम द्वारा १८८५ में कांग्रेस की स्थापना का प्रयत्न हो, चाहे १९२०–२१ का गाँधी जी का असहयोग आन्दोलन हो, चाहे १९४२ की क्रान्ति हो, सभी में युवा छात्रों का आह्वान किया गया है, सभी में युवा-वर्ग विश्वविद्यालय छोड़कर सड़कों पर निकला है और सभी में उसने अपना सक्रिय सहयोग दिया हैं। अभी पिछले दिनों ७४–७५ में गुजरात एवं बिहार-आन्दोलनों में जयप्रकाश को इसी युवा-शक्ति को जाग्रत करना पड़ा। अपनी सम्पूर्ण क्रान्ति का आधार भी वे इसी युवा-शक्ति को मानते रहे हैं। कौन नहीं जानता कि सन् १७८९ की प्रसिद्ध फ्रांस-क्रान्ति इसी युवा-पीढ़ी के बल पर संभव हुई? इटली और जर्मनी का सन् १८७० का एकीकरण मेजिनी, गैरीबाल्डी और बिस्मार्क जैसे युवा-नेताओं के साहस का ही परिणाम था? १९१७ की रूस की बोल्शेविक क्रान्ति में युवकों को ही बहुत बड़ी भूमिका निभानी पड़ी और १९३५–३६ में स्पेन की निरंकुशता के प्रति विद्रोह युवा-शक्ति द्वारा ही खड़ा किया गया?

३. युवा-पीढ़ी की भूमिका

आज के भारत में युवा-पीढ़ी बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं, क्योंकि इतना उसे स्पष्ट हो जाना चाहिये कि इस देश का उद्धार मात्र राजनीतिज्ञों के सहारे नहीं हो सकता। तीस वर्ष तक केवल अपनी गद्दी सुरक्षित रखने के लिए जो प्रपंच कांग्रेस करती रही, लगभग वही अब जनता सरकार भी कर रही है। जिसके ऊपर देश की प्रगति की जिम्मेदारी है। उन्हें घटकवाद, दलबन्दी और कुर्सी दौड़ की स्पर्धा से ही फुर्सत नहीं है। उन बुनियादी नीतियों और कार्यक्रमों की ओर किसी का ध्यान नहीं है, जिनसे देश मजबूत बनता है, आगे बढ़ता है। भारतवर्ष की अधिकांश जनता गांवों में बसती है। ये गाँव आज भी पिछड़े हुए हैं। भाई-भतीजावाद दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा है। निर्भयता की गुहार का गुंडों और असामाजिक तत्वों पर इतना असर हुआ है कि वे बिना किसी भय के अपराधों में लिप्त हो गए हैं और जन-जीवन में असुरक्षा का भाव बढ़ रहा है। स्वतन्त्रता के नाम पर अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है। शोषण में कोई कमी नहीं हो रही। समाज में जातिवाद, छुआछूत, दहेज आदि से सम्बन्धित कुप्रथाएँ आज भी प्रचलित हैं। ऐसे समय में केवल सरकार के भरोसे कैसे बैठा जा सकता है। युवा-पीढ़ी रचनात्मक कार्यक्रमों की ओर अग्रसर होकर राष्ट्र-निर्माण में काफी योगदान कर सकती है। ये रचनात्मक कार्य क्या हो सकते हैं, उनमें से कुछ की ओर यहां संकेत किया जा रहा है—

ग्राम विकास में अपेक्षित योगदान : गरीबी हटाने एवं साक्षर बनाने का अभियान चलायें—आज देश के सामने सबसे बड़ी समस्या अपने लगभग ५ लाख ८०,००० गाँवों के विकास की है। भारत गाँवों का देश है और इसकी ७०% जनता गाँवों में निवास करती है किन्तु आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक

दृष्टि से आज जो उसकी हालत है, वह इकतीस वर्षीया इस देश की स्वतन्त्रता पर एक कलंक है। आज गाँव के छोटी जोत वाले किसान, खेतिहर मजदूर एवं चर्मकार, बढ़ई, जुलाहा आदि दस्तकार गरीबी की सीमा रेखा से नीचे का जीवन जी रहे हैं। फलस्वरूप, वहाँ निरक्षरता, बीमारियों, गंदगी, अधिक संतानोत्पत्ति, अंधविश्वासों एवं कुरीतियों का बोलबाला है। युवा-पीढ़ी यदि इन गाँवों के विकास का संकल्प ले ले तो इन गाँवों को भी जीवन की सार्थकता का आभास हो, सरकार का भार भी हल्का हो और देश हर दृष्टि से मजबूत बने। आज गाँव में पैदा हुआ 'हरिया' शहर में जाकर डाक्टरी की शिक्षा पाता हैं और 'हरिश्चन्द्र' बनकर गाँव को भूल ही नहीं जाता, वहाँ के जीवन के प्रति घृणा प्रकट करने लगता है। शिक्षक, इंजी-नियर, वकील बनकर गाँव में जीना असुविधाजनक पाता है। यदि गाँव से शहर में आकर शिक्षा प्राप्त करने वाला युवा अपने अवकाश के दिनों में कुछ ग्रामीणों को साक्षर बनाने का संकल्प ले तो भारत में निरक्षरता का अभिशाप कितने दिन ठहरे? यदि डाक्टर गाँवों में जाकर अपनी 'डिस्पेंसरी' चलाये तो ग्रामीण नीम हकीमों के चक्कर में कितने दिन अपने स्वास्थ्य को नष्ट होते देखें? यदि युवक ग्रामीण पुरुषों एवं महिलाओं की परिवार के कल्याण के लिये नियोजित परिवार की आव-श्यकता समझायें, उसकी विधियों से अवगत करायें तो क्या इस जनसंख्या की निरन्तर बढ़ती सुरसा को वश में नहीं किया जा सकता? यदि ग्रामीणों की वैज्ञानिक ढंग से खेती करने, सहकारी समितियों द्वारा लघु कुटीर उद्योगों को खड़ा करने और इनमें आने वाली कठिनाइयों का निराकरण करने में मदद करें तो गाँव में गरीबी कितने दिन टिक पाये? दुर्भाग्य यह है कि आज का शिक्षित युवा गाँव में जाने से पूर्व शहरी सुविधाओं को टटोलता है। उसे सड़क चाहिये, बिजली चाहिये, सिनेमा चाहिये, अस्पताल चाहिये, बैंक और डाकघर चाहिये और बच्चों के लिये विद्यालय चाहिये। पहले ये सब सुविधायें दो, तब गांव चला जाय। गाँव में पहुँचकर इन सुविधाओं को जुटाने का संकल्प वह यदि ले तो गाँवों की कायापलट हो सकती है, इसे वह सोचने के लिये तैयार नहीं। इन्दिरा सरकार ने 'चलो गाँव की ओर' अभियान शुरू किया था। जनता सरकार भी ग्राम-विकास को प्राथमिकता देने को वचन-बद्ध है और उसमें वह युवा-पीढ़ी की सहायता की आकांक्षा भी रखती है किन्तु जब तक युवकों में स्वयं ग्राम-विकास की भावना न जगेगी तब तक कोई भी सरकार इस महद् कार्य में आंशिक रूप से ही सफलता प्राप्त कर सकती है, सर्वांश में नहीं।

सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों को दूर करें—आज भी देश का समाज बड़े पैमाने पर अनेक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों का शिकार है। जाति-पाँति का भेदभाव, दहेज प्रथा, मृत्यु भोज, धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक अंधविश्वास आज भी भारतीय समाज के लिए कलंक सिद्ध हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानंद, विवेकानन्द एवं गाँधी आदि के द्वारा किये गये प्रयत्नों का बहुत प्रभाव पड़ा है किन्तु कुरीतियाँ और अंधविश्वास इस देश की मिट्टी से निर्मूल नहीं

हो सके। समाज में आज भी कदम-कदम पर जाति-गत भेदभाव का अनुभव किया जा सकता है। विवाह सामूहिक भोज एवं चुनाव आदि अनेक अवसरों पर आज का शिक्षित कहा जाने वाला व्यक्ति भी जातिगत आधार पर प्रतिष्ठित होना चाहता है। विडम्बना यह है कि वैचारिक धरातल पर अनेक लोग जाति-पाँति के इस पचड़े को स्वीकार नहीं करते किन्तु व्यवहार में उसे नकार भी नहीं पाते। सामाजिक एवं राजनैतिक नेता मंच पर जाति-पाँति का खंडन करते हैं किन्तु यदि उनका पुत्र अथवा पुत्री अन्तरजातीय विवाह की इच्छा प्रकट करता है तो उसे उनके कोप का भाजन होना पड़ता है। यदि किसी चुनाव-क्षेत्र में किसी जाति विशेष के लोगों की संख्या अधिक है तो उस समय राजनैतिक नेता जातीय भावना को अधिक से अधिक उभार कर ही अपना उल्लू सीधा कर लेना चाहता है। दहेज का दानव कितने लोगों के जीवन को नरक बना रहा है, कितनों की बलि ले रहा है, कितनी मासूम कलियों को कुचल रहा है, समाचार पत्र का हर पाठक इस तथ्य से अवगत है किन्तु फिर भी अधिकांश लोग दहेज की मांग करते देखे जाते हैं। मृत्यु भोज की अपव्ययता को कौन नहीं जानता किन्तु लोक-लाज के लिये, केवल एक बूढ़ी परम्परा को ढोने के लिए आदमी विवश है। बीसवीं शताब्दी के इस वैज्ञानिक युग में भी अनेक बार राजस्थान जैसे प्रदेशों से सती-प्रथा के क्रूर उदाहरण सामने आते ही रहते हैं। धर्म के नाम पर आज भी व्यक्ति धन और पुत्रादि पाने के लिये किसी दूसरे जिन्दा बच्चे की, मनुष्य की, बलि अपने इष्ट को चढ़ाते हुए काँपता नहीं और भी न जाने कितनी-कितनी कुरीतियाँ, कितने-कितने अंध-विश्वास! यदि आज का युवक इन कुरीतियों और अंधविश्वासों को नष्ट करने का संकल्प ले ले तो ये अधिक दिन समाज को पंगु न बना पायें। इनमें से अन्तरजातीय विवाह और दहेज आदि का तो सीधा सम्बन्ध नवयुवकों से ही है। उन्हें यह सोच लेना चाहिये कि यदि इन विषयों में वे अपने माता-पिता तथा अन्य बुजुर्गों की बात मानने से इनकार करते हैं तो वे कोई अनैतिक कार्य नहीं करते।

शोषण-मुक्त समाज की स्थापना करें—शोषण-मुक्त समाज की स्थापना में भी युवा-पीढ़ी बहुत कुछ कर सकती है। आज के समाज में श्रम का शोषण तो होता ही है, व्यक्ति की भावना और आस्था तक का भी शोषण होता है। बड़े-बड़े उद्योगपति, अधिकारी, प्रकाशक आदि जहाँ श्रम का शोषण करते हैं, वहाँ राजनीतिज्ञ, धार्मिक नेता तथा-कथित गुरुजन भी भावना के शोषण को ललचते देखे जाते हैं। (यहाँ गुरुजन शब्द केवल 'शिक्षक' के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं हुआ)। युवा-पीढ़ी को इससे मुक्त होना ही चाहिये। उसे पौराणिक कथा का वह 'विन्ध्याचल' नहीं बनना चाहिए, जिसे अपने गुरु 'अगस्त्य' के सम्मुख भावना से विनत होने का परिणाम चिर विनत' रहने के रूप में भोगना पड़ा। यहाँ हम हिन्दी के नये कवि विजयदेवनारायण साही की 'नये शिखरों से' कविता उद्धृत करने का लोभसंवरण नहीं कर पा रहे हैं, जिसे प्रत्येक नवयुवक को स्मरण कर लेना चाहिये—

ओ महाप्रलय के बाद नए उगते शिखरो,
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त विन्ध्य मालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना।
आसूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख
कितने अगस्त्य आयेंगे गुरु का वेश धरे
आशीष वचन कहने वाले
चिर विनत तुम्हारा मस्तक यों ही झुका छोड़,
ये गुरुवर वापस नहीं लौट कर आयेंगे !

भ्रष्टाचार मिटायें—भ्रष्ट आचरण का क्षेत्र बड़ा व्यापक है और जीवन का कोई अंश इससे सर्वथा अछूता नहीं है। भ्रष्टता की सही-सही परिभाषा कर सकना और उसको समूल नष्ट कर सकना एक ऐसा कल्पित आदर्श माना जा सकता है, जिसकी प्राप्ति कभी भी संभव नहीं हो, किन्तु आज उसका जो दुष्परिणाम देश के विकास में बाधक सिद्ध हो रहा है, उसे तो मिटाया ही जा सकता है। विशेष रूप से राजनैतिक और प्रशासनिक क्षेत्र मे फैले भ्रष्टाचार को मिटाने में युवा-पीढ़ी बड़ा योगदान कर सकती है। इन स्तरों पर फैले भाई-भतीजावाद, जातिवाद, प्रान्तीयता, रिश्वत और लालफीताशाही आदि को मिटाये बिना देश आगे नहीं बढ़ सकता। प्रायः देखने में आता है कि राजनैतिक नेता चुनाव के समय जो दल और व्यक्ति के नाम पर चन्दा वसूलता है, उसको जो थैलियाँ भेंट की जाती हैं, किसी व्यक्ति विशेष, संस्था अथवा मिल मालिक से धन और साधन के रूप में उसे जो सहायता प्राप्त होती है, चुनाव जीत जाने पर लाइसेंस, ठेके और अन्य प्रकारों से दाता को कई गुना लाभ पहुँचाने के लिये वह अपने को बाध्य पाता है। वह अपनी भावी पीढ़ियों के भविष्य को सुरक्षित बनाने का प्रयत्न करता है और अपने हितैषियों को अधिकाधिक लाभ पहुँचाने की चिन्ता करता है, देश-हित का ध्यान उसके बाद ही उसे आता है। आज अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राजनेता बड़े-बड़े हत्याकाण्ड कराने से भी नहीं चूकते। कुर्सी दौड़ की प्रतियोगिता तो आये दिन देखी ही जाती है। अपने जरा से स्वार्थ-साधन के लिये दल-बदलू बन जाना तो राजनेता का जैसे आम फैशन हो चला है। प्रशासनिक स्तर पर भी यह भ्रष्टाचार अपना रंग दिखला रहा है। चपरासी को बख्शीश, अधिकारी को डाली और मंत्री को पार्टी-चन्दा चाहिये ही, यदि कोई वाजिब काम भी कराना है तो। यदि कार्य गैर वाजिब हुआ तो उसका परिमाण वैसे-वैसे ही बढ़ता जाता है। ऐसी स्थिति में युवा-पीढ़ी पर दायित्व आता है, वह इस भ्रष्टाचार से जूझे। वह किसी सीमा तक जूझ भी रही है किन्तु उसका यह जूझना भी अजीबोगरीब अन्तर्विरोधों और असंगतियों से युक्त है। उदाहरण के लिए—भ्रष्ट अधिकारी अथवा संस्था का युवा-पीढ़ी विरोध करती है, घेराव करती है, हड़ताल और आन्दोलन चलाती है किन्तु मौका मिलने पर स्वयं भी उसी भ्रष्ट

आचरण से युक्त हो जाती है। प्रायः देखने में आता है कि छात्र संघ कालेज अथवा विश्वविद्यालय के किसी अधिकारी को गबन का दोषी पाने पर उसके विरुद्ध आवाज उठाते हैं किन्तु इन संघों के नेता स्वयं संघों की बड़ी-बड़ी रकमों को डकारते देखे जाते हैं। छुरा-चाकू के बल पर परीक्षा में अनुचित साधनों का प्रयोग करने वाली, अनेक व्यसनों से ग्रस्त एवं राजनीतिक नेताओं के हाथों खिलौने बनी युवा-पीढ़ी जब भ्रष्टाचार निवारण की बातें करती है तो उसके परिणाम का आभास निराशाजनक ही होता है। यदि सचमुच युवा-पीढ़ी भ्रष्टाचार निवारण के यज्ञ में जुटना चाहती है तो उसे अपने इन अन्तर्विरोधों को मिटाना होगा। कथनी और करनी के अन्तराल को पाटना होगा।

याचक मुद्रा छोड़ें—युवा पीढ़ी में शक्ति का शाश्वत स्रोत निवास करता है। वह अपने श्रम, निष्ठा एवं लगन के बल पर सब कुछ प्राप्त कर सकती है—इसमें न कहीं उसका भाग्य आड़े आ सकता है और न किसी प्रकार के साधन की अल्पता। शर्त केवल यह है कि वह अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में स्पष्ट हो और उसकी प्राप्ति के लिये धैर्य, लगन एवं निष्ठापूर्वक कर्म करने में प्रवृत्त हो, किन्तु जब-जब वह लाटरीनुमा मानसिकता से ग्रस्त होकर छोटी-छोटी बात के लिये किसी के सामने गिडगिड़ाता है तो वह अपनी पीढ़ी के माथे पर कलंक का धब्बा ही लगाता है, अपनी दुर्दम शक्ति को लज्जास्पद ही बनाता है। जवानी की शोभा गिड़गिड़ाहट में नहीं है, स्वमान खोकर कुछ पा लेना जवानी का वैभव नहीं है, चरण-स्पर्शी स्वभाव जीकर भविष्य को सुरक्षित बना लेना जवानी की सार्थकता नहीं है। आजादी के बाद यह याचक मुद्रा देश में भी पनपी। दूसरों के सम्मुख हाथ फैलाने में हमने संकोच नहीं किया। भिक्षा के बल पर ही यदि देश का विकास सम्भव हो तो उसमें बुरा क्या है ? यह विचार हमें काफी दिनों तक न जाने क्यों घेरे रहा ? उसका प्रभाव हमारी युवा-पीढ़ी पर भी पड़ा और आज वह कितनी परावलम्बी होती जा रही है इसका अनुभव थोड़ा-बहुत हम सभी को है। वस्तुतः इस याचक मुद्रा से देश की जवानी नहीं संवर सकती। कठिनाइयों से जूझने और सुविधापरस्ती की प्रकृति को त्यागने पर ही उसकी अपनी अस्मिता प्रतिष्ठित हो सकेगी। उसे 'सर्वेश्वरदयाल सक्सेना' की भाँति करुणामय ईश्वर के सम्मुख भी अपना यह संकल्प प्रकट करना चाहिये—

> बज्र गिराओ जब-जब तुम, मैं खड़ा रहूँ यदि सीना ताने,
> नर्क अग्नि में मुझे डाल दो, फिर भी जिऊँ स्वर्ग-सुख माने।
> मेरे शौर्य और साहस को, करुणामय हों तो सराहिए,
> चरणों पर गिरने से मिलता है जो सुख, वह नहीं चाहिए।

(४) भावना में न बहें

युवा-पीढ़ी को देश का भावी इतिहास गढ़ना है, इसलिये उसे सदैव गहन जिम्मेदारी को निभाना ही होगा। इसे निभाने की शक्ति उसके अन्दर विद्यमान है।

खतरा है तो केवल इतना कि उचित दिशा-निर्देश न मिलने पर वह भटक सकती है, भावना के स्वाभाविक आवेग में बहकर अनिष्ट की ओर प्रवृत्त हो सकती है और विध्वंसात्मक कार्यों की ओर प्रवृत्त होकर राष्ट्र की बहुमूल्य सम्पत्ति को ही नष्ट भ्रष्ट कर सकती है। यहीं उसे अपने विवेक को जगाने की आवश्यकता होगी। उसे चाहिये कि वह भावना के आवेग को नियंत्रित कर, तटस्थ होकर, उत्पन्न हुई प्रत्येक परिस्थिति का निर्ममतापूर्वक विश्लेषण करे और तदनुरूप अपनी दिशा निर्धारित करे। दायित्व तो पुरानी पीढ़ी का भी है कि युवा-पीढ़ी का सम्यक् मार्ग-दर्शन करे किन्तु यदि पुरानी पीढ़ी अपने पूर्वग्रहों के इशारे पर चलती है, युवा-पीढ़ी को अपने ही अर्जित संस्कारों और विश्वासों के आधार पर चलाना चाहती है तो युवा-पीढ़ी को उसका सहारा छोड़ना पड़ेगा। उसे अपना दीपक स्वयं बनना होगा। उसे अनाचार, भ्रष्टाचार, अन्धविश्वास और जड़ परम्पराओं से स्वयं लड़ना होगा। किसी निराशा से अथवा अन्य कारणों वश उसे तटस्थ होकर नहीं बैठ रहना है, क्योंकि पाप करने वाला ही केवल पापी नहीं है, पाप को होते हुए देखने वाला भी पापी है—

> समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध।
> जो तटस्थ है, समय लिखेगा उसका ही इतिहास।

(दिनकर)

———

६ भारत में बेकारी की समस्या

१. बेकारी का दर्द :

सुना है कर्म वेद है, कुरान और गीता है।
यह सब कहने का कितना सुभीता है?
मेरे लिये तो कर्म रोजी है, रोटी है,
वह भी नहीं नसीब, कैसा फजीता है?

पढ़ा आपने इन पंक्तियों को। जाना इनके दर्द को। यह दर्द केवल इस अकेले बेरोजगार कवि का दर्द नहीं है। यह सब उन नवयुवकों, युवतियों का दर्द है, जो आज विश्वविद्यालयों से अच्छी से अच्छी डिग्री लेकर भी भारत की गलियों, और सड़कों पर भटकने को विवश हैं, जिन्हें रोजगार दफ्तरों के चक्कर लगाते वर्षों गुजर जाते हैं, जो अखबारों में विज्ञापन खोजते और आवेदन-पत्र लिखते-लिखते तंग आ जाते हैं। घर में, परिवार में, समाज में जिन्हें निकम्मा और आवारा कहा जाता है और जो कभी-कभी दिग्भ्रमित होकर हिंसा, तोड़-फोड़, हत्या चोरी और डाकेजनी में संलग्न होते देखे जाते हैं। यह सब उन मजदूरों का दर्द है, जो सुबह काम की तलाश में निकलते हैं और शाम को निराश होकर खाली हाथ घर लौट आते हैं, फलस्वरूप भूखे पेट सो जाते हैं। रोजाना की दाल-रोटी भी जुटा पाने का अवसर जिन्हें नहीं मिलता। जिनकी होली, दिवाली एवं ईद उस दिन आती है जिस दिन उन्हें काम मिल जाता है। उनके लिये मौसम केवल उसी दिन सुहावना होता है, जिस दिन कोई ठेकेदार उन्हें काम पर लगा लेता है। यह उन किसानों का दर्द है, जो वर्ष में अधिकाँश समय निठल्ले रह जाते हैं। यह उन दस्तकारों और शिल्पियों का दर्द है, जिनके पास कला तो है किन्तु न उसके लिये आवश्यक पूंजी है और न उचित बाजार। जिन्हें पेट की भूख मिटाने के लिये कर्म का अवसर उपलब्ध नहीं, उन्हें आध्यात्मिक भूख मिटाने का अवसर कहाँ से मिलेगा?

बढ़ती बेकारी के बोलते आंकड़े :

और इस देश में ऐसे व्यक्तियों की संख्या काफी है। एक सर्वेक्षण के अनुसार देश में ३१ दिसम्बर, ७७ को रोजगार दफ्तरों के रजिस्टरों पर नौकरी ढूंढ़ने वाले १ करोड़ लोगों के नाम दर्ज थे। यह तो केवल रोजगार दफ्तरों की संख्या है, इस समय सभी प्रकार के बेरोजगारों की कुल संख्या अनुमानतः ४ करोड़ से ऊपर है और शीघ्र ही, यानी १९८० तक ही इसके ६ करोड़ से ऊपर हो जाने की आशंका है। हमारे यहाँ लगभग

४४ लाख लोग प्रतिवर्ष काम चाहने वालों की कतार में शामिल हो जाते हैं। इन बेरोजगारों में ग्रामीण बेरोजगारों की संख्या अधिक है। ग्रामीणों का मुख्य पेशा कृषि है। जनसंख्या के बढ़ते दबाव के कारण बहुत से किसान भी मजदूरों की श्रेणी में आ गये हैं, क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में कृषि योग्य भूमि निरन्तर घटती चली गयी है। देहाती क्षेत्र में सन् १९५१ में प्रति व्यक्ति १·१८ हेक्टर भूमि उपलब्ध थी, जो कि सन् १९७६ में १·०९ हेक्टर रह गयी। इसी कारण किसान भी मजदूर बनने को विवश हुआ। सन् १९६१ में किसानों की संख्या नौ करोड़ तीस लाख थी, जो कि १९७१ में सात करोड़ अस्सी लाख रह गयी, यानी लगभग डेढ़ करोड़ किसान काम चाहने वालों में जा खड़े हुए। इस अवधि में भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की संख्या दो करोड़ ७० लाख से बढ़कर चार करोड़ ७० लाख तक पहुँच गयी। वृद्धि के ये आंकड़े आज भी उसी ओर अग्रसर हैं। शिक्षित बेरोजगारों की भी लगभग ऐसी ही स्थिति है। १९६६ से १९७२ के बीच मैट्रिक पास रोजगार चाहने वालों की संख्या तीन गुना बढ़ गयी और पूर्व स्नातक तथा स्नातक रोजगार चाहने वालों की संख्या क्रमशः चार गुना और छः गुना बढ़ गयी। हाल की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में शिक्षित बेरोजगारों की सख्या ८१·५२ लाख है। पंच-वर्षीय योजनाओं के रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने वाले कार्यक्रमों का भी कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड सका। प्रथम योजना के अन्त में बेरोजगारी का प्रतिशत २·९ था तो तीसरी योजना के अन्त में यह बढ़कर ४·५ प्रतिशत हो गया। आशय यह है कि चाहे ग्रामीण हों चाहे शहरी, चाहे अशिक्षित हों चाहे शिक्षित, बेरोजगारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

३. क्यों बढ़ रही है यह कतार ?

बेरोजगारों की सख्या में निरन्तर वृद्धि का सबसे प्रमुख कारण तो जनसंख्या में वृद्धि का होना है। १९५१ से १९६१ वाले दशक में यहाँ जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि दर २·२ प्रतिशत थी, वही १९६१–७१ के दशक में २ ५ प्रतिशत हो गयी। १९७१–८१ में यह और नहीं बढ़ पायेगी, अभी तो इसके कोई आसार नजर नहीं आते। जिन देशों में बेकारी की समस्या नहीं है, वहाँ की जनसख्या की वार्षिक वृद्धि की दर बहुत कम है। उदाहरणार्थ, जापान, पश्चिमी जर्मनी और फ्रांस की वार्षिक वृद्धि दर १% है और ब्रिटेन, बेल्जियम तथा चेकोस्लावाकिया की केवल ० ६ प्रतिशत। इस समय भारत की जनसंख्या ६० करोड़ से ऊपर है और यदि जनसंख्या वृद्धि की यही दर रही तो इस शताब्दी के अन्त में यह संख्या एक अरब तक पहुँच जायेगी। स्पष्ट है, जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है, उस गति से भूमि, उद्योग एवं उत्पादन के अन्य साधनों में वृद्धि नहीं हो रही। तब बेरोजगारी बढ़ेगी ही।

दूसरा कारण श्रम-प्रधान आर्थिक नीति का अभाव है। यह जाना माना तथ्य है कि भारत श्रम प्रधान देश है किन्तु हमने पूँजी प्रधान औद्योगिक विकास पर अधिक ध्यान दिया है। भारी उद्योगों में श्रमिक का स्थान भारी मशीनें ले लेती हैं

और एक भारी मशीन अनेक मजदूरों की रोटी छीन लेती है। यही कारण रहा कि इन भारी उद्योगों में १९५१ से लेकर १९७० तक केवल चालीस लाख लोगों को रोजगार मिला। भारी उद्योगों को प्राथमिकता देने के कारण कृषि एवं लघु उद्योग-धन्धों का समुचित विकास हम नहीं कर पाये, जहाँ बेरोजगारों को खपाने की असीमित सम्भावनायें विद्यमान हैं।

शिक्षा प्रणाली का दूषित तथा व्यवसायपरक न होना भी बेरोजगारी का एक प्रमुख कारण रहा है। शिक्षा का उद्देश्य तो मनुष्य का चहुँमुखी विकास कर उसको सभी चिन्ताओं से मुक्त करना है। यदि पढ़-लिखकर व्यक्ति में रोजी-रोटी कमाने की भी क्षमता न उत्पन्न हुई तो रोटी से बड़े सवालों को हल करने की उम्मीद तो उससे की ही नहीं जा सकती। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही क्लर्क बनाने वाली इस लार्ड मैकाले द्वारा निर्मित शिक्षा-प्रणली को अनुपयोगी ठहराया जा रहा है किन्तु कोई भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हम शिक्षा के क्षेत्र में नहीं ला पाए। सारे परिवर्तन ८+४, ८+२+२, ८+३ एवं १०+२+३ वर्षीय फार्मूलों में आकर उलझ जाते हैं। आगे बढ़ ही नहीं पाते। फलस्वरूप, विद्यार्थियों में शारीरिक श्रम के प्रति एक उपेक्षा एवं हीनता का भाव समा गया है। उनमें स्वावलम्बन का भाव विकसित ही नहीं हो पाता। वे डिग्री लेकर रोजगार देने वाले के मुखापेक्षी बनते हैं, स्वयं रोजगार पैदा कर लेने वाले नहीं। वे कर्मठ किसान अथवा छोटे-मोटे उद्योग के मालिक बनने की बजाय सफेदपोश बाबू बनना अधिक पसन्द करते हैं और उसे अधिक सम्मानजनक भी मानते हैं। यह सफेदपोशी मानसिकता न जाने कितनों को बेरोजगारों की पंक्ति में ला पटकती है, कितनों को आत्महत्या करने की ओर अग्रसर करती है और कितनों को ही पथ से भ्रष्ट कर चोर-डाकू, लुटेरा और हत्यारा बना देती है।

इनके अतिरिक्त बेरोजगारी के कुछ अन्य कारण भी हैं। जैसे, समाज में व्याप्त कुप्रवृत्ति—जो कम से कम व्यक्तियों से अधिक से अधिक काम लेना चाहती है; एकाधिकार की भावना—बहुत सारी भूमि अथवा सम्पत्ति एक ही व्यक्ति के अधिकार में रहने से जो अनेक के रोजगार छीन लेती हैं; अन्धविश्वास एवं रूढ़िवादिता—जो कुछ पेशों पर निम्न एवं कुछ पर उच्च का लेबल लगा देती है, पेशों को विभिन्न जातियों और समुदायों से जोड़ देती है और भाग्यवादिता—जो काहिली को जन्म देती है, व्यक्ति को अकर्मण्य बनाती है।

४. समस्या से कैसे निपटा जाय ?

यों स्वतन्त्रता के बाद विभिन्न योजनाओं के माध्यम से बेकारी की इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया है। समय-समय पर कुछ विशेषज्ञों की समितियों की नियुक्ति भी हुई है। समितियों की सिफारिशों को भी कार्यान्वित करने का प्रयत्न हुआ है किन्तु बेकारी की समस्या हल होती नहीं नजर आती। आवश्यकता इस बात की है कि हम समय-बद्ध ठोस कार्यक्रम बनायें और इसे हल करने का प्रयास करें।

सबसे पहला काम बढ़ती हुई जनसंख्या पर अंकुश लगाने का होना चाहिए। रोग पैदा होने पर उसका उपचार ढूंढने से कहीं अच्छा है, रोग को पैदा ही नहीं होने दिया जाय। जनता को समझ लेना चाहिये कि परिवार का वास्तविक कल्याण एक सीमा से अधिक परिवार को न बढ़ने देने में ही है। सरकार को भी समझ लेना चाहिये कि आपातकाल की जोर जबर्दस्तियों ने जहाँ जनता के मन में वन्ध्यकरण का हौआ बैठा दिया, वहाँ उसके एक मन्त्री द्वारा नसबन्दी कराने वालों को जानवरों से भी बदतर करार देने, देशवासियों को पौराणिक भूल भुलैयों में भरमाने, आयुर्वेद और होमियोपैथी के अचूक नुस्खों की दुहाई देने अथवा ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का उपदेश देने ने भी परिवार-नियोजन जैसे अति आवश्यक कार्यक्रम को ठप्प करने में मदद की है। उसी का फल है कि आपात काल में जहाँ ८० लाख नसबन्दियाँ हुईं, वहीं १९७७ के वर्ष में यह संख्या १० लाख से भी कम रही और इसकी भी ७५ प्रतिशत नसबन्दी दक्षिण के राज्यों में की गईं। हम यदि मानें कि आपात काल में जोर जबर्दस्ती के कारण इतनी नसबन्दियाँ सम्भव हुईं तो आपात काल से पूर्व भी ४५ लाख नसबन्दियों के लक्ष्य के अन्तर्गत नसबन्दी का औसत ३० लाख प्रति वर्ष बना रहा और अब केवल १० लाख। यह बड़ी ही दुःखद स्थिति है। यानी मार्च, १९७९ तक १००० के पीछे जन्मदर ३० तक लाने का लक्ष्य अब पाँच साल तो पिछड़ ही गया है। आने वाले वर्षों में यदि परिवार-नियोजन कार्यक्रम को पूरी गति के साथ चलाया जाता रहा, तब जाकर छठी योजना की समाप्ति तक, जन्मदर जो इस समय १००० के पीछे ३३ है, उपरोक्त लक्ष्य तक पहुँचायी जा सकेगी, किन्तु क्या सरकार उसे पूरी गति से चलाने में समर्थ है? शायद नहीं। बेरोजगारी दूर करनी है तो जनसंख्या पर अंकुश जरूरी है।

दूसरी आवश्यकता है श्रम प्रधान आर्थिक नीति एवं कार्यक्रमों को गति देने की, भारी उद्योगों की अपेक्षा लघु कुटीर उद्योगों का जाल बिछाने की। मत्स्यपालन, रेशम उत्पादक कीट पालन, मुर्गी पालन, मधुमक्खी पालन, एवं वन-रोपण इत्यादि गतिविधियों के सहारे लाखों लोगों को काम मिल सकता है। सिंचाई योजनाओं को पूरा करने, ग्रामीण विद्युतीकरण, सड़कों और भवनों के निर्माण, कृषि उपादानों से सम्बन्धित सेवायें उपलब्ध करने वाले मरम्मत केन्द्रों एवं कृषि-विज्ञान केन्द्रों के सम्यक् संचालन से कितने ही बेरोजगारों को रोजगारी बनाया जा सकता है। अभी अपने देश में कृषि योग्य भूमि में से सात करोड़ हेक्टर भूमि ऐसी है, जो भू-क्षरण से ग्रस्त है। यदि इस जमीन में से केवल ३० लाख हेक्टर भूमि को सुधारने का काम हाथ में लिया जाय तो दस लाख आदमियों को वर्ष भर के लिये काम मिल सकता है। यदि देहाती क्षेत्रों में केवल १ लाख किलोमीटर सड़क-निर्माण की योजना को कार्यान्वित करें तो ८० लाख लोगों को वर्ष भर के लिये काम मिल सकता है। इसी प्रकार ऊसर भूमि को कृषि योग्य बनाने एवं बाढ़-नियन्त्रण के लिये बाँध बनाने आदि के कार्यक्रम हाथ मे लिये जा सकते हैं।

भारत प्राकृतिक सम्पदा की दृष्टि से भी एक सम्पन्न देश है। इस प्राकृतिक सम्पदा के दोहन से सम्बन्धित कार्यक्रम बनाये जा सकते हैं। वन, पर्वत, नदी एवं समुद्रों से प्राप्त होने वाली विविध प्रकार की सामग्री कितने ही लोगों की जीविका चला सकती है, कितने ही लघु-उद्योग खड़े कर सकती है।

शिक्षा पद्धति को भी इस रूप में ढालना होगा, जिससे विद्यार्थी में श्रम के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो। जो केवल आजीविका कमाने के लिये ही शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं, उन्हें वैसी ही तकनीकी शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाय। उच्च शिक्षा केवल उन जिज्ञासुओं को दी जाय, जो ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अध्ययन एवं अन्वेषण करना चाहते हैं।

पिछले दिनों केन्द्रीय सरकार ने श्री बी० भगवती की अध्यक्षता में एक बेरोजगार समिति की नियुक्ति की थी। उसने अनेक सिफारिशें की हैं, जिनमें मुख्य हैं— रोजगार एवं जन-शक्ति आयोग की स्थापना करना, क्षेत्रीय विकास निगमों की स्थापना, उद्योगों का विकेन्द्रीकरण करना एवं कुटीर उद्योग धन्धों के समुचित विकास के लिये उन्हें संस्थागत साख (Institutional Credit) उपलब्ध कराना आदि। समिति ने ग्रामीण विद्युतीकरण एवं लघु सिंचाई योजना के कार्यक्रमों के द्रुत विकास पर अत्यधिक जोर दिया है। जनता सरकार इनमें से अधिकांश को स्वीकृत कर चुकी है। आवश्यकता है, इन्हें शीघ्रातिशीघ्र कार्य रूप में परिणत करने की।

५. निष्कर्ष :

भारत एक विकासशील देश है। इसकी बेरोजगारी की समस्या विकसित देशों की समस्या से भिन्न अतएव, उतनी जटिल नहीं है। विकासशील देश में विकास की अनन्त सम्भावनायें छिपी होती हैं। यदि उन अनन्त सम्भावनाओं में से कुछ को भी उजागर करने एवं कार्यान्वित करने के कार्यक्रम बनाये जायें तो बड़ी सीमा तक बेरोजगारी की समस्या को हल किया जा सकता है। वस्तुतः अभी उत्पन्न यह समस्या देश में औद्योगिक क्षेत्र के असन्तुलित विकास एवं व्यवसायोन्मुख शिक्षा के अभाव के कारण है। यदि उद्योगों में थोड़ी-थोड़ी पूंजी वाले लघु उद्योगों पर अधिक ध्यान दिया जाय, साथ ही कृषि को भी उद्योगों के समान ही विकसित करने का संकल्प किया जाय तो यह समस्या हल हो सकती है। छठी योजना में कृषि विकास की गति को चार प्रतिशत बढ़ाने का विचार रखा गया है और ७८–८३ तक रोजगार के अवसरों में जो ४९ करोड़ जनवर्ष के हिसाब से वृद्धि करने का लक्ष्य रखा है, उसमें से पचास प्रतिशत रोजगार के अवसर कृषि क्षेत्र से ही प्राप्त होंगे। ग्रामीण अशिक्षित लोगों की बेरोज़गारी को ग्रामीण विकास का व्यापक कार्यक्रम बनाकर हल किया जा सकता है तो शहरी बेरोजगारी को श्रम प्रधान उद्योग धन्धों को विकसित करके तथा शिक्षा पद्धति में यथावश्यक परिवर्तन करके हल किया जा सकता है। देश के कर्णधारों को देश में उपलब्ध अतुल जन-शक्ति और प्राकृतिक सम्पदा के दोहन के कार्यक्रम शीघ्रातिशीघ्र बनाने चाहिये अन्यथा, यह समस्या देश के भावी विकास के मार्ग में अवरोध ही उत्पन्न न करेगी, बल्कि उसके स्वस्थ यशः-काय के लिये नासूर भी सिद्ध हो सकती है।

—: ० :—

१० परिवार नियोजन से परिवार-कल्याण तक

१. परिवार-नियोजन क्यों ?

हिन्दी के गीतकार कवि नीरज की पंक्तियाँ हैं—

छोटा हो घर और छोटा बिछौना हो तो
ज्यादा मेहमान घर बुलाना एक गलती है,
महके न बगिया का कोई फूल अगर
तो अँगना में बगिया लगाना एक गलती है।

यदि छोटे से घर में अधिक मेहमान आमंत्रित कर लिये जायें तो अतिथियों की असुविधा के साथ-साथ आतिथेय को भी असुविधा होगी। उचित खाद, पानी, धूप और हवा आदि के अभाव में, यदि आंगन की बगिया का कोई फूल न महक सके तो उस बगिया की सार्थकता ही क्या है ? किसी भी विचारवान व्यक्ति की इच्छा हो सकती है कि उसकी संतान खूब फूले फले। उसका शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से सर्वांगीण विकास हो और वह सार्थक जीवन जी सके। उसकी इस इच्छा की पूर्ति तभी सम्भव है, जब उसकी संतान को विकास के सभी साधन और सुविधायें प्राप्त हों। 'यदि छोटे घर में अधिक मेहमानों को आमंत्रित' करने की कोशिश की गई तो व्यक्तित्व विकास के लिये अपेक्षित सुविधाओं की तो बात ही क्या, काम चलाऊ सुविधायें जुटाना भी कठिन हो जायेगा। जो बात एक परिवार के लिये सच हो सकती है, वही देश के लिये भी हो सकती है। यदि किसी देश की जनसंख्या, वहाँ के उपलब्ध प्राकृतिक, औद्योगिक एवं कृषि सम्बन्धी साधनों की तुलना में बहुत अधिक है तो उस देश के निवासियों के व्यक्तित्व का सम्यक् विकास सम्भव नहीं हो सकेगा, जिससे वह देश उन्नति की दौड़ में पिछड़ जायेगा।

जनसंख्या की दृष्टि से भारत विश्व का सबसे बड़ा दूसरा देश है। इतना बड़ा कि यदि विश्व के सभी लोगों को एक पंक्ति में खड़ा किया जाये तो उस पंक्ति का हर छठा व्यक्ति भारतीय होगा, जबकि भारत का क्षेत्रफल विश्व का कुल २·४ प्रतिशत ही है। इस समय देश की जनसंख्या ६० करोड़ से ऊपर पहुँच चुकी है, यानी पिछले अट्ठाईस-तीस वर्षों में यह लगभग दूनी हो गयी है और यदि वृद्धि का यही क्रम जारी रहा तो अनुमान किया जाता है कि इस सदी के अन्त तक यह संख्या लगभग एक अरब तक आ पहुंचेगी। स्पष्ट है कि जनसंख्या-वृद्धि के इस अनुपात में

देश के आर्थिक साधनों में वृद्धि न हो सकेगी। जब साठ करोड़ जनसंख्या वाला देश वर्तमान में विश्व के निर्धन देशों में गिना जाता है और वह अपनी जनसंख्या के एक बड़े भाग को जीवन के लिये आवश्यक साधन-सामग्री नहीं जुटा पाता, तब इस सदी के अन्त में उत्पन्न होने वाली स्थिति कितनी भयानक होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। पिछले कुछ दिनों में देश ने प्राय: अनेक क्षेत्रों में उन्नति की है किन्तु उसका लाभ जनसाधारण को उतना नहीं मिल पाया, जितनी आशा की जाती थी। इसका प्रमुख कारण भी भारत की निरन्तर बढ़ने वाली जनसंख्या में ही निहित है। अत: यदि देश को आगे बढ़ाना है, जनसाधारण के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना है और विकास कार्यों का लाभ जनता तक पहुँचाना है तो जनसंख्या की इस बाढ़ को नियंत्रित करना आवश्यक है। परिवार-नियोजन इस बाढ़ को नियंत्रित करने का एक मात्र सही और सर्वोत्तम साधन है।

२. परिवार-नियोजन : कितना नया, कितना पुराना

अपने वतमान रूप में भारत का 'परिवार-नियोजन' कार्यक्रम कुछ नया सा प्रतीत हो सकता है किन्तु जनसंख्या-वृद्धि के खतरों के प्रति यहाँ का विचारक सदैव जागरुक रहा है। वैदिक ऋषि बार-बार कहता है—'बहु प्रजा निर्ऋतिमा विवेश'—अर्थात् ! अधिक संतान वाला व्यक्ति घोर कष्टों का अनुभव करता है। यह यथार्थ अनुभव उस काल के ऋषि का है, जिसमें जनसंख्या कम थी और जीवन के साधन असीमित थे और जीवन इतना जटिल नहीं था, जितना आज है। राजस्थान में प्राचीन काल से ही एक कहावत चली आ रही है—'घणी बरखा कण हाण, घणा पूत कुल हाण' अर्थात्—यदि वर्षा आवश्यकता से अधिक हो तो अन्न की हानि होती है और यदि अधिक संतान हो तो वंश नष्ट हो जाता है। ये सब कहावतें यूँही प्रचलित नहीं हो गई, इनके पीछे शताब्दी का अनुभव और चिन्तन है। हमारे पुराण-इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि जब-जब किसी जाति और देश में संख्या की आशातीत अभिवृद्धि हुई, तब-तब उस जाति और उस देश पर घोर संकट आया और वह अधोगति को प्राप्त हुआ। यादवों का उदाहरण लिया जा सकता है। कहते हैं, जब उनकी सख्या ५६ करोड़ हो गई तो उनमें पारस्परिक कलह और विद्वेष इतना बढ़ गया कि सम्पूर्ण भरत-खण्ड के विनाश का ही खतरा उत्पन्न हो गया। श्री कृष्ण में इतनी सामर्थ्य थी कि वह अपने कुल को पारस्परिक विद्वेष के इस संकट से उबार सकते थे किन्तु वंश-वृद्धि के दुष्परिणामों के दूर दृष्टा कृष्ण ने वैसा नहीं किया। दूसरा उदाहरण राजा सगर के साठ हजार पुत्रों का प्रस्तुत किया जा सकता हैं, जिन्होंने अपने मद में चूर्ण होकर धरती को ही खोदना शुरू कर दिया था और अन्तत: कपिल मुनि के क्रोध से दग्ध अपने इन पूर्वजों के त्राण के लिये भगीरथ को कठोर तपस्या करनी पड़ी थी।

३. शक्ति एक में या अनेक में :

देश को अधिक शक्तिशाली और सुरक्षित बनाने में जन-बल की अपनी महत्त्व-

पूर्ण भूमिका हो सकती है किन्तु कौन-से जन-बल की ? जो कुपोषण का शिकार रहा है, जिसका शारीरिक और मानसिक विकास ही समुचित रूप से नहीं हो पाया, फलस्वरूप, जो बल-हीन, कायर, आलसी तथा अपनी तमाम असफलताओं और दुर्बलताओं के लिए ईश्वर, भाग्य, सरकार अथवा समाज को उत्तरदायी मानकर, यथा-स्थिति में जीवन ढोने को ही अपनी नियति मानता है ? क्या ऐसा जन-बल देश को शक्तिशाली बना सकता है ? 'सिहों के लँहड़े नहीं होते, साधुओं की जमात नहीं होती, हँसों की लम्बी चौड़ी पांते उड़ती नहीं देखी जातीं' किन्तु सिंह, साधु और हंसों की यह विरलता गीदड़, दुर्जन और कौओं की सघनता से कितनी उपयोगी, समर्थ एवं सार्थक होती है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये । संस्कृत का सूक्तिकार जब यह कहता है—

'वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्ख शतान्यपि'

अर्थात्—एक गुणी पुत्र सैकड़ों मूर्खों की अपेक्षा श्रेष्ठ है तो उसे कोरा आदर्शदर्शी कहकर ही नहीं नकारा जा सकता, उसमें कुछ तथ्य अवश्य है । छोटे-छोटे सहस्रों तारों की अपेक्षा अकेला चन्द्रमा कहीं अधिक प्रकाश दे सकने में समर्थ होता है । इतिहास साक्षी है कि केवल परिमाण की बहुलता अच्छे परिणाम का कारण कभी नहीं बनीं । कौरवों की अपेक्षा पाण्डवों की सख्या निश्चय ही न्यून थी । महाराजा शान्तनु का भीष्म जैसा तेजस्वी पुत्र अकेला ही था । कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और प्रद्युम्न के भी पराक्रमी पुत्र अनिरुद्ध अकेले ही थे । राजा हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहिताश्व अकेला ही था । सिद्धार्थ, जो बाद में चलकर महात्मा बुद्ध कहलाये, शुद्धोधन के दस-पाँच पुत्रों में से कोई एक नहीं था । आज भी कितने ही ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो अपने माता-पिता की अकेली सन्तान रहे किन्तु जिन्होंने देश और जाति के लिये इतने महान् कार्य किये कि मानवता उनसे कभी उऋण नहीं हो सकेगी । निश्चय ही ऐसे उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं, जिनके कई भाई-बहन रहे और उन्होंने मानवता की अपूर्व सेवा की, तो भी इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि शक्ति संख्या की बहुलता में ही निवास करती है, विरलता में नहीं । हमारी दृष्टि में तो विरलपन विरलों में ही दृष्टिगोचर होता है, अस्मिता-रहित 'अनेक' से अस्मितावान एक कहीं श्रेयस्कर है ।

४. नसबन्दी : परिवार-नियोजन का सबसे सरल एवं सस्ता साधन :

एक समय था, जब हमारे ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्य-व्रत को प्रोत्साहन दिया था । वस्तुतः संतति-निरोध का यह प्राकृतिक साधन बेजोड़ था किन्तु इसकी व्यावहारिकता पर तब भी प्रश्न-चिन्ह लगा हुआ था और आज फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन के निष्कर्षों ने इसकी सहजता को और भी अधिक प्रश्नवाचक बना दिया दिया है । तब भी संयम की आवश्यकता और उसकी उपयोगिता को नकार सकना कठिन होगा । वैसे, आज विज्ञान के इस युग में सर्वत्र कृत्रिम साधनों का बोलबाला है । परिवार नियोजन के लिये भी अनेक कृत्रिम साधनों का विकास किया जा चुका

है। इन साधनों में निरोध, झागदार टिकिया, लूप, कैप्सूल, पिल एवं नसबन्दी आदि उल्लेखनीय हैं। आज विदेशों के साथ-साथ अपने देश में भी अनुसन्धान केन्द्रों में परिवार-नियोजन की सरल, सस्ती एवं हानि-रहित विधियों पर अनुसन्धान किया जा रहा है। इस क्षेत्र में 'ऑल इण्डिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइन्सेज', नई दिल्ली सबसे आगे है। इस संस्थान को एक संतति-निरोध टीका बनाने का श्रेय प्राप्त है। एक अन्य विधि पर भी कार्य हो रहा है और वह है—कैप्सूल विधि। एक छोटी-सी कैप्सूल त्वचा के नीचे रख दी जाती है। इसमें एक स्टीरायड होता है, जो कुछ समय तक शरीर में रिसता रहता है और इस तरह गर्भ नहीं ठहर पाता। दिल्ली और बम्बई में लगभग आठ सौ महिलाओं के यह कैप्सूल लगाकर देखी गई और इसे सफल पाया गया। यह आठ मास तक काम करती है और फिर दूसरी कैप्सूल लगानी पड़ती है। इस समय प्रयत्न किया जा रहा है कि यह कैप्सूल एक वर्ष तक चले। उक्त विधि पिल के मुकाबले अच्छी है, क्योंकि पिल रोज लेनी पड़ती है और इसके कुछ बुरे प्रभाव भी होते हैं। कैप्सूल विधि अपनाने में महिलाओं को कोई कठिनाई नहीं आती। लेकिन अभी इस विधि में कुछ कठिनाइयाँ हैं। मुख्य समस्या खुराक तथा खन के नियन्त्रण की है। निष्क्रिय कैप्सूल को शरीर से निकालने की भी समस्या है। परिवार-नियोजन की विधियों में एक नया रुख यह आया है कि सहवास के बाद निरोधक विधियाँ अपनायीं जायें। यह हार्मोन तथा प्रोस्टेग्लेडिन से संभव है किन्तु इस विधि में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं और इसे शत-प्रतिशत विश्वस्त नहीं कहा जा सकता।

परिवार-नियोजन के अब तक खोजे गये साधनों में सबसे सरल, विश्वसनीय एवं सस्ता साधन नसबन्दी को ही बताया जा रहा है। यह पुरुष और स्त्री दोनों के लिये ही अच्छी है। महिलाओं में फैलोपियन नलियों को बाँध दिया जाता है, जिससे मादा अण्डा नलियों तक न पहुँचकर पुरुष के शुक्राणुओं से नहीं मिल पाते और गर्भ नहीं ठहर पाता। पुरुषों में शुक्राणु ले जाने वाले मार्ग बाँधकर काट दिये जाते हैं, जिससे शुक्राणुओं का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस विधि में यौन-भावना एवं शक्ति का कोई ह्रास नहीं होता। इसके अलावा इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि आवश्यकता होने पर नसबन्दी को बदला जा सकता है और बच्चा पैदा किया जा सकता है। इन विधियों के अतिरिक्त चिकित्सा-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी कुछ अच्छे साधन खोज लेने के दावे किये जा रहे हैं। भविष्य ही बतायेगा कि उनमें कितनी सार्थकता है।

५. परिवार-नियोजन में बाधक तत्त्व :

अशिक्षा, अन्धविश्वास, साधनों का समुचित अभाव, निर्धनता एवं समाज-विरोधी तत्त्वों द्वारा उत्पन्न किया आतंक आदि वे तत्त्व हैं, जिनके कारण भारत में 'परिवार-नियोजन' के कार्य में बाधा आती है। अशिक्षित व्यक्ति परिवार-नियोजन की गम्भीर आवश्यकता का ही अनुभव नहीं कर पाता। उसका विश्वास है कि पैदा होने वाला जहाँ एक मुख लेकर पैदा होता है, वहीं दो हाथ लेकर भी। बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिये अपेक्षित पोषण-सामग्री जुटाने की वह ऐसी चिन्ता नहीं

नहीं करता, जैसी उसे करनी चाहिये। यदि बच्चे कुपोषण का शिकार होते हैं, अस्वस्थ रहते हैं तो वह इसे भाग्य का खेल मानता है। फलतः परिवार-नियोजन के लिये किया गया कोई भी प्रयत्न, उसकी दृष्टि में, कुदरत के क्षेत्र में अनुचित दखलंदाजी है। स्वयं अपने तथा पूर्वजों के तर्पण के लिये वह संतानोत्पत्ति को आवश्यक मानता है। कई कन्याओं का पिता बनने पर भी लड़के का पिता बनने की आकांक्षा उसमें बनी रहती है। कुछ धार्मिक अन्ध-विश्वास भी इस कार्यक्रम की असफलता का कारण बनते हैं। यद्यपि परिवार-नियोजन के साधन-भूत विविध उपकरणों के उत्पादन में भारत वर्षों पहिले स्वावलम्बी हो चुका है, तदपि ये दूर-दराज के अनेक गाँवों तक अब भी नहीं पहुँच सके हैं। इनकी प्रयोग विधि की जानकारी भी भलीभाँति नहीं दी गई है। लोग स्वास्थ्य और यौन-शक्ति पर पड़ने वाले इनके प्रभाव के प्रति भी निश्शंक नहीं हो सके हैं। गाँवों तक अस्पतालों का जाल बिछा हुआ नहीं है। नसबन्दी के बाद जिस सावधानी और सुविधा की अपेक्षा होती है, वह निर्धनों को मुहैया नहीं की जाती।

इस सबके अतिरिक्त, इस आन्दोलन को सबसे बड़ा खतरा एक ओर उन समाज विरोधी तत्त्वों से है, जो अपने क्षणिक स्वार्थ की सिद्धि के लिये इस कार्यक्रम को बदनाम करते हैं और इसे केन्द्र बनाकर जन-मानस को आतंकित करते हैं तथा दूसरी ओर देश के तथा-कथित नेताओं एवं सरकारी मशीनरी के उन अधिकारियों से भी है, जिन्होंने लोक-सभा चुनावों से पहले इसके अंधाधुंध कार्यान्वयन को अपनी उन्नति की सीढ़ी बनाना चाहा और चुनावों के बाद, इसकी निंदा को अपनी उन्नति की सीढ़ी बनाना चाहते हैं।

दुर्भाग्य से इस आन्दोलन के साथ कुछ ऐसे व्यक्तियों का नाम भी जुड़ गया है, जनता की दृष्टि में जिनकी प्रतिष्ठा गिरी है। इस कार्यक्रम के कार्यान्वयन में ज्यादतियाँ भी हुयीं हैं, तो भी इसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जाना चाहिये कि दोषी सरकार अथवा अधिकारियों के साथ इस आन्दोलन को ही गलत ठहरा दिया जाय। आज का कोई भी विवेकशील व्यक्ति परिवार-नियोजन की आवश्यकता से इनकार नहीं कर सकता। अब, जबकि इसके विरोधी कहे जाने वाले मुस्लिम देश भी इसकी गहन आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं, तब भारत के लिये इससे पीछे हटना राष्ट्रीय हित की दृष्टि से घातक सिद्ध हो सकता है।

६. परिवार नियोजन से परिवार-कल्याण तक :

आपातकाल में 'परिवार-नियोजन' कार्यक्रम एक आन्दोलन का रूप ले चुका चुका था। १९७६ के वर्ष को तो पूर्णतः 'परिवार-नियोजन' का वर्ष कहा जा सकता है। इस अकेले वर्ष में ८० लाख नसबन्दियाँ की गईं, जबकि लक्ष्य केवल ४३ लाख का था। निश्चय ही अधिकारियों ने इसमें अतिरिक्त उत्साह दिखलाया और इसमें अनेक प्रकार की जोर जबर्दस्तियाँ की गईं। इस कार्यक्रम की गूँज भारत के दूर-दराज के गाँवों तक पहुँची किन्तु दुर्भाग्यवशवह गूँज आतंक बन गई। १९७७ के चुनावों में जनता पार्टी ने इसका खूब राजनैतिक लाभ उठाया और इसकी जोर-जबर्दस्तियों को

अपने चुनाव का प्रमुख मुद्दा बनाया। जनता सरकार को गद्दी तो मिल गई किन्तु इस कार्यक्रम को भारी आघात पहुँचा। कितना आघात पहुँचा, इसका अनुमान केवल इस अकेले तथ्य से लगाया जा सकता है कि चुनाव के डेढ़ साल बाद तक केवल दस लाख के लगभग नसबन्दियाँ हुई, जबकि आपातकाल के पूर्व के वर्षों में भी इसका औसत ३० लाख प्रतिवर्ष रहा।

जनता सरकार ने सत्ता मिलते ही 'परिवार-नियोजन' का नाम बदलकर 'परिवार-कल्याण केन्द्र' कर दिया और संभवतः कल्याण के प्रति आश्वस्त भी हो गई। विवाह की उम्र बढ़ा दी गई। लड़कियों की उम्र १५ के स्थान पर १८ वर्ष और लड़कों की १८ के स्थान पर २१ वर्ष कर दी गई। इसके साथ ही नियम संयम की दुहाई दी, ब्रह्मचर्य के महत्व की चर्चा की, पौराणिक कथाओं का हवाला दिया और परिमाण डेढ़ वर्ष में १० लाख नसबंदी, उनका भी अधिकांश दक्षिण के राज्यों में सम्पन्न हुआ। निश्चय ही यह दुःखद स्थिति है, जिसके लिये जहाँ आपातकाल की ज्यादतियाँ जिम्मेदार हैं, वहीं जनता सरकार की लापरवाही भी।

७. उपसंहार

परिवार-नियोजन कार्यक्रम इस समय देश के लिये एक महत्वपूर्ण आवश्यकता बन चुका है। इस कार्यक्रम को यदि वांछित गति नहीं मिल पाई तो भावी दस वर्षों में देश की गरीबी दूर करने के जनता सरकार के संकल्प की पूर्ति में कठिनाई उत्पन्न होगी। प्रत्येक भारतीय का दायित्व है कि वह इस आन्दोलन को घर-घर पहुँचाये और इस विषय में उत्पन्न आतंक और गलत फहमियों को दूर करे। देश के समुचित विकास के लिये इसकी महती आवश्यकता की अनुभूति जन-जन को कराये, जिससे वह बिना किसी सरकारी या गैर सरकारी दबाव के भी नियोजित परिवार के लिये स्वयं को प्रस्तुत कर दे। निश्चय ही यह आदर्श स्थिति होगी। प्रश्न यह है कि जब तक लोक-मानस इसके लिये भली प्रकार तैयार न हो, क्या तब तक इस कार्यक्रम को स्थगित किया जा सकता है? हमारा विचार है, नहीं। किन्तु इसके लिये जोर जबर्दस्ती की भी आवश्यकता कहाँ रहती है? यदि देश के सारे सामाजिक एवं प्रशासनिक साधनों को इसके लिये उपयुक्त वातावरण के निर्माण में लगा दिया जाय, देश के लगभग ७ हजार 'परिवार-कल्याण केन्द्र' और १५ हजार स्वास्थ्य कर्मचारियों की सेना पूर्ण निष्ठा के साथ यदि कार्य करे और इस विषय में उत्पन्न हुई भ्रान्तियों को दूर कर, लोगों को विश्वास में लेने का प्रयत्न किया जाय तो शीघ्र ही इसके अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है। चिकित्सा-क्षेत्रों को भी नसबन्दी के अतिरिक्त कोई ऐसा सस्ता सरल एवं हानि रहित साधन खोजना चाहिये, जो सभी को आसानी से सुलभ कराया जा सके। नसबन्दी की व्यवस्था के साथ ही साथ नसबन्दी के बाद की विश्राम तथा उपयुक्त भोजनादि की व्यवस्था भी की जानी चाहिये। परिवार को नियोजित रखने वालों को सरकार से हर प्रकार का प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन मिलना चाहिये।

———

११ भारत में जनसंख्या की विस्फोटात्मक स्थिति

१. निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या :

एक युग था जब ऋग्वेद का ऋषि नवविवाहिता को आशीर्वाद देता—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।

अर्थात्—'हे इन्द्र, इस नारी को उत्तम पुत्र वाली और सौभाग्यवती करो। इसके गर्भ में दस पुत्र स्थापित करो, पति को लेकर इसे ग्यारह मनुष्यों वाली बनाओ।'

वह यह युग था जब जनसंख्या सीमित एवं आय के साधन असीमित थे। आर्य लोग एक स्थान की भूमि के अनुर्वर होते ही उसे छोड़ देते थे और आगे बढ़ कर नये जंगल जलाते थे और कृषि योग्य भूमि पा जाते थे। इस स्थिति में भी वे सन्तान आधिक्य के खतरों से अवगत न हों, ऐसी बात नहीं। ऋषि स्वीकार करता है—

'बहु प्रजा निर्ऋतिमा विवेश'

अर्थात्—'अधिक संतान वाला घोर कष्टों का अनुभव करता है।' आज के 'परिवार-नियोजन' के प्रचलित नारों से इसकी तुलना की जा सकती है। उस युग में ब्रह्मचर्य एवं संयम के प्रति जो विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है, उसका कारण भी उक्त धारणा में खोजा जा सकता है। आज की स्थिति सर्वथा भिन्न है। आज हमारी संख्या साठ करोड़ के लगभग जा पहुँची है, यानी पिछले अट्ठाईस वर्षों में यह लगभग दूनी हो गई है। प्रतिदिन हमारे यहाँ ३५ हजार आबादी बढ़ जाती है और एक डेढ़ वर्ष में एक आस्ट्रेलिया हम जोड़ लेते हैं। यदि वृद्धि का यही क्रम जारी रहा तो अनुमान किया जाता है कि वर्तमान सदी के समाप्त होते होते यह संख्या एक अरब तक पहुँच जायेगी। तब स्थिति क्या होगी, कोई भी विचारवान व्यक्ति इसका अनुमान लगा सकता है। अब भी जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में चीन के बाद भारत का ही स्थान है। विश्व की जनसंख्या का लगभग $\frac{1}{6}$ भाग भारत में ही निवास करता है जबकि भारत का क्षेत्रफल विश्व का कुल २·४ प्रतिशत ही है। यही नहीं, जनसंख्या वृद्धि की दर भी विश्व के अन्य देशों की तुलना में यहाँ अधिक है। 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की एक रिपोर्ट के अनुसार पिछले दशक (१९६०—७०) में जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि दर जहाँ पश्चिमी जर्मनी, जापान और फ्रांस में एक प्रतिशत एवं

ब्रिटेन, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया में ०·६ प्रतिशत रही वहाँ भारत में यह दर २·५ प्रतिशत थी। इस बेतहाशा बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुपात में देश के आर्थिक साधन नहीं बढ़ पा रहे हैं। भूमि एवं अन्य प्राकृतिक संसाधन भी सीमित ही हैं। ऐसी स्थिति में यदि आज का सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र का चिन्तन नव-विवाहित को दस के बजाय 'तीन नहीं केवल दो' का आशीर्वाद देता है तो वह भारत की जनसंख्या की वर्तमान विस्फोटात्मक स्थिति के प्रति अपनी जागरूकता का ही परिचय देता है।

२. नियंत्रण की आवश्यकता

पिछले कुछ दिनों से सरकार ने 'गरीबी हटाओ' पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है और उत्पादन-वृद्धि को इसका आधार माना है। देश ने अनेक क्षेत्रों में उत्पादन की दृष्टि से अप्रत्याशित तरक्की की है। उदाहरण के लिये, रूस में अनाज की पैदावार ४२ वर्ष में तीन गुनी हुई लेकिन भारत में १८ वर्ष में अनाज का उत्पादन दूना कर लिया गया। कृषि-क्षेत्र के साथ औद्योगिक उत्पादन में भी तीन से पाँच गुना तक वृद्धि हुई है। फिर भी गरीबी जहाँ की तहाँ है, लोगों के जीवन स्तर में गिरावट ही आई है। इसका मूल कारण जनसंख्या की वृद्धि में ही निहित है। यदि इस वृद्धि पर अंकुश नहीं लगाया गया तो सरकार का गरीबी हटाने का प्रयत्न केवल प्रयत्न ही बनकर रह जायेगा और समाज का गरीब एवं निर्बल वर्ग और अधिक गरीब एवं निर्बल होता जायेगा।

विशेषज्ञों का कहना है कि मस्तिष्क का ९० प्रतिशत विकास जन्म के बाद के पहले चार वर्ष में पूरा हो जाता है। इस उम्र में यदि बच्चे को पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन न मिले तो उसकी सामान्य दिमागी क्षमता में २५ प्रतिशत की कमी रह जाती है। ऐसा माना जाता हैं कि दिमागी क्षमता में १० प्रतिशत की कमी भी जीवन के उस दौर में, जब युवक उत्पादन क्षेत्र में आता है, बेड़ियों का काम करती है। बड़े होकर युवक फिर उसी स्थिति को दोहराते हैं, जिसके कारण उनका दिमागी विकास नहीं हो सका था। आज स्थिति यह है कि भारत के करोड़ों बच्चे कुपोषण का शिकार होकर या तो अल्पायु में ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते हैं अथवा वे अर्ध-विक्षिप्त, विकलांग और पंगु होकर जीते हैं। जीवन के स्वस्थ एवं सन्तुलित विकास के लिए जो आवश्यक सुख-सुविधाएँ उन्हें मिलनी चाहिये, वे सब नहीं मिल पातीं। तब इनके जीवन की सार्थकता क्या है? क्या इस अविकसित और अर्ध विकसित संतति से देश के समुचित विकास की आशा की जा सकती है? जिसका अपना विकास नहीं हुआ वह देश का विकास कैसे करेगा? जब आज यह स्थिति है तो इस शताब्दी के बाद, जब देश की जनसंख्या एक अरब तक पहुँच जाने की आशंका है, तब की भयावह स्थिति का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। अतः सतति के स्वस्थ शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए, पारिवारिक सुख की प्राप्ति के लिए एवं आर्थिक सुदृढ़ता के लिए, जनसख्या पर नियत्रण आवश्यक है।

३. जनसंख्या वृद्धि के कारण :

समस्या के इस परिप्रेक्ष्य में यदि जनसंख्या-वृद्धि के कारणों पर दृष्टिपात किया जाय तो हम पायेंगे भारत की निरक्षता, गरीबी, अंधविश्वास एवं जीवन के प्रति लोगों का अनुत्तरदायित्वपूर्ण एवं सतही दृष्टिकोण आदि वे कारण हैं, जिन से यह समस्या उग्र से उग्रतर होती जा रही है। ये सभी कारण परस्पर इतने अधिक संश्लिष्ट हैं कि ये सभी कार्य भी हैं और एक दूसरे के कारण भी। यह जाना माना तथ्य है कि भारत गाँवों का देश है। यहाँ की अधिसंख्य जनसंख्या गाँवों में निवास करती है और इन गाँवों में विद्या का प्रकाश अभी तक पूरी तरह नहीं पहुँचाया जा सका है। साक्षरता का प्रतिशत केवल २९·३५ तक पहुँच पाया है, जिसमें पुरुष साक्षरता ३९·४६ एवं स्त्रियों की केवल १८·४७ प्रतिशत ही है। फलस्वरूप, जनसंख्या का ७० प्रतिशत अभी अज्ञानांधकार में भटक रहा है। वह समस्या के भीषण खतरों से न अवगत है और न ही इसके प्रति जागरूक है। वह संतानोत्पति में संलग्न है। शताब्दियों के अज्ञान के संस्कारों ने उसे इतना जड़ बना दिया है कि अपनी अथवा अपनी संतान के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की कोई आकांक्षा उसमें जगती ही नहीं। वह विश्वास करता है कि यदि उत्पन्न होने वाला एक मुख लेकर पैदा होता है तो दो हाथ लेकर भी। अपनी गरीबी को वह ईश्वरीय वरदान अथवा भाग्य का खेल मानकर चलता है और अकर्मण्यता के नाग-पाश में कसता चला जाता है। संतानोत्पत्ति के किसी भी कृत्रिम निरोध को वह ईश्वरीय विधान में जबरदस्ती की दखलंदाजी मानता है और प्राकृतिक एवं सहज साधन-ब्रह्मचर्य पालन तथा संयम के पालन में स्वयं को अक्षम पाता है। पुत्र-प्राप्ति को वह इस लोक की ही सफलता का कारण नहीं मानता अपितु परलोक को सुधारने का भी साधन मानता है। यही कारण है कि अनेक पुत्रियों की प्राप्ति के बाद भी उसके मन में पुत्र-प्राप्ति की आकांक्षा बनी रहती है और वंश-बेल की चिंता में वह संतानोत्पति करता ही जाता है। यह तो रही अशिक्षितों की बात। यहाँ के शिक्षित कहे जाने वाले वर्ग में भी ऐसे व्यक्तियों का सर्वथा अभाव नहीं है, जो आज भी अपनी जाति-विशेष की संख्या में कुछ कमी हो जाने से चिन्तित हैं और इसी आधार पर उन्हें इस जाति का भविष्य अंधकारमय दृष्टिगत होता है। एक वर्ग ऐसा भी है जो बहुपत्नीवाद को अपना धर्म-प्रदत्त अधिकार मानता है और इस पर नियंत्रण को धर्म-निरपेक्ष सत्ता का अपने धर्म में अनधिकार दखल। इस सबके परिणाम की ओर संकेत करने की आवश्यकता नहीं।

४. समस्या का समाधान :

यह सही है कि इस समस्या के समाधान के लिये अशिक्षा और गरीबी को मिटाना नितान्त आवश्यक हैं किन्तु यह भी सही है कि अशिक्षा और गरीबी को यकायक नहीं मिटाया जा सकता। देश की सम्पूर्ण क्षमता का भरपूर उपयोग करने पर भी इसमें समय लगेगा। स्पष्ट है कि तब तक जनसंख्या वृद्धि को अनियंत्रित

नहीं छोड़ा जा सकता। उसके लिए प्रत्यक्ष प्रयत्न की आवश्यकता होगी। 'परिवार नियोजन' कार्यक्रम ऐसा ही प्रत्यक्ष प्रयत्न है, जिसके माध्यम से किसी सीमा तक जनसंख्या के परिसीमन को संभव बनाया जा सकता है। इसके साथ ही साथ लोगों को इस समस्या के प्रति जागरूक बनाना भी बहुत आवश्यक है, क्योंकि जब तक वे विश्व-खाद्य एवं कृषि संस्था की इस चेतावनी को 'यदि अन्न की उत्पत्ति में वृद्धि करने और जनसंख्या को नियंत्रित करने का तत्काल प्रयत्न नहीं किया गया तो विकाशील देशों को निकट भविष्य में जबरदस्त भुखमरी का सामना करना पड़ सकता है और लगभग ८० करोड़ लोग भूख से मर सकते हैं। जब तक इस समस्या को गम्भीरता से नहीं लेंगे तब तक इस दिशा में किए सभी प्रयत्न निरर्थक ही सिद्ध होंगे।

आपात काल में कांग्रेस सरकार ने राष्ट्रीय स्तर पर 'परिवार-नियोजन का व्यापक कार्यक्रम चलाया था। सरकार इस कार्यक्रम को कितना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण मानती रही, यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जायेगी कि जहाँ प्रथम पच-वर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के लिए केवल १४ लाख पचास हजार रुपये की व्य-वस्था की गई थी, वहीं दूसरी योजना में यह राशि २ करोड़ १५ लाख ६० हजार रुपये, तीसरी में २७ करोड़ रुपये एवं चौथी में यह ३०० करोड़ रुपये तक पहुँच गई। प्रत्येक राज्य और केन्द्र शासित प्रदेशो में परिवार-नियोजन कार्यालयों की स्थापना की गई। परिवार नियोजन कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए केन्द्र एवं राज्य-स्तर पर अनेक प्रशिक्षण संस्थान खोले गये हैं। अनेक संस्थाओं को परिवार-नियोजन के सम्बन्ध में अनुसंधान के लिए प्रवृत्त किया गया। जड़ी बूटियों के उपयोग पर भी अध्ययन किया जा रहा है। गर्भ-निरोधक औषधियों एवं उपकरणों के क्षेत्र में भारत तृतीय योजना मे ही आत्म-निर्भर हो गया था। आज झागदार टिकियों, ट्यूब, लूप एवं नसबंदी आदि अनेक उपकरणों एवं कार्यक्रमों का प्रयोग इस हेतु किया जा रहा है, और इन विभिन्न उपकरणों से अब करोड़ से भी अधिक व्यक्ति लाभान्वित हो चुके हैं। निश्चय ही यह संख्या अल्प है। अस्पतालयों और चिकित्सालयों में नसबन्दी की व्यवस्था की गई किन्तु गांवों तक अस्पतालों का जाल नहीं बिछ पाया। जो चलते-फिरते अस्पताल वहाँ पहुँचकर शल्य-क्रिया का कार्य करते है, उनसे गांव वाले शकित रहते हैं, क्योंकि शल्य-क्रिया के बाद जैसी व्यवस्था होनी चाहिये, वह ग्रामीणों के लिये उपलब्ध नहीं हो पाती। कृत्रिम उपकरणों का चलन भी अभी तक गाँवों में नहीं हो पाया। उसे वहाँ अभी भी अनैतिक माना जाता है। गर्भपात को वैध घोषित करने वाला कानून १ अप्रैल, ७२ से लागू कर दिया गया है। जहाँ इससे अनैतिक आचार को बढ़ावा मिला है, वहाँ इसके कुछ सुखद परिणाम भी सामने आ रहे हैं। पिछले दिनों इस कार्यक्रम में की गई ज्यादतियों एवं जोर जबर्दस्ती के कारण इसे बदनामी उठानी पड़ी। इतनी बदनामी कि ७७ के लोकसभा चुनावों के बाद यह कार्यक्रम लगभग ठप्प पड़ गया। जनता सरकार ने 'परिवार-नियोजन' का

नाम बदलकर इसे 'परिवार-कल्याण' नाम दिया किन्तु नाम बदलने से ही तो परिवार का कल्याण नहीं हो जाता। इसके लिए तो परिवार को सीमित करने के कुछ कारगर उपाय करने ही होंगे। अभी तक जनता सरकार इस कार्यक्रम को गम्भीरता से नहीं ले पाई है और नसबन्दी के कार्य में १९७६ की अपेक्षा लगभग दस गुना ह्रास हुआ है। उसे इस कार्यक्रम की खोई प्रतिष्ठा को पुन: स्थापित करने का प्रयत्न करना होगा, अन्यथा आज नहीं तो कल उसकी अन्य उपलब्धियों पर भी पानी फिर जायेगा।

विवाह की आयु में वृद्धि भी जनसंख्या परिसीमन में सहायक हो सकती है। जनता सरकार ने इसके लिये कानून बना भी दिया है. जिसके अनुसार अब भारत में विवाह के लिये लड़के की आयु २१ वर्ष और लड़की की आयु १८ वर्ष होना अनिवार्य कर दिया गया है। इससे आबादी की बाढ़ में १२ से ४० प्रतिशत तक का फर्क पड़ने की आशा की जाती है। इस कानून में पुलिस के हस्तक्षेप किये जाने की व्यवस्था कर देने से उस कमी को भी दूर करने का प्रयत्न किया गया है, जो शारदा एक्ट (१९३०) को लागू करने में थी और जिसके कारण वह एक्ट लगभग आधी शताब्दी तक लागू रहने पर भी निष्प्रभावी रहा। शारदा एक्ट में यह व्यवस्था थी कि किसी नागरिक की शिकायत पर ही पुलिस हस्तक्षेप कर सकती थी और नागरिक समाज के भय से शिकायत करता नहीं था। फलस्वरूप बाल-विवाहों पर कोई रोक न लग सकी। अब पुलिस बिना शिकायत के भी हस्तक्षेप कर सकती है किन्तु यह हस्तक्षेप पुलिस का धन कमाने का अतिरिक्त जरिया न बन जायेगा, ऐसा कौन कह सकता है? इसके लिए तो शिक्षा के प्रचार द्वारा बाल-विवाह के भयंकर परिणामों से भारतीयों को, विशेष रूप से ग्रामीणों को अवगत कराना होगा। सामाजिक आन्दोलन चलाना होगा, तभी कहीं जाकर शताब्दियों से चली आ रही इस दूषित परम्परा को मिटाया जा सकेगा। गर्भपात को कानूनी करार दिये जाने का लाभ हुआ है। आवश्यकता अब अशिक्षा और गरीबी पर चोट करने की है। गांवों में मनोरंजन के साधनों को भी विकसित करने की आवश्यकता है। इसके लिये स्थानीय लोक-गीतों नौटंकियों एवं लोकनृत्यों को अधिकाधिक लोकप्रिय एवं स्थायी मनोरंजन के साधन के रूप में विकसित किया जाना चाहिये। यथासंभव योग एवं ब्रह्मचर्य की प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा दिया जाना चाहिये।

५. जनसंख्या परिसीमन युग का धर्म :

वस्तुतः जनसंख्या-परिसीमन के इन सब कार्यों को युद्ध-स्तर पर करने की आवश्यकता है। इस कार्य में युवक-युवतियों को आगे आना चाहिये, जो न केवल स्वयं इस समस्या के प्रति सचेत रहकर जन-संख्या-परिसीमन में योग दें, वरन् गाँव-गाँव जाकर इस पुण्य-कार्य का शंख फूकें। इस कार्य में रेडियो, टेलीविजन एवं समाचार पत्रों के साथ-साथ समाज सुधारक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं से भी सहायता ली जा सकती है। ये सब गाँवों में जायें और जनसंख्या वृद्धि के खतरों से उन्हें अवगत करायें। उनके अंध-विश्वासों और शंकाओं का निराकरण करें. जिससे वे स्वतः उन साधनों एवं उपायों के प्रति आकृष्ट हों, जिनसे संतति निरोध में मदद मिलती है। यौन-शिक्षा का प्रयोग भी इस सन्दर्भ में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। हमें यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि जनसंख्या परिसीमन का कार्य आज के युग का धर्म है, सच्ची देश-भक्ति है और विश्व मानवता का कल्याण है।

१२ उत्तर प्रदेश का पुनर्गठन

१. पुनर्गठन का औचित्य :

देश के कुछ बड़े-बड़े राज्यों को तोड़कर छोटे-छोटे राज्य बनाने की माँग पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर की जाती रही है। इन में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान और आन्ध्र प्रदेश जैसे अनेक बड़े राज्यों का उल्लेख किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश आबादी की दृष्टि से देश का सबसे बड़ा राज्य है। देश की कुल आबादी का लगभग १५ प्रतिशत यहीं निवास करता है। यह देश के ९ प्रतिशत भू-भाग को घेरे है। आबादी और क्षेत्रफल की दृष्टि से पश्चिमी यूरोप और दक्षिणी अफ्रीका के दर्जनों देश इससे छोटे हैं। देश को तीन-तीन प्रधानमंत्री इस प्रदेश ने दिये हैं। चीनी एवं गेहूँ का अधिकांश यही प्रदेश देता है। इतना होने पर भी यह देश के सबसे पिछड़े हुए राज्यों की श्रेणी में आता है। अन्य राज्यों की तुलना में विकास की दर यहाँ काफी कम रही है। जो कुछ विकास हुआ भी है, वह भी बड़ा असंतुलित रूप में हुआ है, जिससे क्षेत्रीय विषमता बढ़ी है। फलतः पहाड़ी एवं पूर्वी इलाकों में बड़े पैमाने पर गरीबी का बहुत बड़ा कारण इसका बड़ा होना है। क्षेत्रीयता का भाव पनपने के कारण मुख्यमंत्री अपनी कुर्सी बचाने के चक्कर में व्यस्त रहते हैं, विकास पर सम्यक् ध्यान नहीं दे पाते। राजनीतिक अस्थिरता बनी रहती है। केन्द्रीय सहायता भी उतनी नहीं मिल पाती, जितनी कि इसे मिलनी चाहिये। पहाड़ी, पश्चिमी एवं पूर्वी भागों के आर्थिक साधनों एवं आवश्यकताओं में भी समानता नहीं है। भाषा, खान-पान एवं रहन-सहन के स्तर में भी अन्तर है। राज्य की राजधानी लखनऊ राज्य के पूर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्रों से काफी दूर पड़ती है, जहाँ पहुँचने के लिये लोगों को काफी पैसा एवं समय खर्चना पड़ता है। ऐसी स्थिति में इसके सम्यक् विकास के लिये इसका पुनर्गठन आवश्यक हो जाता है।

२. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

वर्तमान उत्तर प्रदेश के स्वरूप के निर्माता और संगठनकर्ता अंग्रेज थे। अंग्रेजों से पूर्व उत्तर प्रदेश का यह विशाल भूभाग कभी एक राज्य नहीं था। इसके एकीकरण की कहानी सन् १७७५ से लेकर १८५६ तक के इसके इतिहास की कहानी है। सन् १७७५ में अंग्रेजों ने आसफुद्दौला से वर्तमान उत्तर प्रदेश का दक्षिणी पूर्वी भाग लिया था। गंगा और यमुना नदियों के बीच का दोआबा अंग्रेजों ने सन् १८०१ में अवध के नवाब सआदत अली से छीना था। १८१६ में एंग्लो गुरखा युद्ध के बाद कुमायूं और गढ़वाल पर कब्जा किया था। यमुना नदी के उत्तर का क्षेत्र अंग्रेजों ने द्वितीय

मराठा युद्ध के बाद सन् १८०३ और १८०५ के बीच हड़पा था। १८५६ में लार्ड डलहौजी ने सारे अवध पर कब्जा किया था। इस प्रकार १७७५ से १८५६ के बीच टुकड़े-टुकड़े रूप में उत्तर प्रदेश को संगठित किया गया और उसका नाम संयुक्त प्रांत आगरा और अवध रखा गया। यही बाद में उत्तर प्रदेश कर दिया गया।

३. अब तक पुनर्गठन क्यों नहीं हुआ :

यह आश्चर्य का विषय हो सकता है कि इतने विशाल प्रदेश का अब तक पुनर्गठन क्यों नहीं किया गया, जबकि इसकी माँग १९५३ से ही, जब 'राज्य पुनर्गठन आयोग' का निर्माण हुआ था, निरन्तर की जाती रही है किन्तु इसे अकारण नहीं कहा जा सकता। पिछले तीस वर्षों की अधिकांश अवधि में प्रदेश में कांग्रेस का शासन रहा है। अतः प्रदेश के पुनर्गठन की मांग विपक्षी दलों द्वारा की जाती रही। सन् १९७७ से स्थिति बदली है। जनता सरकार के शक्ति में आने पर जनता पार्टी में ही अनेक सदस्यों एवं विधायकों ने इसके पुनर्गठन की माँग की है एवं आन्दोलन तक की धमकी दी। इस समय भी कांग्रेस विरोध कर रही है और सत्तासीन रहते हुये तो उसने विरोध किया ही। वस्तुतः सबसे अधिक जनसंख्या वाला प्रदेश होने के कारण यहाँ से चुने गये विधायकों की संख्या भी अधिक होती है और इस अधिक संख्या का राजनीतिक दल प्रधानमंत्री के चुनाव तथा अन्य अवसरों पर लाभ उठाते रहे हैं। इस कारण जब भी इसके पुनर्गठन का सवाल पैदा हुआ, तभी निहित स्वार्थी तत्त्वों ने इसका विरोध किया।

कुछ अन्य दलीलें भी दी जाती रहीं। एक तो यह कि यदि पुनर्गठन की माँग को स्वीकार किया गया तो अन्य राज्यों के निवासी भी ऐसी ही माँगें करेंगे और फिर इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं होगा। यह आवश्यक नहीं कि उनकी माँगे उचित ही हों। दूसरे, राज्य के विभाजन से प्रशासनिक व्यय में अत्यधिक वृद्धि होगी। विधान सभाओं, मंत्री मण्डलों, उच्च न्यायालयों एवं माध्यमिक शिक्षा परिषदों तथा लोक सेवा आयोगों जैसी राजकीय संस्थाओं के गठन में व्ययभार बढ़ जायेगा। यह भी संभव है कि जो पिछड़े इलाके विकसित एवं सम्पन्न इलाकों के साथ नत्थी हैं; वे अलग-थलग पड़ जायें एवं अपने हाल पर जीने के लिये मजबूर हों। इन सब दुःसंभावनाओं में दम हो सकता है किन्तु यदि विभाजन के बाद होने वाला लाभ इनसे बड़ा सिद्ध हो सकता हो तो इन सबका निराकरण असंभव नहीं है। इस दलील में कोई दम नहीं है कि उत्तर प्रदेश का पुनर्गठन स्वीकार कर लेने पर अन्य राज्यों के पुनर्गठन की भी माँग उठेगी। यदि ऐसा होता भी है तो इसमें हानि क्या है ? जब भारत से आधी जनसंख्या वाले देश उत्तरी अमेरिका में ५० राज्य हो सकते हैं तो क्या हिन्दुस्तान में १०-१५ राज्य और नहीं बढ़ाये जा सकते ? छोटे राज्य होने पर पिछड़े एवं अपेक्षाकृत कम विकसित क्षेत्रों के विकास पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जा सकेगा। उनके लिये अलग से विकास-कार्यक्रम तैयार किये जा सकेंगे और इस प्रकार कुछ ही दिनों में राज्यों की प्रशासन व्यवस्था पर बढ़ने वाले अतिरिक्त व्यय को पूरा किया

जा सकेगा। इस दृष्टि से हरियाणा एवं पंजाब का उदाहरण सामने है। दोनों में जो हरित एवं श्वेत क्रान्तियाँ हुई हैं, लघु एवं कुटीर उद्योग पनपे हैं; सड़क, बिजली एवं सिंचाई की जो सुविधायें बढ़ी हैं, वे हम सबके सामने हैं। यद्यपि जनता पार्टी के घोषणा पत्र में राज्यों के पुनर्गठन के बारे में कोई आश्वासन नहीं दिया गया था, तदपि उसने सत्ता के विकेन्द्रीकरण की तो सदैव वकालत की ही है। साथ ही उसके चरणसिंह, मधुलिमये एवं अटलबिहारी वाजपेयी जैसे अधिकाँश नेता सदैव छोटे राज्यों के समर्थक रहे हैं। ऐसी स्थिति में, केवल राजनीतिक कारण से उत्तर प्रदेश के पुनर्गठन पर गम्भीरता पूर्वक विचार न करना राज्य की जनता के एवं अंततः देश के भी व्यापक हित के विरुद्ध सिद्ध हो सकता है।

४. पुनर्गठन के लिये प्राप्त विभिन्न सुझाव :

उत्तर प्रदेश के पुनर्गठन के सम्बन्ध में मुख्यतः तीन सुझाव थोड़े हेर-फेर के साथ प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। एक सुझाव सरदार पणिक्कर का है, जो उन्होंने १९५३ में गठित 'राज्यपुनर्गठन आयोग' के सदस्य की हैसियत से १९५५ में प्रस्तुत आयोग की रिपोर्ट में दिया था। उनका सुझाव था कि उत्तर प्रदेश को दो भागों में विभाजित किया जाय। एक राज्य उत्तर प्रदेश के मेरठ, आगरा, रुहेलखण्ड और झाँसी डिवीजनों के जिले तथा मध्य प्रदेश के भिंड, मुरैना, ग्वालियर, शिवपुरी और दतिया जिलों को मिलाकर बनाया जाय और दूसरा शेष जिलों को मिलाकर। इस नये राज्य का नामकरण उन्होंने 'आगरा राज्य' के नाम से किया था और आगरा को ही इसकी राजधानी बनाने का प्रस्ताव किया था। इस सुझाव में जो सबसे बड़ी कमी नजर आती है, वह यह है कि इस स्थिति में देहरादून, गढ़वाल एवं कुमायूँ जैसे पहाड़ी क्षेत्रों और प्रदेश के पूर्वी क्षेत्रों में पिछड़ेपन की समानता होने पर भी आर्थिक साधनों भाषा, खान-पान एवं रहन-सहन की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता है। अतः विकास के समान कार्यक्रम अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकेंगे। दूसरे राजधानी चाहे जिस नगर को बनाया जाय, वह अनेक जिलों के निवासियों के लिये दूर पड़ेगी। इस सुझाव में उत्तर प्रदेश के साथ-साथ मध्य प्रदेश के पुनर्गठन को भी शामिल किया गया है, जो कई दृष्टियों से उलझनपूर्ण सिद्ध हो सकता है। एक दूसरा सुझाव मार्च '७७ के लोकसभा चुनावों के बाद 'उत्तर प्रदेश पुनर्गठन संघर्ष समिति' ने इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को दिये गये अपने ज्ञापन में प्रस्तुत किया था। उसमें राज्य को पाँच भागों में बाँटने का प्रस्ताव है। सुझाव के अनुसार पांच राज्य इस प्रकार होंगे—(१) उत्तर प्रदेश के आठ पहाड़ी जिलों और हिमाचल के कुछ क्षेत्र लेकर पर्वतीय प्रदेश का निर्माण। (२) पश्चिमी उत्तर प्रदेश के १९ जिले, राजस्थान के अलवर और भरतपुर जिले तथा मध्य प्रदेश के भिंड, मुरैना तथा ग्वालियर जिलों को मिलाकर अवध प्रदेश। (४) पूर्वी उत्तर प्रदेश के नौ जिले तथा बिहार राज्य के आठ जिले मिलाकर भोजपुरी प्रदेश और (५) उत्तर प्रदेश के पाँच जिले और मध्य प्रदेश के १५ जिलों को मिलाकर बुंदेलखण्ड प्रदेश का निर्माण किया जा सकता है। सुझाव इस दृष्टि से

उपयुक्त प्रतीत होता है कि इसमें विकास, भाषा एवं रहन-सहन आदि की लगभग समान समस्याओं एवं स्थितियों को एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु यह केवल उत्तर प्रदेश का ही पुनर्गठन न होकर कई अन्य राज्यों का भी पुनर्गठन हो जाता है। यदि भारत सरकार इन सभी राज्यों के पुनर्गठन को आवश्यक समझे तब तो यह सुझाव विचारणीय हो सकता है अन्यथा नहीं। यदि इसे स्वीकार किया जाता है तो 'राष्ट्रीय राजधानी योजना' को भी दृष्टि में रखना होगा। निश्चय ही वर्तमान परिस्थितियों में यह सुझाव भी बहुत व्यावहारिक सिद्ध नहीं हो सकेगा। एक अन्य सुझाव 'नव-भारत टाइम्स' के स्तम्भ लेखक प्रसिद्ध पत्रकार आनद जैन ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रदेश को तीन भागों में बाँटने का सुझाव रखा है। उत्तर में पहाड़ी क्षेत्र का एक राज्य और शेष उत्तर प्रदेश के दो भाग—पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पूर्वी उत्तर प्रदेश। यहाँ पुनर्गठन का आधार केवल उत्तर प्रदेश ही है। आर्थिक साधनों, भाषा, रहन-सहन के स्तर आदि की दृष्टि से भी तीनों प्रस्तावित क्षेत्रों में काफी समानता है। प्रशासनिक उलझन से भी दूर है, अतः इसका विस्तृत ब्यौरा तैयार कर इसे स्वीकार किया जा सकता है।

५. निष्कर्ष :

अपने विशालकाय कलेवर के कारण उत्तर प्रदेश काफी नुकसान उठा चुका है। जिस राजनीतिक कारणवश इसका पुनर्गठन नहीं हो सका, उससे उत्तर प्रदेश के निवासियों को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं हुआ, सिवाय इसके वे कह सकें कि उन्होंने देश को तीन-तीन प्रधानमन्त्री दिये हैं। जब भी राज्यों को सरकारी सहायता के आवंटन का प्रश्न आया, उतर प्रदेश को उसका उचित भाग नहीं मिला, पूर्व प्रधानमन्त्रियों के इस संकोच के कारण कि वह उनका अपना प्रदेश है। हो सकता है, वर्तमान जनता सरकार उत्तर प्रदेश के पुनर्गठन के विषय में तुरन्त कोई निर्णय लेने में अभी समर्थ न हो। उसके सम्मुख देश की अन्य अपेक्षाकृत बड़ी समस्यायें हों अथवा अपना आन्तरिक मनमुटाव। फिर भी यदि वह पुनर्गठन को उपयोगी समझती है तो उसे सिद्धान्ततः इस माँग को स्वीकार करने में किसी प्रकार की हिचक नहीं होनी चाहिये और अवसर मिलते ही इस चिर प्रतीक्षित कार्य को सम्पन्न कर देना चाहिये। पुनर्गठन से उत्पन्न होने वाली समस्यायें ऐसी नहीं होंगी कि उन्हें सुलझाया न जा सके।

—:०:—

१३ भ्रष्टाचार

१. भ्रष्टाचार क्या है ?

भ्रष्टाचार पर लेखनी उठाने का जब-जब प्रयत्न करता हूँ, भवानीप्रसाद मिश्र की पंक्तियों को सदैव स्मृति-पटल के सम्मुख एक सनातन प्रश्न चिह्न की तरह खड़े हुए पाता हूँ। मिश्र जी की ये पंक्तियाँ हैं—

कोई है कोई है कोई है,
जिसकी जिन्दगी दूध की धोई है ?

और मैं सोच में डूब जाता हूँ। क्या सचमुच मेरी भी जिन्दगी दूध की धोई है ? यदि नहीं, तो भ्रष्टाचार पर निबन्ध लिखने की सार्थकता ? और फिर सार्थकता तलाशता हूँ। न सही दूध की धोई किन्तु वैसी कामना तो की ही जा सकती है और यह कौन कह सकता है कि वैसी कामना भी श्रेयस्कर नहीं होगी। दूध धुला होने की यदि कामना भी है तो वक्त पर वह उस ओर सीढ़ी दो सीढ़ी बढ़ने के लिये प्रेरित अवश्य करेगी और जिसके मन में यह कामना ही नहीं जगी, उसे अपनी भ्रष्टता का अहसास भी है, यह भी कैसे कहा जा सकता है ? अतः भ्रष्टाचार के विषय में लिखना निरर्थक नहीं होगा। न हो व्यक्ति पूर्णतः स्वस्थ किन्तु यदि उसे रोग का सही ज्ञान है तो स्वास्थ्य सम्बन्धी चर्चा से उसे भी लाभ हो सकता है और वह अपने रोग के उन्मूलन के लिए प्रेरित हो सकता है।

भ्रष्टाचार क्या है, इसका अहसास भी सभी को एक जैसा एवं एक जैसी स्थिति में नहीं हो सकता। कोई लाखों की रिश्वत को मात्र अपना फर्ज समझ सकता है और कोई एक पैसे को भी अनाचार। वैसे भ्रष्टाचार का शाब्दिक अर्थ है—गिरा हुआ आचार। किससे गिरा हुआ ? आचार के सामान्य एवं सर्वमान्य स्तर से। वस्तुतः हर देश, जाति एवं समाज की जीवन-प्रणाली के कुछ नैतिक मूल्य होते हैं, जिनका निर्माण हजारों वर्षों की परम्परा के बाद होता है। ये मूल्य युग की आवश्यकता के अनुसार बदलते भी रहते हैं। यही कारण है कि एक युग की नैतिकता कभी-कभी दूसरे युग की अनैतिकता में परिवर्तित हो जाती है अथवा इसके विपरीत भी घटित हो सकता है। अभी भारत में कुछ दिनों पहले गर्भपात को अनैतिक करार दिया जाता था किन्तु अब उसे नैतिक ही नहीं माना जाता अपितु सरकारी अस्पतालों में उसकी मुफ्त व्यवस्था भी की गई है। ऐसी स्थिति में भ्रष्टाचार की कोई एक नपी-तुली परिभाषा कर सकना कठिन होगा, फिर भी कहा जा सकता है कि किसी

भी क्षेत्र के लिखित (आचार संहिता, विधान आदि) अथवा अलिखित उन न्यूनतम नैतिक मूल्यों के स्तर से गिरा हुआ आचरण भ्रष्टाचार कहलायेगा, जिनकी स्वीकृति किसी भी प्रकार की व्यवस्था के लिए आवश्यक होती है। आज रिश्वत, मिलावट, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, काला-बाजार, भाई-भतीजावाद, लालफीताशाही एवं पद तथा सत्ता का दुरुपयोग आदि सभी प्रवृत्तियाँ भ्रष्टाचार का अंग बनी हुई हैं।

२. व्यक्ति भ्रष्ट क्यों होता है ?

व्यक्ति भ्रष्ट क्यों होता है, खुद की किसी लिप्सा की पूर्ति के लिए अथवा अपने कुटम्बी तथा सम्बन्धियों को अनुचित लाभ पहुँचाने के लिये। और ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ उतनी ही पुरानी हैं, जितना कि स्वयं मनुष्य का जन्म। व्यक्ति की एक आवश्यकता की पूर्ति दूसरी नई आवश्यकता को जन्म देती रहती है, जिसकी पूर्ति के लिए वह सदैव उचित-अनुचित सभी कुछ करता आया है। इसी प्रकार हर व्यक्ति अपने निकटस्थ व्यक्ति को भी हर प्रकार का लाभ पहुँचाने की मनोवृत्ति वाला होता है। जिसके लिए वह आचरण की उस सामान्य एवं सर्वस्वीकृत रेखा को भी तोड़ देना चाहता है, जिसके निर्माण में स्वय उसका भी योग रहा है। इसके कुछ अपवाद भी हैं किन्तु संख्या या अनुपात की दृष्टि से उन्हें नगण्य ही समझा जायेगा। स्वय अपने लिए वह अत्यधिक द्रव्य एकत्रित करना चाहता है अथवा किसी भी कीमत पर सत्ता में बने रहना चाहता है, अथवा अपनी कुर्सी को बचाए रखने की तीव्र लालसा उसके मन में रहती है और अपने कुटुम्ब अथवा कबीले के हितों को पूरा करना वह अपना दायित्व समझता है। निश्चय ही इस सब के पीछे एक असुरक्षा की भावना कार्य करती है। नौकरी-पेशा व्यक्ति सोचता है कि अपने पद एवं कुर्सी पर बने रहते वह इतना द्रव्य अवश्य एकत्रित कर ले कि जिससे पद और कुर्सी के अभाव में भी उसका जीवन सुखपूर्वक बीत सके। व्यापारी सोचता है, आज ही वह अपनी तिजोरियों को भर डाले, न जाने कल सरकार की नीति में कौन-सा परिवर्तन आ जाय अथवा अन्य कारणों से व्यापार में घाटे की स्थिति पैदा हो जाय। राजनीतिज्ञ सोचता है, इस बार तो चुनाव में विजय मिल गई, अगली बार भी चुनाव जीत सकूंगा, इसकी क्या गारण्टी है ? तब क्यों न वह भी अपनी पीढ़ियों तक को निश्चिन्त बना डाले।

पारस्परिक होड़ की भावना भी भ्रष्टाचार को जन्म देती है। मेरे पड़ोसी के पास अच्छा बँगला है, मोटर है, नौकर-चाकर हैं, टी० वी० है, फ्रिज है, मेरे पास वह सब क्यों नहीं ? उसके बच्चे पब्लिक स्कूलों में शिक्षा पाते हैं, मेरे क्यों नहीं ? प्राय: मध्यम श्रेणी के नारी-वर्ग में तो इस प्रकार की होड़ कुछ अधिक ही देखने में आती है और यह होड़ की भावना व्यक्ति को भ्रष्ट कर देती है। अनुकरण की प्रवृत्ति भी भ्रष्टाचार को समाप्त नहीं होने देती। आस-पास के, विभाग के, व्यवसाय के सभी साथी जब भ्रष्ट हैं, तब मैं ही अकेला नक्कू क्यों बनूं, इसलिये रिश्वत, मिलावट, जमाखोरी एवं भाई-भतीजावाद की बहती गगा में क्यों न हाथ धोऊँ ? इन सबके अति-

रिक्त व्यक्ति के भ्रष्ट होने का एक अन्य कारण भी है और वह है उसकी अकर्मण्यता। भारत में यह कुछ अधिक ही नजर आती है। व्यक्ति काम या तो करना ही नहीं चाहता अथवा बहुत ही कम करना चाहता है और उसका फल अधिक से अधिक पाना चाहता है। फलतः वह भ्रष्ट उपायों एवं साधनों का सहारा लेता है। रातों-रात लखपति एवं करोड़पति बनने की उसकी लालसा तो तीव्र होती जाती है किन्तु तदनुकूल कर्म करने की प्रवृत्ति एवं क्षमता में कमी आती जाती है। यहाँ की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था भी उसकी इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। जब वह देखता है कि अधिक पैसा पैदा करने के लिये कर्म की कोई खास आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहाँ दिन-रात सर्दी-गर्मी धूप में काम करने वाला भी अधभूखा और अधनंगा देखा जाता है तथा दिन-रात वातानुकूलित कक्षों में रहने वाला, विदेशी गाड़ियों में सैर करने वाला एवं आठों पहर विलास में डूबा रहने वाला करोड़पति। गरीबी और बेरोजगारी किस प्रकार भ्रष्टाचार की जननी बनती हैं, इसकी व्याख्या की जरूरत नहीं होनी चाहिये।

व्यक्ति के भ्रष्ट होने के इन कारणों का भी कारण है—राष्ट्रीय चरित्र का अभाव। यों हम अपनी पुरातन संस्कृति एवं राष्ट्रीय चरित्र पर गर्व करते आए हैं, हमें करना भी चाहिये किन्तु अपना अनुभव यह है कि आज भारतीयों में उसके दर्शन कठिनता से ही होते हैं। हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थों में आकण्ठ निमग्न हैं। हर व्यक्ति एक दूसरे का नीचा दिखाने, उसका माल, पद एवं कुर्सी हड़प करने में लगा हुआ है। अपने थोड़े से भी लाभ के लिये वह अपने चरित्र को गिरवी रखने के लिए तैयार देखा जाता है और ऐसा वह केवल अपने देश में ही नहीं करता, विदेशों में भी करता है, आखिर आदत से बाज कैसे आये! तब हम सबका मस्तक शर्म से झुक जाता है।

३. कहाँ नहीं है भ्रष्टाचार ?

आज जीवन और जगत का शायद ही कोई कोना ऐसा मिले जहाँ भ्रष्टाचार विद्यमान न हो। आज देश-विदेश के राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में सर्वत्र भ्रष्टाचार की दुंदुभि बज रही है। यद्यपि आज कम्युनिस्ट देशों में रोटी, कपडा और मकान की बुनियादी आवश्यकताओं के साथ शिक्षा और चिकित्सा जैसी अन्य आवश्यक सेवाओं की पूर्ति का जिम्मा सरकारों ने ले लिया है और पश्चिम के लोकतन्त्रीय देशों में धीरे-धीरे लोक-कल्याणकारी राज्यों की स्थापना के प्रयत्न किये जा रहे हैं। यानी, लोगों के मन से भविष्य की असुरक्षा के भाव को निकालने का प्रयत्न किया जा रहा है, तदपि भ्रष्टाचार खत्म नहीं हो पाया, हाँ उसका रूप बदल गया है। कम्युनिस्ट देशों में यह जनसाधारण की तुलना में पार्टी कामरेडों अथवा जासूसों के आराम का अधिक ध्यान रखने के रूप में प्रकट हुआ है और लोकतान्त्रिक शासन प्रणालियों में यह लोकतन्त्र के दुरुपयोग के रूप में, जिसकी शुरुआत चुनावों से ही

हो जाती है। व्यक्तिगत आजादी के नाम पर यहाँ भी दूसरों की आजादी को कुचलने के षडयंत्र किये जाते हैं और आर्थिक संसाधनों पर एकाधिकार की प्रवृत्ति पनपती देखी जाती है। अमेरिका का वाटरगेट काण्ड तो विश्व की राजनीति के भ्रष्टाचार का एक प्रमुख प्रतीक बन गया है, जिसके कारण अमेरिका के निक्सन जैसे शक्तिशाली राष्ट्रपति को गद्दी छोड़नी पड़ी। औद्योगिक एवं आर्थिक क्षेत्र के भ्रष्टाचार का जीता जागता रूप पिछले दिनों अमेरिका की बोइंग विमान कम्पनी की करतूतों में देखा गया। इस कम्पनी ने विदेशी खरीदारों को मोटी-मोटी रकमें घूस में दी थी, जिससे जापान की भूतपूर्व सरकार को इस्तीफा देना पड़ा और हालैंड के राजकुमार बर्नार्ड को अपनी प्रतिष्ठा से हाथ धोना पड़ा। ब्रिटेन के एक अच्छे खासे संसद सदस्य जान स्टॉनेहाउस की पैसे की लिप्सा ने बेचारे को संसद की बजाय जेल में पहुँचा दिया। उन्होंने न केवल ब्रिटेन में बांग्ला देश की सहायता के लिये जमा किए धन में कई लाख पाउण्ड का गबन किया, बल्कि जाली कम्पनियाँ बनाकर, जाली पासपोर्ट लेकर अमेरिका एवं आस्ट्रेलिया आदि देशों में अपना और अपने देश का नाम डुबोया। ऐसे अन्य उदाहरण भी एकत्रित किये जा सकते हैं।

भारत में भी भ्रष्टाचार अपना उग्र रूप धारण कर चुका है। राजनैतिक क्षेत्र में वह विशेष रूप से पनप रहा है। ७७ के लोकसभा के चुनावों के बाद जनता सरकार द्वारा बड़ी संख्या में बैठाए गए जांच आयोग इसका प्रमाण हैं। इससे पहले भी जाँच आयोग बैठाए जाते रहे हैं, अनेक राजनीतिज्ञों को उसमें भ्रष्टाचार का दोषी भी पाया गया है किन्तु जैसे इससे उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा पर कोई आँच नहीं आती। यह सत्य है कि स्वतन्त्रता के बाद भारतीय राजनीति में सेवा का महत्व कम सत्ता का अधिक होता गया है। दल और व्यक्ति दोनों ही सत्ता प्राप्ति के लिए सिद्धान्तों की बलि चढ़ाते रहे हैं। अतः भारतीय राजनीति में सिद्धान्तहीनता बढ़ती चली जा रही है। सत्ता चुनाव जीतने से मिलती है, अतएव चुनाव के लिए किसी लोकप्रिय दल का टिकिट चाहिए। यदि वह मनमाने दल का न प्राप्त हो सके तो अनचाहे दल के टिकिट से भी कोई एतराज नहीं। फिर चुनाव जीतने के लिए अनाप-शनाप पैसा खर्चना होता है। सरकार में बैठा हर व्यक्ति जानता है कि जितना व्यय चुनाव-प्रचार आदि के लिए कानून सम्मत है, उससे चुनाव जीत सकना कठिन है और उस राशि से, अपवाद को छोड़कर, कोई भी चुनाव नहीं लड़ता। जो प्रत्याशी इस भारी व्यय का भार स्वयं उठाने में समर्थ नहीं होता (और कितने होते हैं!) वह पूंजीपतियों से, नाते रिश्तेदारों से, जाति-बिरादरी से धन एकत्रित करता है। इन सब दाताओं को पूरी उम्मीद रहती है कि प्रत्याशी के जीतने पर उनका धन दुगुना तिगुना होकर लौट आएगा। जीतने पर प्रत्याशी लाइसेंस, परमिट, नौकरी आदि दिलाकर अथवा अन्य तरीकों से उस पैसे को लौटाने का प्रयत्न करता है। राजनैतिक जीवन के भ्रष्टाचार की जड़ यहीं है।

सच पूछा जाय तो आज भारतीय राजनीति भ्रष्टाचार का पर्याय बन चुकी है। 'राजनीति में सब चलता है' वाक्य राजनीतिज्ञों का प्रेरणा स्रोत बन चुका है। यदि आप किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के आधार पर चुनाव जीते हैं और जीतने के बाद आपको उन सिद्धान्तों के एकदम विपरीत सिद्धान्तों वाले खेमे में पहुँचने से सत्ता प्राप्ति सम्भव है तो हिचकते क्यों हैं, चले जाइए उस खेमे में, यही तो राजनीति है। दल की दृष्टि में आप उतने ही बडे नेता हैं, ज़ितना बड़ा फण्ड आप जमा कर सकते हैं। इसी कारण प्रसिद्ध गाँधीवादी विचारक एवं हिन्दी लेखक जैनेन्द्र जी 'भ्रष्टाचार' को 'राजनीति में शिष्टाचार' कहते हैं। कितना ठीक कहा है उन्होंने—"आज की राजनीति में भ्रष्टाचार का प्रश्न असंगत बन गया है, उसे राजनीतिक अस्त्र के रूप में अवश्य इस्तेमाल किया जा सकता है, वरना राजनीति भ्रष्टाचार को शिष्टाचार का रूप देने में ही काम आती है।"

आर्थिक जीवन में भी भ्रष्टाचार गहरा पैठ चुका है। आए दिन मिलावट, जमाखोरी, मुनाफाखोरी एवं रिश्वत आदि के किस्से सुनने और देखने को मिलते हैं। काला धंधा निरन्तर बढ़ा है। आपात काल में एक बार ऐसा महसूस अवश्य हुआ था कि सरकार इन सब धन्धों को खत्म कर देगी। बाद में कुछ ऐसे भ्रष्ट लोगों ने जयप्रकाश जी के सम्मुख समर्पण भी किया किन्तु आज कौन कह सकता है कि काला धन्धा देश से समाप्त हो गया? दवाइयों के नाम पर केवल पानी बेच देना, हल्दी में पिसी हुई ईंट मिला देना, धनिया में लीद डाल देना अथवा शराब में स्प्रिट अथवा अन्य कोई विष मिला देना जिस देश में आम बात हो और जिनके अपराधियों का कुछ खास नहीं बिगड़ता हो, उस देश का तो ईश्वर ही मालिक है। आखिर ये सब धन्धे पैसे के लिए किये जाते हैं। पैसा आज के जीवन का आधार बन गया है। सारे मूल्य उसी में आकर सिमट गए हैं। पैसे से ही समाज में इज्जत मिलती है। राजनीति में पद और सत्ता मिलती है, जीवन में विलास के साधन मिलते हैं। तब उसे पाने का कोई भी तरीका गलत कैसे हो सकता है, क्योंकि पैसा इकट्ठा होने पर तो सारे अवगुण एवं तमाम गलतियाँ स्वयं छिप जाती हैं।

सामाजिक भ्रष्टाचार की वृद्धि में भी यह पैसा भारी भूमिका निभाता है। पैसे के बल पर समाज का सबल वर्ग निर्बल का शोषण करता है। उसकी विवशता का दुरुपयोग करता है। समाज में आज व्यभिचार, बलात्कार एवं अपहरण आदि की जो घटनाएँ सुनने, देखने को मिलती हैं, उनमें अधिकतर पैसे वालों का हाथ होता है। इनको उचित दण्ड भी नहीं मिल पाता, क्योंकि पैसे के बल पर ये न्याय-व्यवस्था तक को प्रभावित कर सकने में समर्थ होते हैं।

स्पष्ट है, आज भ्रष्टाचार से कोई क्षेत्र अछूता नहीं रह गया है। यहाँ तक कि विद्या के मन्दिरों से लेकर भगवान के मन्दिरों तक में इसका नंगा नाच कभी भी एवं कहीं भी देखा जा सकता है।

४. भ्रष्टाचार का उन्मूलन कैसे ?

भ्रष्टाचार से सर्वथा मुक्त होना तो संभवतः कभी किसी के लिए संभव न हो सके किन्तु एक बड़ी सीमा तक उससे मुक्त अवश्य हुआ जा सकता है। राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन को अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ बनाने के लिए हमें जीवन के कुछ मूल्यों में भी परिवर्तन करना पड़ सकता है। व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण यदि पैसा न होकर उसकी योग्यता, कर्मठता, ईमानदारी एवं सज्जनता आदि बन जायें तो बहुत सारी भ्रष्टता स्वयं मिट जायेगी। ऐसा केवल कह देने मात्र से संभव नहीं होगा। इसके लिए हमें वातावरण बनाना होगा। शिक्षा के माध्यम से मानवी गुणों की प्रतिष्ठा करनी होगी। लोगों के मन से असुरक्षा की भावना को दूर करना होगा। उन्हें इस बात के लिए आश्वस्त करना होगा कि आयु अधिक होने अथवा किसी आकस्मिक दुघर्टना अथवा रोग से ग्रस्त होने पर भी उनकी रोटी, कपड़ा, मकान की बुनियादी आवश्यकताएँ सरकार अथवा समाज द्वारा पूर्ण की जायेंगी। किसी को भूखों नहीं मरने दिया जायेगा। चुनाव-प्रणाली को सस्ता बनाए जाने के प्रयत्न किये जाने चाहिए। यदि वर्तमान परिस्थिति में यह संभव नहीं हो तो चुनाव में होने वाले व्यय की यथार्थता को स्वीकार किया जाना चाहिए और उसमें सरकार द्वारा सहायता दी जानी चाहिए। प्रचार-प्रसार के लिए सार्वजनिक मंचों की व्यवस्था करके भी वहुत से अपव्यय से बचा जा सकता है। चुने गए विधायक अथवा संसद सदस्य को अवधि के पूर्ण होने से पहले भी हटा सकने की परम्परा बननी चाहिए, यदि वह भ्रष्ट सिद्ध होता है। सरकारी मंत्रियों अथवा अधिकारियों की भ्रष्टता पर अंकुश रखने के लिए केन्द्र एवं राज्यों में गैर सरकारी पद 'लोकपाल' की स्थापना की जानी चाहिए, जो इनमें से किसी के आचरण से सम्बंधित शिकायत मिलने पर जाँच कर सके और उसे दण्डित कर सके। शिक्षा संस्थाओं अथवा स्वायत्तशासी सार्वजनिक संस्थाओं में विधायकों अथवा मंत्रियों का दखल बन्द होना चाहिए। किसी भी क्षेत्र में भ्रष्टाचार प्रायः ऊपर वाले वर्ग से प्रारम्भ होता हैं, अतः इसे वहीं से खत्म किया जाना चाहिए। यदि मंत्री अथवा उसका कोई सचिव ही रिश्वतखोर होगा तो उस विभाग के अन्य छोटे-मोटे कर्मचारियों को रिश्वत लेने से कैसे रोका जा सकता है? अधिकारी वर्ग के साथ जनता स्वयं भी भ्रष्टाचार को बढावा देने में मददगार होती देखी जाती है। केवल पंक्ति में न खड़ा होना पड़े अथवा काम कुछ जल्दी हो जाये; इतने भर के लिए हम अधिकारियों से गलत काम कराते हैं। कभी-कभी खुले आम हमारे आस पड़ौस में भ्रष्टाचार पनपता रहता है और कोई भी व्यक्ति सही अधिकारी तक उसकी शिकायत नहीं कर पाता। मिलावट, जमाखोरी, मुनाफाखोरी आदि सभी दण्डनीय अपराधों के मामले सिद्ध हो जाने पर सख्त से सख्त सजा की व्यवस्था होनी चाहिए। भ्रष्ट आचरण का सामूहिक विरोध भी इसके निराकरण का कारगर साधन सिद्ध हो सकता है।

(५) निष्कर्ष

अततः हमें एडवर्ड गिब्बन के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए, जिसके अनुसार—'भ्रष्टाचार संवैधानिक आजादी का सबसे बड़ा मर्ज है।' संविधान द्वारा प्रदत्त आजादी का यदि हम दुरुपयोग करेंगे तो एक दिन वह हमसे अवश्य छीन ली जायेगी। यदि हमें अपनी आजादी से प्यार है तो भ्रष्टाचार से हमको बचना ही होगा। हममें से प्रत्येक को यह सोचना होगा कि कहीं उसी का जीवन तो भ्रष्ट नहीं है ? और यदि है तो उससे कैसे बचा जा सकता है ? राजनीतिज्ञ को सत्ता की राजनीति से हटकर सेवा की राजनीति अपनानी होगी। समाज सुधारक को स्वय के जीवन में उन सुधारों को घटित करके दिखाना होगा, जिनकी अपेक्षा वह समाज से करता है। व्यापारी को केवल रातोंरात करोड़ पति बनने की कामना का त्याग करना पड़ेगा। व्यभिचारियों को नैतिकता और संयम का पाठ पढ़ना होगा। निरंतर बढ़ती हुइ आवश्यकताओं के अश्वों को भी लगाम देनी होगी और झूठी और दिखावटी, सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित करने वाली मानसिकता से भी मुक्ति पानी होगी।

---

१४ भारतीय शिक्षा का बदलता स्वरूप

(१० + २ + ३ के विशेष सन्दर्भ में)

१. शिक्षा में युगानुरूप परिवर्तन आवश्यक

शिक्षा जीवन को सुसंस्कृत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। परिवेश में निरन्तर घटित परिवर्तनों से जीवन प्रभावित होता है, उसकी आशा-आकांक्षाएँ एवं आवश्यकताएँ भी बदलती हैं। फलस्वरूप, शिक्षा को भी उसके अनुरूप ढालते रहने की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है। जो शिक्षा स्वयं को युग के नये तेवरों के अनुकूल नहीं बदल पाती, वह जीर्ण एवं जर्जर होकर सर्वथा अनुपयोगी हो जाती है और अपने मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति में अक्षम रहती है। इसी कारण जागरूक राष्ट्र अपनी शिक्षा-पद्धति के प्रति विशेष रूप से सचेत एवं चिन्तित रहते हैं और उसे राष्ट्रीय संदर्भों, परिस्थितियों एवं हितों की संवाहिका बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। कभी इसकी गति अत्यधिक द्रुत दिखलाई पड़ती है तो कभी मन्द भी। विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्र में घटित हुई अभूतपूर्व उन्नति, संचार के साधनों का विकास, शिक्षा का द्रुत प्रसार और औद्योगिकी के बढ़ते प्रभावों के कारण आज का युग बड़ी तेजी से बदल रहा है। कहते हैं, दस वर्ष में ज्ञान लगभग दूना हो जाता है। शिक्षा किसी भी देश के विकास की रीढ़ होती है। जर्जर और पुरानी होकर यदि यह रीढ़ ही कमजोर पड गई तो देश के विकास और उसकी सम्पूर्ण मानसिकता पर उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतः शिक्षा को भी युग की आशा आकांक्षा एवं आवश्यकता के अनुकूल बनाये रखने की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है।

२. भारतीय शिक्षा पद्धति : आलोचना का विषय

स्वतन्त्र भारत की शिक्षा का स्वरूप आलोचना का विषय रहा है और प्रायः कहा जाता रहा है कि स्वतन्त्र भारत की शिक्षा-पद्धति नवोदित भारत की आशा-आकांक्षाओं की पूर्ति में असफल रही है। वह आज भी लार्ड मैकाले द्वारा निर्मित क्लर्कों की सेना तैयार करने, तन से भारतीय होने पर भी मन से अंग्रेजियत जीने एवं मौलिक-चिन्तन-मनन की शक्ति को कुंठित करने वाली प्रणाली का अंधानुकरण कर रही है, कि उसमें विद्यार्थी के तन, मन एवं आत्मा के सर्वांगीण विकास की क्षमता नहीं है; कि वह वर्ग भेद को बढ़ावा दे रही है आदि.आदि। निःसन्देह, इन कथनों में

सार है, जिसका अनुभव यहाँ के सभी शिक्षा-विदों, मनीषियों एवं राजनेताओं ने किया है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विवेकानन्द, अरविन्द, गाँधी एवं नेहरु आदि, अनेक कोणों से पाश्चात्य जीवन-पद्धति के प्रशंसक होते हुए भी, भारत की अंग्रेज कालीन शिक्षा-प्रणाली की कभी प्रशंसा नहीं कर पाये। गाँधी जी ने तो सन् १९३७ ई० में प्रान्तों में स्वायत्त शासन की स्थापना होते ही बेसिक-शिक्षा-प्रणाली का प्रावधान देश के सम्मुख प्रस्तुत किया। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद राधाकृष्णन शिक्षा-आयोग (१९४९) मुदालियर माध्यमिक शिक्षा-आयोग (१९५२) एवं कोठारी आयोग (१९६४) जैसे महत्वपूर्ण आयोगों ने प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर विश्व-विद्यालयीन शिक्षा तक के सुधार के लिये अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। इन्हीं आयोगों की संस्तुतियों को आधार बनाकर अनेक निकायों, संस्थाओं एवं प्रतिष्ठानों की स्थापना की गई जिनमें से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा-परिषद् एवं राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् आदि के द्वारा किये गये कार्यों से तो शिक्षा-जगत् परिचित है ही, साथ ही शिक्षा के व्यावसायीकरण के लिये चिकित्सा-विज्ञान, इन्जीनियरी, कृषि एवं एवं अन्य तकनीकी क्षेत्रों में अनेक विश्व-विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं परिषदों की स्थापना ने भी शिक्षा के क्षेत्र में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। देश में कला, संगीत, नाटक एवं नृत्य जैसी ललित कलाओं तथा साहित्य के विकास के लिये स्थापित संगीत-नाटक अकादमी, ललित कला अकादमी एवं साहित्य अकादमी ने भी कलाकारों एवं साहित्यकारों को यत्किंचित् प्रोत्साहन देने का कार्य किया है। प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। इतना सब कुछ होने पर भी यह निष्पक्षता के साथ स्वीकार किया जा सकता है कि शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्ति के इन २९ वर्षों में जितना कार्य किया जाना चाहिये था, उसका अल्पांश ही अभी तक किया जा सका है। गुणात्मक दृष्टि से विकास की बात यदि छोड़ भी दें तो परिमाणात्मक दृष्टि से भी विकास की गति अत्यधिक धीमी है और अभी भारतीय जनसंख्या का लगभग २९ प्रतिशत ही साक्षर हो सका है।

३. राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति कैसे हो ?

भारतीय शिक्षा-पद्धति के स्वरूप निर्माण में जिन तथ्यों, विषयों एवं समस्याओं को ध्यान में रखना अपेक्षित है, यहाँ उन पर भी संक्षेप में विचार करना उपयोगी होगा। हमारी दृष्टि में भारतीय शिक्षा-पद्धति के सम्मुख सर्व प्रमुख समस्या है—उसे जीवन के साथ जोड़ने की। आज जो शिक्षा दी जा रही है, उससे विद्यार्थी का बौद्धिक विकास तो होता है किन्तु उसका शारीरिक एवं आत्मिक विकास नहीं हो पाता। शिक्षा का लक्ष्य यदि व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है तो मात्र बौद्धिक विकास से ही वह कैसे पूरा हो सकेगा ? प्राय: देखा जाता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद विद्यार्थी शारीरिक श्रम से कतराने लगता है और अपने परिवार के मुख्य धन्धे कृषि अथवा उद्योग आदि को ही उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता वरन् इन धन्धों

में संलग्न अपने अन्य भाई-बन्धुओं को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगता है और जिसे कभी निकृष्ट कहकर पुकारा जाता था, उसी चाकरी के चक्कर में अपने अन्दर भारी असन्तोष एवं निराशा को पालता रहता है। उसे इस स्थिति में डालने का श्रेय हमारी बौद्धिक-विकास केन्द्रित शिक्षा-पद्धति को ही है। कुछ शिक्षा-विदों के इस विचार से सहमत हुआ जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य रोजगार दिलाना नहीं है किन्तु इस बात से तो कदाचित् वे भी इनकार नहीं कर पायें कि शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी को जीवन की लड़ाई लड़ने के लिये तैयार करना है। जिस शिक्षा को पाने के बाद शिक्षार्थी अपना पेट भी भर सकने में असमर्थ रहे निःसन्देह; उसमें कोई बड़ी खामी है. क्योंकि यह उसके सामने सबसे छोटी किन्तु आवश्यक माँग है। 'सा विद्या या विमुक्तये' के अनुसार विद्या का लक्ष्य तो व्यक्ति को मुक्त बनाना है। यह मुक्ति केवल साँसारिक जीवन से ही नहीं वरन् साँसारिक जीवन की चिन्ताओं से भी मुक्ति है। जीवन से शिक्षा के अलग-थलग पड़ने का इससे बढ़कर प्रमाण क्या होगा कि अधिकांश विद्यार्थियों ने जिसके अर्जन में अपना बहुमूल्य समय दिया है, वह व्यावहारिक जीवन में उनके किसी काम नहीं आती।

दूसरी बड़ी समस्या है—राष्ट्रीय चरित्र निर्माण की। यह बड़ी गहराई से अनुभव किया जा रहा है कि स्वतन्त्रता के बाद इस देश के युवक का जो राष्ट्रीय चरित्र निर्मित होना चाहिये था, वह नहीं हो पाया। देश का युवक-नैतिक दृष्टि से निरन्तर गिरता गया है। उसमें एक अजीब प्रकार की अनुशासन-हीनता पनपी है। स्व-विवेक को ताक पर रखकर वह चिन्तन में भी पराश्रयी बना है। अपनी लीक स्वयं बनाने की सिंही प्रवृत्ति छोड़ वह भेड़ बनता गया है। इस ह्रास का कारण चाहे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आदि कुछ भी क्यों न रहा हो किन्तु शिक्षा अपने इस दायित्व से बच नहीं सकती। "विद्या ददाति विनयम्" वाली बात याद रखनी होगी। इसी से सम्बन्धित एक और समस्या है—लोकतांत्रिक समाजवादी मूल्यों के ग्रहण की। भारत ने इस व्यवस्था को अपनाया है किन्तु अभी यहाँ की जनता का मानस इसे पचा नहीं पा रहा। शिक्षा को इन मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करनी होगी। सदियों से चली आ रही रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों की जड़ता को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के नए प्रकाश में दूर करना होगा। मौलिक चिन्तन-मनन की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी होगी, जिससे शिक्षार्थी जीवन के गम्भीर प्रश्नों से जूझ सकने की क्षमता अर्जित कर सकें।

भारतीय शिक्षा के सम्मुख एक बड़ी कठिनाई है—लगभग ७०% जनता को साक्षर बनाने की। निरक्षरों में ग्रामीणों और नगरों के निचले वर्गों के लोगों की संख्या अधिक है। पुरुषों की अपेक्षा नारी भी अभी काफी पिछड़ी हुई है। शिक्षा का दीप यदि गांव के इन अंचलों में नहीं जलाया जाता तो भारत की जनता कहिये—भारत की आत्मा—अज्ञानांधकार से ग्रस्त रहेगी और जयशंकर प्रसाद की अग्रलिखित पंक्तियाँ केवल वायवी बनकर रह जायेंगी—

हिमालय के प्रांगण में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार ।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरकहार ।।
× × × ×
जगे हम लगे जगाने विश्व, विश्व में फैला फिर आलोक ।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या रही है—शिक्षा के स्वरूप में एकरूपता के अभाव की । विभिन्न राज्यों में विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित रहीं और कुछ में अब भी हैं । उदाहरण के लिए नागालैण्ड में यदि मैट्रिकुलेशन १२ साल का है तो राजस्थान, दिल्ली आदि में वह ११ साल का रहा । उत्तर प्रदेश में १० साल का एवं मध्य-प्रदेश में १० एवं ११ साल वाली दोनों प्रणालियाँ प्रचलित रहीं । इससे एक राज्य को छोड़कर दूसरे राज्य में जाकर शिक्षा ग्रहण करने में बड़ी कठिनाई आती रही है ।

४. १०+२+३ शिक्षा प्रणाली

हर्ष का विषय है कि पिछले कुछ दिनों से उक्त समस्याओं पर गम्भीरता-पूर्वक विचार सम्भव हुआ है और भारतीय शिक्षा के स्वरूप निर्माण के लिये गठित कोठारी आयोग (१९६४–६६) की संस्तुतियों को सिद्धान्ततः सभी राज्यों ने स्वीकार कर लिया है । इस आयोग की विशेषता यह थी कि इसमें न केवल भारत के उच्च शिक्षा-विद् सम्मिलित थे, बल्कि यूनेस्को तथा रूस आदि के कुछ अन्य प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियों को भी इसमें शामिल किया गया था । इसकी संस्तुतियों पर अध्यापकों, शिक्षा-विदों, लोक सभा तथा विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा विचार-विमर्श किया गया और इन्हें स्वीकार कर केन्द्रीय सरकार ने २४ जुलाई, १९६८ ई० को राष्ट्रीय शिक्षा-नीति की घोषणा की किन्तु इसे लागू सन् १९७५ ई० में ही किया जा सका । अभी भी कुछ राज्यों में इसे लागू किये जाने के प्रयत्न ही किये जा रहे हैं । आयोग ने '१०+२+३' योजना प्रस्तावित की है । प्रारम्भिक दस वर्षीय पाठ्य-क्रम में विद्यार्थी को १२ विषय अनिवार्यतः पढ़ने होंगे, जिनमें दो भाषाओं (अंग्रेजी सहित भारतीय भाषाओं में से कोई दो), सामाजिक विज्ञानों के साथ-साथ विज्ञान एवं वाणिज्य के विषय भी पढ़ाए जायेंगे तथा 'कार्य अनुभव' भी पाठ्यक्रम का अनिवार्य अंग होगा । 'कार्य अनुभव' के लिये पाठ्यक्रम में कुछ कार्यों की सूची भी प्रस्तुत की गई है । 'कार्य अनुभव' के विकल्प रूप में सामुदायिक सेवा को रखा गया है, जिसके अन्तर्गत 'ग्राम सुधार' एवं 'गंदी बस्तियों की सफाई' आदि कार्यक्रम समाविष्ट हैं । राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान, नई दिल्ली ने इन दस वर्षीय पाठ्यक्रमों का निर्माण भी कर लिया है । योजना की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शिक्षा को व्यवसायोन्मुख बनाने का प्रयत्न किया गया है और आशा की गई है कि दसवीं कक्षा के बाद लगभग ४० प्रतिशत विद्यार्थी व्यवसाय-परक पाठ्यक्रम अपना लेंगे । इससे दुहरा लाभ होगा । एक तो विद्यार्थी की बेरोजगारी की समस्या का हल होगा तथा दूसरे विश्वविद्यालयों से ऐसे विद्यार्थियों की भीड़ छँट जायेगी जिनकी

रुचि उच्च-शिक्षा प्राप्ति में न होकर नौकरी प्राप्ति के लिये केवल डिग्री बटोरने में ही होती है।

पुरानी प्रणाली का एक दोष यह था कि उसके अन्तर्गत विद्यार्थी को १४ साल की आयु में ही अपना कैरियर चुनना पड़ता था, जबकि उस समय वह केवल आठवीं कक्षा में ही होता था। निःसन्देह भारतवर्ष में कैरियर चुनने जैसे गम्भीर दायित्व के लिये यह उम्र कम है। अब वह ग्यारहवीं कक्षा में चुनाव करेगा। आशा की जाती है कि ग्यारहवीं कक्षा तक आते-आते कैरियर चुनने की क्षमता उसमें अपेक्षाकृत अधिक होगी। यदि इस नीति को सभी राज्य स्वीकार कर लेते हैं तो एकरूपता की समस्या भी हल हो जायेगी और देश के किसी भी राज्य में शिक्षा पाने में कोई कठिनाई नहीं होगी। योजना का एक बड़ा लाभ यह भी होगा कि दसवीं कक्षा तक इसमें गणित एवं विज्ञान को अनिवार्य बना दिया है। इससे राष्ट्रीय एवं सामाजिक विकास में मदद मिलेगी। पुरानी शिक्षा प्रणाली में शारीरिक शिक्षा का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था। '१० + २' प्रणाली में उसको महत्त्वपूर्ण ही नहीं बनाया गया है, वरन् उसे परीक्षा से भी जोड़ दिया गया है। अतः अब शारीरिक शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। कार्यानुभव एवं समाज सेवा जैसे कार्यक्रमों से विद्यार्थी को रोजगार जुटाने में सुविधा होगी।

शिक्षा के प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में अनेक कार्यक्रम हाथ में लेने की योजना है। अनौपचारिक शिक्षा को भी महत्व दिया जायेगा। छठी योजना में १६ से ३६ वर्ष की आयु के सभी प्रौढ़ व्यक्तियों को शिक्षित करने का संकल्प किया गया है। जनता सरकार ने इसके लिये भारी रकम स्वीकृत की है। ६ से १४ वर्ष के सभी बालक-बालिकाओं को अनिवार्य रूप से प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने की भी योजना है। एक अन्य योजना 'राष्ट्रीय सेवा योजना' है जिसके माध्यम से हर स्नातक समाजाभिमुख बन सकेगा। वह उपेक्षित ग्रामीण-वर्ग के सम्पर्क में आयेगा और उसके दुःख दर्दों से परिचित होगा और इस प्रकार वर्ग-भेद की खाई भी किसी सीमा तक पट सकेगी। परीक्षा-प्रणाली में भी परिवर्तन करने की योजना है। अंकों के स्थान पर ग्रेड निर्धारित करना, आन्तरिक मूल्यांकन पद्धति को बढ़ावा देना तथा वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का निर्माण करना किन्तु लघूत्तरात्मक एवं निबन्धात्मक प्रश्नों की नितान्त उपेक्षा न करना आदि अनेक परिवर्तनों से परीक्षा को अधिक वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयत्न किया जायेगा।

५. उपसंहार : कमियों को दूर किया जाय

निस्सन्देह, इन कार्यक्रमों के पूरी तरह लागू होने पर अनेक कठिनाइयाँ आयेंगी। '१० + २' के अन्तर्गत जहाँ नवीं दसवीं कक्षा के विद्यार्थी पर अतिरिक्त विषयों का भार बढ़ेगा, वहाँ विषयों के अध्यापकों की व्यवस्था, कालांशों की व्यवस्था, अनिवार्य विषय विज्ञान के लिए प्रयोगशालाओं की व्यवस्था और इन सबके बाद बड़े स्तर पर व्यवसायपरक प्रशिक्षण संस्थानों की व्यवस्था आसानी से नहीं हो पायेगी।

अधिक विषय होने से विद्यार्थी के किताबी कीड़ा बनने की भी आशंका है। इतर प्रवृत्तियों के लिये उसके पास समय ही नहीं बचेगा। यह प्रणाली अध्यापकों के भी एक विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की माँग करती है, जिसके लिए इस योजना में कोई कार्यक्रम नहीं बनाया गया। व्यावसायिक शिक्षा केन्द्रों को किसी उद्योग अथवा फैक्ट्री से जोड़े बिना वांछित लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं होगी। इस शिक्षा-प्रणाली में बढ़ी हुई एक वर्ष की अवधि भी विचारणीय है। आवश्यकता इस बात की है कि इन सब कठिनाइयों पर गहराई से विचार किया जाय और शीघ्र ही इनका निराकरण कर, पूरे मन से इस राष्ट्रीय नीति को सम्पूर्ण देश में लागू किया जाय। यदि इस प्रणाली में और किसी प्रकार के संशोधन आवश्यक हों तो ध्यान रखा जाय कि उसका लक्ष्य युवक-युवतियों में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास, उच्च मानवी मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं उच्च चरित्र-बल उत्पन्न करने की क्षमता होना चाहिये। चरित्र-निर्माण की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ० राधाकृष्णन ने उचित ही लिखा था—"चरित्र के द्वारा राष्ट्र के भाग्य का निर्माण होता है। जिस देश के निवासियों का चरित्र निम्न है, वह देश कभी भी महान नहीं हो सकता। यदि हम एक महान राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं तो हमें अधिक संख्या में युवकों और युवतियों को इस प्रकार शिक्षित करना होगा कि उनमें चरित्र-बल हो। हमारे पास ऐसे नर-नारी होने चाहियें, जो दूसरों में अपनी झाँकी देखें, जैसा कि हमारे शास्त्रों में कहा गया है।"

—: ० :—

१५ दहेज-प्रथा

१. दहेज समाज व्यवस्था का कोढ़

दहेज भारतीय सामाजिक व्यवस्था का कोढ़ बन चुका है, जिसके प्रभाव-स्वरूप आज अनेक भारतीय ललनायें नारकीय जीवन जीने के लिए विवश हैं। माता-पिता द्वारा दहेज न दे सकने की स्थिति में कभी किसी ललना को स्वयं आत्म-हत्या जैसे दुष्कृत्य का सहारा लेना पड़ता है तो कभी दहेज के लोभी ससुराल वाले नर-पशु अभीप्सित दहेज न पाकर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। कभी सुयोग्य और सुन्दर होने पर भी उसे एक उपेक्षित जिन्दगी जीने की मजबूरी ढोनी पड़ती है तो कभी लम्बी उम्र तक कुमारी रहकर अपने यौवन को तिल-तिल करके गलते तथा रीतते देखना होता है। आए-दिन समाचार पत्रों में प्रायः इस प्रकार के समाचार छपते ही रहते हैं।

आज अनेक जातियों में दहेज बाकायदा पहले तय किया जाता है। लड़के वाले लड़के के पद, शिक्षा एवं कुल आदि के हिसाब से कन्या-पक्ष से भरपूर दहेज की माँग करते हैं। यदि उस दहेज में थोड़ी भी कमी रह गयी तो ससुराल वालों से लेकर पड़ोसी तक बहू के साथ छींटाकशी करते हैं और व्यंग्य-वाणों से उसे आहत करते रहते हैं। स्थिति यह है कि उचित दहेज के अभाव में सुन्दर, सुशिक्षित एवं कुलीन कन्या को भी मनोनुकूल वर प्राप्त नहीं होता।

२. भारत में दहेज प्रथा कितनी पुरानी, कितनी नयी

भारतीय प्राचीन इतिहास देखने से पता चलता है कि दहेज-प्रथा भारत के लिए कोई नवीन प्रथा नहीं है। 'अथर्ववेद' के चौदहवे काण्ड में एक सूक्त आता है, जिसके अनुसार पिता कन्या की विदाई के समय उसे पलंग, गद्दा एवं कोच आदि देता था किन्तु एक तो यह सब सामग्री कन्या के उपयोग की होती थी और दूसरे, अध्ययन से यह भी पता चलता है कि दहेज के कारण कन्या एवं वर-पक्ष में किसी प्रकार का मन मुटाव पैदा नहीं होता था। लगभग पिछले पचास वर्षों से विवाह एक व्यापार बन चला है। डटकर सौदेबाजी होती है और जो व्यक्ति अधिक से अधिक नकदी अथवा दहेज सामग्री देने में समर्थ होता है, विजय उसी के हाथ लगती है। इस प्रकार कन्या पक्ष प्रायः वर की खरीद करता है। इस खरीदारी में वर-पक्ष को चाहे जितनी सम्पत्ति हाथ लगे किन्तु वह पारस्परिक प्रेम, सौहार्द एवं आत्मीयता

कहीं खो जाती है, जो सर्वथा दो अपरिचित हृदयों को परस्पर जोड़ने का कार्य करती है तथा जीवन भर पारस्परिक सुख-दुःखों में समभागी रहकर जीवन जीने का संबल प्रदान करती है।

३. दहेज की प्रथा के पीछे छिपे कारण :

इस कुप्रथा के उन्मूलन के लिये इसके मूल में छिपे कारणों की चर्चा भी आवश्यक होगी। वस्तुतः जहाँ इसके मूल में बिना उचित श्रम किये हुए अधिक से अधिक धन बटोरने की लिप्सा कार्य कर रही है, वहीं झूठी मान-प्रतिष्ठा अर्जित करने की इच्छा भी कुछ कम सक्रिय नहीं। जहाँ कभी-कभी दूल्हा को बेचने वाले ये दहेजलोभी पुत्र के विवाह के अवसर पर उसकी शिक्षा-दीक्षा में व्यय हुए सारे धन को कन्या-पक्ष से वसूल कर लेने के इच्छुक होते हैं और केवल पुत्र के जीवन-स्तर को ही नहीं वरन् अपने जीवन-स्तर को भी ऊँचा कर लेने की आकांक्षा रखते हैं, वहीं अच्छा दहेज पाकर समाज की दृष्टि में भी ऊँचा उठना चाहते हैं। यह झूठी मान-प्रतिष्ठा की आकांक्षा केवल वर-पक्ष में ही पाई जाती हो, ऐसी बात, नहीं, यह कन्या-पक्ष वालों में भी बराबर देखने को मिलती है। फलस्वरूप, कभी-कभी कन्या-पक्ष वाले भी अच्छी सजी-धजी बारात, प्रचुर मात्रा में आतिशबाजी, अच्छी सवारी एवं अच्छा बैण्ड तथा लड़की के लिये अच्छे एवं प्रचुर वस्त्राभूषणों आदि की माँग करके समाज के सम्मुख अपनी ऊँची नाक रखने के अभिलाषी पाये जाते हैं। कभी-कभी लड़की से बढ़कर शिक्षित, रूपवान, गुणवान, स्वस्थ, धनी तथा प्रतिष्ठित वर पाने की इच्छा भी दहेज की माँग का कारण बनती है। यदि लड़का नौकरी, व्यापार अथवा अर्थोपार्जन के किसी अन्य कार्य में संलग्न है तो वह दहेज की माँग का अतिरिक्त औचित्य बन जाता है।

४. दहेज प्रथा मिटाने के लिए किये गये कार्य :

आपात काल में देश में दहेज- विरोधी अ-पूर्व वातावरण बना था। सरकार स्वयं सेवी संस्थाओं तथा अन्य सामाजिक संगठनों का ध्यान इस बुराई को समूल उखाड़ फेंकने की ओर आकृष्ट हुआ था। फलस्वरूप, केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान आदि अनेक राज्यों ने भी दहेज-विरोधी कानून बनाए। इन कानूनों में किसी राज्य ने दहेज में दी जाने वाली अधिकतम धनराशि तीन हजार निश्चित की तो किसी ने पाँच हजार। बारातियों की संख्या का भी निर्धारण हुआ एवं सजावट तथा भोज आदि के अपव्यय की भी सीमा निर्धारित की गई। राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में सरकारी कर्मचारियों के लिए दहेज लेने अथवा देने पर प्रतिबन्ध लगाया गया। राजस्थान सरकार के एक फैसले के अनुसार जो व्यक्ति अपने विवाह के अवसर पर दहेज लेगा, वह राज्य सरकार की नौकरी के लिए अयोग्य माना जायेगा। सरकारी विज्ञप्ति में यह भी बताया गया था कि विवाहित उम्मीदवारों को सरकारी नौकरी में प्रवेश से पूर्व यह घोषणा करनी होगी कि उन्होंने अपनी शादी में दहेज नहीं लिया। घोषणा गलत सिद्ध होने पर

अनुशासनात्मक कार्यवाही की व्यवस्था भी थी। इसके अतिरिक्त जो लोग पहले से ही नौकरी में हैं, वे अपने पुनर्विवाह अथवा अपने पुत्र अथवा भाई के विवाह में भी दहेज नहीं लेंगे। सरकारों के अतिरिक्त कुछ स्वयं सेवी संगठन भी इन पुनीत कार्य में संलग्न हुए थे और समाज में, विशेष रूप से युवक-युवतियों में, दहेज-विरोधी वातावरण उत्पन्न करने का सद्प्रयास किया गया था। सामूहिक विवाहों को भी प्रोत्साहित किया गया। युवक-युवतियों को दहेज न लेने की शपथें भी दिलाई गई। निश्चित ही ये सब अच्छे प्रयत्न थे किन्तु प्रश्न यह है कि क्या ये इस बुराई को समूल उखाड़ सकने में सफल सिद्ध हुए। पिछला अनुभव बतलाता है कि इन सबका असर उन दिनों तो अवश्य देखने में आया था हालाँकि तब भी केवल इतना ही हुआ था कि दहेज सबके सामने न लिया जाकर चोरी छिपे लिया जाने लगा था और घर-गृहस्थी के आवश्यक उपकरणों की अपेक्षा मुद्रा में परिवर्तित हो गया था। अब तो यह सब भी नहीं रहा। पुनः खुलकर दहेज की माँग की जा रही है। देने वाले दे रहे हैं और लेने वाले निस्संकोच ग्रहण कर रहे हैं। दहेज विरोधी कानून हैं किन्तु उन पर अमल नहीं किया जा रहा।

५. उपसंहार : जड़ पर आघात करना जरूरी

हमारा विचार है कि भारतीय समाज को इस दानव से मुक्ति दिलाने के लिए कुछ और गहरे तथा ठोस प्रयत्न करने होंगे, इसके मूल कारणों का उच्छेदन करना होगा। सामाजिक व्यवस्था को कुछ इस प्रकार ढालना होगा जिसमें श्रम की प्रतिष्ठा हो। विवाह की लाटरी से प्राप्त धन के प्रति सामाजिक घृणा उत्पन्न करनी होगी। यह कार्य किसी एक के साधे नहीं सधेगा। इसके लिए सामाजिक चेतना को जाग्रत करना होगा। यह ठीक है कि विवाह का अवसर जीवन का एक विशिष्ट अवसर होता है और भारत जैसे देशों में वह प्रायः एकाध बार ही आता है। अतः इस अवसर पर हर्ष एवं उल्लास का पाया जाना उचित ही है, किन्तु यह कहाँ आवश्यक है कि इस हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति अनाप-शनाप अपव्यय के माध्यम से ही हो? हर्षोल्लास प्रकट करने के अन्य ऐसे तरीके खोजे जा सकते हैं, जो केवल ऊपरी अथवा दिखावा-मात्र न हों, बल्कि जीवन की सहज संजीदगी से प्रेरित हों, जिनमें झूठी सामाजिक मान प्रतिष्ठा की चाह न हो बल्कि अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति संतोष एवं आत्म-विश्वास की अभिव्यक्ति हो। सादगी में भी एक विशिष्ट भव्यता होती हैं, अपनी स्थिति के प्रति ईमानदार रहना भी एक अद्भुत सुख का कारण बन सकता है, यह हमें अनुभव कर सकना चाहिये। निजी उल्लास के कृत्रिम सामाजिक प्रदर्शन पर पूर्ण प्रतिबन्ध होना चाहिये। लड़की के रूप-गुण तथा अभिभावक की आर्थिक स्थिति के अनुकूल ही वर का चयन किया जाना चाहिये। विवाह के लिये लड़के का स्वावलम्बी होना आवश्यक ठहरा दिया जाना चाहिये तथा लड़की को भी आर्थिक रूप से स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। यदि लड़की आर्थिक दृष्टि से परावलम्बी नहीं होगी तो उसे अथवा उसके अभिभावकों को दूल्हा खरीदने की भी उतनी विवशता नहीं होगी। इस प्रथा के उन्मूलन के लिये सरकार द्वारा बनाये गये

कानून पहले की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट अवश्य हैं, किन्तु उन्हें और स्पष्ट बनाने की आवश्यकता है। कुछ राज्य सरकारों ने दहेज में दी जाने वाली नकद राशि की तो सीमा निर्धारित कर दी है किन्तु दहेज में दिये जाने वाले अन्य सामान की नहीं। उसकी राशि भी निश्चित होनी चाहिये। इसी प्रकार सरकारी कर्मचारी पर तो प्रतिबन्ध लगा दिया गया है किन्तु समाज के अन्य वर्गों को मुक्त छोड़ दिया गया है। गैर सरकारी कर्मचारियों, कृषकों एवं व्यापारियों आदि पर भी कुछ न कुछ प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। प्रतिबन्धों की उपेक्षा करने वालों को कठोर सजा दी जानी चाहिये। उच्च सरकारी पदों पर प्रतिष्ठित अधिकारियों, नेताओं तथा धनी-वर्ग को दहेज के लेन-देन की प्रवृत्ति को समाप्त कर जनता के सम्मुख आदर्श उपस्थित करना चाहिये। सामूहिक विवाहों को उचित प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। अभी तक यह कार्य कुछ स्वयं सेवी सस्थायें करती रही हैं, अब इस कार्य के लिये किसी सरकारी विभाग की स्थापना भी होनी चाहिये। ग्रामीण अंचलों में यह कार्य ग्राम-प्रधान को सौंपा जा सकता है, जो अपने ग्राम में प्रतिवर्ष होने वाले लड़की-लड़कियों के विवाहों की सूची बनाये एवं कोई तिथि निश्चय कर विवाह सम्पन्न करा दे। इस प्रणाली से जहाँ बाह्य दिखावट निरुद्देश्य हो जाती है, झूठी सामाजिक मान प्रतिष्ठा की चाह समाप्त होती है, वहीं यह ग्राम अथवा मुहल्ले के किसी व्यक्ति अथवा परिवार विशेष के उल्लास का अवसर न होकर सम्पूर्ण ग्राम अथवा मुहल्ले के हर्षोल्लास का अवसर भी हो जाता है। इन सब प्रयत्नों के अतिरिक्त इस कुप्रथा को दूर करने की वास्तविक कुंजी देश के युवक-युवतियों के पास है। यदि आज देश के युवक-युवती इस प्रथा को उखाड़ने के लिये कृत-संकल्प हों तो यह अधिक दिन तक ठहर नहीं सकेगी। युवकों को चाहिये कि वे ऐसे विवाह का तिरस्कार करें, जिसमें दहेज की व्यवस्था हो। युवतियों को स्वयंवरा बनाकर प्राचीन भारतीय आदर्श को पुनः जीवित करना चाहिये। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दहेज-प्रथा को आमूल-चूल रूप से उखाड़ फेंकने के लिये, यदि सरकार, जनता, स्वयं सेवी संगठन एवं सबसे बढ़कर इस देश के युवक-युवतियाँ अपनी कमर कस लें तो कोई कारण नहीं है कि यह प्रथा अधिक दिन तक टिकी रह सके। इसके उन्मूलन से जहाँ इस देश की नारी को मुक्ति की साँस मिलेगी, वहीं माता-पिता अथवा अभिभावक भी अनावश्यक भार से बचकर जिन्दगी को कुछ अधिक संजीदगी एवं सार्थकता के साथ जीने में समर्थ हो सकेंगे।

———

१६ गरीबी उन्मूलन : एक चुनौती

१. गरीबी-उन्मूलन की आवश्यकता :

यह जाना माना तथ्य है कि आज के अर्थ-प्रधान युग में निर्धन व्यक्ति अपने समस्त गुणों अपने स्वाभिमान और यहाँ तक कि अपने स्वत्व की रक्षा में भी स्वयं को असमर्थ पाता है। जो बात एक व्यक्ति के विषय में सत्य है, वही एक राष्ट्र के विषय में भी सत्य कही जा सकती है। भारत एक निर्धन देश है। यहाँ की लगभग चालीस प्रतिशत जनसंख्या जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी स्वयं को अक्षम पाती है। ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं है, जिन्हें दिन भर परिश्रम करने के बाद भी रात्रि को भूखे पेट सो जाना पड़ता है, सिर ढकने के लिये छत के अभाव में जिन्हें फुट-पाथ पर ही सर्दी-गर्मी एवं वर्षा को सहन करने के लिये विवश होना पड़ता है तथा अध-नंगे रहकर जीना पड़ता है। यों, भारत ने लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना को अपनी शासन-प्रणाली का लक्ष्य स्वीकार किया है, गुट निरपेक्षता उसकी विदेश-नीति का मूल आधार है, धर्म-निरपेक्षता, विश्व-बन्धुत्व, सह-अस्तित्व, अहिंसा एवं शान्ति जैसे उदात्त मानवी मूल्यों को वह विश्व-राजनीति में प्रतिष्ठित करना चाहता है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वह अपनी वर्तमान स्थिति में इन आदर्शों की प्राप्ति में सफल हो सकता है? जिस देश को पग-पग पर विदेशी आर्थिक सहायता का मुँह जोहना पड़ता हो, जिसकी पंच-वर्षीय योजनाओं की पूर्ति विदेशों की कृपा और सहानुभूति पर निर्भर रहती हों, वह देश किस प्रकार अपनी इयत्ता को सुरक्षित रखे, यह एक जटिल समस्या है। उदात्त आदर्शों की पूर्ति कर सकना आज किसी भी निर्धन देश के लिये कठिन बात है। स्व० दिनकर ने सत्य ही कहा था—

> क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल है,
> उसका क्या जो दन्त-हीन विष-हीन विनीत सरल है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि यदि भारत को अपने स्वाभिमान की रक्षा करनी है, यदि राजनीतिक क्षेत्र में प्राप्त स्वतन्त्रता को सार्थक एवं पूर्ण बनाना है, यदि जनता के जीवन-स्तर को सम्यक् धरातल प्रदान करना है तो सर्वप्रथम उसे गरीबी के इस अभिशाप से मुक्त होना पड़ेगा। अन्यथा, वह कभी भी अपनी स्वतन्त्र नीतियों वाले आदर्श की प्राप्ति नही कर सकेगा एवं धनी देश सहायता के रूप में दिये गये अपने धन के बदले मे उससे अपनी आशा-आकांक्षाओं एवं नीतियों के

अनुसरण के लिये अनुचित दबाव डालते रहेंगे। साथ ही जनता भी अभावों में पिसती रहेगी और अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकने में असमर्थ रहेगी।

२. भारत की गरीबी के मूल कारण :

भारत की गरीबी के मूल में जहाँ लम्बे काल की पराधीनता, जनसंख्या में निरन्तर एव आशातीत वृद्धि, विज्ञान एवं प्रविधि के क्षेत्र में पिछड़ापन, कृषि-कार्यों में वांछित सक्रियता का अभाव, अशिक्षा, अंध-विश्वास एवं बेरोजगारी आदि कारण रहे हैं, वहीं सूखा, बाढ़, युद्ध एवं आकस्मिक रूप में घटित हो जाने वाली अन्य प्राकृतिक दुर्घटनाएँ भी कुछ कम कारण नहीं रही हैं। लम्बे काल की पराधीनता ने आर्थिक दृष्टि से भारत को जर्जर बना दिया था। स्वतन्त्रता के बाद विकास की प्राथमिकताएँ तय करने में भी गलतियाँ हुईं। गाँवों के विकास पर ध्यान नहीं दिया गया, जहाँ देश की अधिकांश गरीबी पलती रही।

जनसंख्या की वृद्धि भारत की गरीबी का सबसे प्रमुख कारण है। वर्तमान समय में देश की जनसंख्या लगभग ६० करोड़ पहुँच चुकी है और अनुमान किया जाता है कि यदि जनसंख्या की वृद्धि दर यही बनी रही तो इस शताब्दी के अन्त तक यह एक अरब के लगभग पहुँच जायगी। स्पष्ट है कि जिस अनुपात से जनसंख्या बढ़ रही है, उस अनुपात में देश के आर्थिक साधन नहीं बढ़ पा रहे। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कृषि एवं उद्योगों के क्षेत्र में जितनी वृद्धि हो पाती है, जनसंख्या की वृद्धि उसे चौपट कर देती है। उदाहरण के लिये १९७५–७६ में समाप्त होने वाले सात वर्षों में राष्ट्रीय आय में औसतन ३·३ प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई है, जो स्वतन्त्रता के बाद से लगभग इतनी ही रही है किन्तु २·२ प्रतिशत के हिसाब से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण यह वृद्धि जीवन-स्तर की वृद्धि को शून्य बना रही है।

भारत की आर्थिक स्थिति का मेरुदण्ड कृषि है। कृषि-कार्य में जो लोग लगे हैं, अधिकांशतः वे आज भी अशिक्षित, अंध-विश्वासी एवं निर्धन हैं। फलस्वरूप कृषि के क्षेत्र में वे अधुनातन विज्ञान एवं तकनीकी जानकारी का लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। इसी प्रकार भारतीय किसान आज भी बड़ी मात्रा में मानसून से जुआ खेलने के लिये विवश हैं। भूमि का असमान वितरण खेतों का बिखरा-बिखरा होना, अधिक पैदावार देने वाली बीज की उन्नत किस्मों का प्रयोग न करना एव उर्वरक आदि का अभाव आदि अन्य ऐसे कारण हैं, जिनसे भारतीय कृषक की आर्थिक स्थिति में विशेष सुधार नहीं हो पा रहा। उद्योगों के क्षेत्र में भी वांछित उन्नति नहीं हो पाई है। निजी क्षेत्रों में जहाँ पूँजीपतियों को लाभ पहुँचा है, वहीं सार्वजनिक क्षेत्र नौकरशाही के चंगुल में फँसकर रह गये हैं। उद्योगों में कार्य करने वाले वास्तविक श्रमिक को उसका बहुत कम लाभ मिल पाया है। इसी प्रकार पूँजी-नियोजन, लाइसेंस एवं उत्पादन-शुल्क आदि की नीतियाँ भी उद्योगों की वृद्धि

में प्रायः बाधक रही हैं। कृषि एवं उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में अधुनातन विज्ञान और तकनीक का अपेक्षाकृत कम उपयोग भी भारत की गरीबी का एक प्रमुख कारण रहा है। हमारी अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों ने भी आर्थिक विषमता को बढ़ावा दिया है और गरीब को अत्यधिक गरीब एवं धनी को अत्यधिक धनी बनाने में योग दिया है। लघु एवं कुटीर उद्योगों की ओर यथोचित ध्यान न दिया जाना भी भारत की गरीबी का एक अन्य कारण बना है।

विकास नीति का दोषपूर्ण होना भी यहाँ की गरीबी का प्रमुख कारण है। पश्चिमी देशों के अनुकरण पर यहाँ भारी उद्योगों को प्राथमिकता दी गई, जिनमें पूँजी अधिक लगी और रोजगार बहुत कम लोगों को मिल पाया। गाँवों के विकास पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया। फलतः आज भी अधिकाँश गाँवों का विद्युतीकरण नहीं हो पाया। वे सड़कों से न जुड़ पाये। आज भी उनमें पेय-जल का अभाव है। निरक्षरता, अंधविश्वास एवं कुरीतियों ने उन्हें घेर रखा है। यदि इन सब चीजों पर ध्यान दिया गया होता तो आज जितनी गरीबी देश में दिखाई पड़ रही है, वह नहीं दिखाई पड़ती।

३. गरीबी का उन्मूलन कैसे हो :

यदि हम सही अर्थों में भारत की गरीबी को मिटाना चाहते हैं तो हमें हजारों वर्षों से पिसती चली आ रही उस करोड़-करोड़ जनसंख्या को उठाने के लिये अविलम्ब कुछ ऐसे ठोस प्रयत्न करने होंगे, जिनसे तत्काल और स्थायी रूप में वे इस गरीबी के अभिशाप से मुक्ति पा सकें। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने अपने जो विचार व्यक्त किये थे, वे हमारे लिये आज भी उतने ही सार्थक हैं। गाँधी जी ने कहा था—"आर्थिक समानता के लिये काम करने का मतलब है पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच के झगड़ों को हमेशा के लिये मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर जिन मुट्ठी भर पैसे वालों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है, उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर जो करोड़ों लोग अधपेट खाते हैं और नंगे रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना। × × × आजाद हिन्दुस्तान में देश के बड़े से बड़े धनिकों के हाथ में हकूमत का जितना हिस्सा रहेगा, उतना ही गरीबों के हाथ में होगा और तब नई दिल्ली के महलों और उनकी बगल में बसी मजदूर बस्तियों के टूटे-फूटे झोंपड़ों के बीच जो दर्दनाक फर्क आज नजर आता है वह एक दिन भी नहीं टिकेगा।" इस भारी भरकम उद्धरण को प्रस्तुत करने का अभिप्राय केवल इतना है कि 'गरीबी उन्मूलन' की सार्थकता गरीबी और अमीरी के बीच के भारी अन्तराल को समाप्त करने में ही है। हमें सीधे ग्रामीण कृषकों, मजदूरों, खनिजों एवं श्रमिकों की स्थिति को सुधारने का प्रयत्न होगा।

यह तो रहा नीति विषयक प्रश्न। अब गरीबी मिटाने के कुछ अन्य उपायों पर विचार किया जाए। गरीबी मिटाने का सबसे प्रमुख साधन है—उत्पादन क्षमता

में वृद्धि । जब तक कृषि एवं उद्योगों के क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि नहीं होती। तब तक हमारी अर्थ-व्यवस्था को पुष्ट आधार नहीं मिलेगा और वह चरमराती ही रहेगी । इसके लिये जहाँ अधुनातन प्रविधि एवं विज्ञान का सहारा हमें लेना होगा वहीं कडी मेहनत, ईमानदारी एवं दृढ़-संकल्प के अभाव में हम कुछ भी नहीं कर पायेंगे । इसी से सम्बद्ध किन्तु अति महत्वपूर्ण उपाय है—जनसंख्या पर नियन्त्रण रख पाना । इस नियन्त्रण के अभाव में तो उत्पादन-क्षमता के लिये किये गये हमारे सारे प्रयत्नों पर पानी फिरता रहेगा । कुटीर एवं लघु उद्योग भारत की गरीबी निवारण में बहुत बड़ी भूमिका निभा सकते हैं । वस्तुतः भारत में शारीरिक श्रम का अभाव नहीं है । आवश्यकता है ऐसे साधनों, उद्योगों एवं कार्यों को विकसित करने की, जिनमें भारत की इस शक्ति का सदुपयोग किया जाय और बड़ी पूंजी के विनियोग की आवश्यकता भी जिनमें न हो। इस दृष्टि से भारत में कृषि पर आधारित अनेक छोटे-मोटे उद्योग कायम किये जा सकते हैं । भारत में प्राकृतिक साधनों की भी प्रचुरता है । प्रति वर्ष बड़ी मात्रा में जल बहकर समुद्र की भेंट चला जाता है, जिसका कृषि एवं ऊर्जा विकास में सदुपयोग कर भारत काफी मात्रा में धन प्राप्त कर सकता है । इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक साधनों का विदोहन एवं सघन मानवी श्रम का उपयोग आवश्यक है । भारत में पर्यटन को उद्योग के रूप में विकसित करने की भी बड़ी सम्भावनायें हैं और यह विदेशी मुद्रा अर्जित करने का एक बड़ा महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हो सकता है । इसके लिये देश के वन्य-जीवन, प्राकृतिक स्थलों तथा सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि के महत्वपूर्ण स्थलों एवं साधनों का विकास आवश्यक होगा । इन सबके अतिरिक्त गरीबी-निवारण के प्रति अपेक्षित जागरूकता एवं राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण तो अनेक प्रकार से, अनेक कोणों से सहायक होगा ही ।

बेरोजगारी का सीधा सम्बन्ध गरीबी से है । जब तक यहाँ शिक्षितों एवं अशिक्षितों का एक बड़ा वर्ग बेरोजगार रहेगा, तब तक गरीबी की समस्या को हल नहीं किया जा सकता । भारत जैसे विकासशील देश में इस समस्या के हल के लिए श्रम-प्रधान विकास योजनाओं को प्राथमिकता देनी चाहिए । पूंजीपतियों और बड़े उद्योगपतियों को स्वयं गाँवों में जाकर छोटे-मोटे उद्योग खड़े करने में सहायता देनी चाहिए । गाँवों को सड़कों द्वारा समीपस्थ नगरों से जोड़ने का काम अविलम्ब शुरू किया जाना चाहिए । इससे जहाँ गाँव के विकास में मदद मिलेगी, वहीं अशिक्षितों को रोजगार भी । गाँवों के विद्युतीकरण से भी दुहरा लाभ होगा । इसके अलावा शिक्षा को व्यवसायोन्मुखी बनाकर भी रोजगार की समस्या को हल किया जा सकता है और बढ़ती हुई गरीबी को रोका जा सकता है ।

४. गरीबी उन्मूलन के लिए किए गए प्रयत्न :

पिछले दिनों गरीबी हटाने के जो प्रयत्न हुए हैं, यहाँ उन पर भी एक विहंगम दृष्टि डालना अपेक्षित होगा । इस दृष्टि से भूतपूर्व कांग्रेस सरकार के 'बीस-सूत्री

आर्थिक कार्यक्रम' की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। इस कार्यक्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह बतलाई गई थी कि इसमें सबसे निचले व्यक्ति पर सबसे पहले ध्यान दिया गया था। वास्तव में यह भारत में समाजवादी ढाँचा स्थापित करने का बड़ा ठोस एवं महत्वपूर्ण कार्यक्रम सिद्ध हो सकता था। इस कार्यक्रम के केन्द्र में ग्रामीण छोटे किसान, भूमिहीन मजदूर, बंधुआ मजदूर, खानों और कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिक, आठ हजार रुपये तक वार्षिक आय वाले निम्न मध्यम वर्ग के लोग एवं देश का युवा-वर्ग था। निस्सन्देह, इनकी स्थिति में सुधार लाने का अर्थ देश की वर्तमान आर्थिक विषमता की खाई को पाटने का प्रयत्न करना था, जो गरीबी मिटाने की अपरिहार्य शर्त है। इस सबका कार्यान्वयन प्रारम्भ ही हुआ था कि काँग्रेस सरकार चुनावों में पराजित हो गई और बीस-सूत्री कार्यक्रम सरकारी फाइलों में बन्द हो गया। अब जनता सरकार आर्थिक विकास का केन्द्र गाँवों को बनाना चाहती है और वहाँ लघु कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देकर ग्रामीणों को इसके अभिशाप से मुक्त करना चाहती है। सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस सीमा तक दृढ़ संकल्प एवं ईमानदारी के साथ उसे अपनाने का प्रयत्न करती है।

कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में भी कुछ कार्य हुआ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही यों तो कृषि के विकास के लिए छुट-पुट प्रयत्न होते रहे हैं किन्तु इन प्रयत्नों को वास्तविक गति मिली १९६५–६६ ई० के सूखा-प्रकोप के बाद। १९६६–६७ में कृषि-विकास की एक राष्ट्रीय नीति निश्चित की गई, जिसका मूल आधार था विज्ञान एवं तकनीकी जानकारी का कृषि के क्षेत्र में व्यापक प्रयोग। इसके अनुसार अधिक पैदावार देने वाली अनाज की किस्मों का उपयोग शुरू किया गया। गेहूँ की अनेक बौनी किस्मों जैसे—सोनारा ६४, सोनालिका, शर्बती सोनारा, लरेमा रोओ, हीरा एवं अर्जुन आदि के विकास के साथ-साथ मक्का, ज्वार, बाजरा की संकर किस्में तथा जौ, दलहन, अरहर, चना, मूंग, मसूर एवं उड़द की उन्नत किस्मों का व्यापक पैमाने पर प्रयोग किया गया। सिंचाई और जल-व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया गया। वैज्ञानिक कृषि विधियों से प्रति हेक्टेयर भूमि का उत्पादन बढ़ाने के कारगर ढग अपनाए गए। पहले उर्वरक यानी रासायनिक खाद विदेशों से आयात करनी पडती थी, अब देश में ही उसे उत्पन्न करने की ओर ध्यान दिया गया। बीस सूत्री कार्यक्रम के अन्तर्गत भूमि-वितरण का कार्य हाथ में लिया गया। भूमिहीनों को फालतू भूमि के आवंटन के साथ ही साथ अन्य भूमि सुधारों को भी महत्व दिया गया। कृषि मजदूरों की मजदूरी तय की गई। फलस्वरूप पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के इलाकों में गेहूँ की उपज काफी बढ़ी और आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, महाराष्ट्र, मैसूर, गुजरात एवं बंगाल में चावल की उपज में वृद्धि हुई। १९६५-६६ ई० में जहाँ कृषि उपज ७ करोड २३ लाख ५० हजार टन रह गई थी, वहीं १९७४–७५ में राष्ट्रीय प्रायोगिक आर्थिक अनुसन्धान परिषद् की एक समीक्षा के आधार पर यह उत्पादन ११ करोड़ ४० लाख टन तक पहुँच गया। भूमि की

सिंचाई और बंजर भूमि को उपजाऊ बनाने के कार्य की प्रगति का इस तथ्य से अनुमान लगाया जा सकता है कि जहाँ १९६६–६७ में केवल ४५ लाख हेक्टेयर भूमि में सिंचाई का लक्ष्य रखा गया था, वहाँ चौथी पंचवर्षीय योजना में ३·२ करोड़ हेक्टेयर से भी अधिक भूमि में सिंचाई की योजना बनाई गई। कीटनाशक औषधियों का बड़ी मात्रा में प्रयोग किया गया और 'हरितक्रान्ति' के स्वप्न को साकार किया गया।

इसी प्रकार के कुछ आँकड़े जनता सरकार के काल से भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अनाज एवं चीनी के उत्पादन में कुछ वृद्धि हुई है किन्तु इनके भाव गिरने से इनके उत्पादन में कमी की आशंका को निराधार नहीं कहा जा सकता। औद्योगिक संस्थानों में पुनः तालाबन्दी, हड़ताल एवं अशान्ति के दर्शन होने लगे हैं। पर्यटन के क्षेत्र में कुछ प्रगति अवश्य दिखलाई पडती है।

जनसंख्या की बाढ़ को रोकने के लिए पिछली सरकार ने 'परिवार-नियोजन' के कार्यक्रम को काफी बढ़ावा दिया। इतना बढ़ावा कि कार्यकर्त्ताओं और अधिकारियों के अति उत्साह ने इसे बदनामी की सीमा तक ला पटका। जनता सरकार ने इस कार्यक्रम का नाम 'परिवार-कल्याण' रख दिया और ब्रह्मचर्य, आयुर्वेद, पुराण और ऋषियों-मुनियों का हवाला देकर इसकी गति को ठप्प कर दिया। आशय यह है कि अब तक जो कुछ हुआ है, वह बहुत कम है। जो कुछ हुआ है, उसका भी अधिकांश लाभ उनको मिला है, जो गरीबी की रेखा से ऊपर आते हैं। योजना आयोग ने गरीबी की रेखा को परिभाषित करने में यह आधार माना है कि ग्रामीण क्षेत्रों में २४०० कैलोरी और शहरी क्षेत्रों में २१०० कैलोरी पोषाहार प्रति व्यक्ति, प्रतिदिन होना चाहिए। इस दृष्टि से अपने देश की लगभग आधी जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे आती है। एक अन्य अध्ययन से भी इस बात की पुष्टि होती है। अध्ययन के अनुसार देश की लगभग ५०% जनसंख्या ऐसी है जो उत्पादित कपड़े में से केवल ९% और उपभोग होने वाले अनाज में से केवल ३४% अनाज खरीदती है। हम ढोल पीटते रहें कि हमारे देश में खाद्यान्न की बहुतायत है किन्तु वस्तु स्थिति यह है आज भी देश की २४ करोड़ जनसंख्या केवल निर्वाह स्तर पर जीवन बिता रही है और लगभग २५ करोड़ लोगों को केवल एक बार खाना मिल पाता है।

तब गरीबी निवारण के लिए अब तक जो कुछ किया गया, 'वह ऊँट के मुंह में जीरा' की कहावत को ही चरितार्थ नहीं करता क्या?

५. निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गरीबी उन्मूलन आज भी इस देश के निवासियों एवं सरकार के लिए एक चुनौती है। इस देश ने जिसे राष्ट्रपिता कहकर पुकारा, उसकी एक मुराद थी कि देश के समस्त विकास कार्य उस व्यक्ति को केन्द्र में रखकर आयोजित किये जायें, जो गरीबों की पंक्ति में सबसे आखिरी नम्बर पर खड़ा है, परन्तु खेद का विषय है कि उस आखिरी आदमी के लिए न बात-बात में गाँधी का नाम लेने वाली इन्दिरा सरकार कुछ विशेष कर पाई और न राजघाट पर

बापू की समाधि पर शपथ लेकर राजकार्य में अग्रसर होने वाली जनता सरकार। वह आखिरी आदमी अभी तक आखिरी आदमी है। न 'बीस सूत्री' कार्यक्रम उसे गरीबी की रेखा से ऊपर निकाल पाया है और न अब 'अन्त्योदय' से ही ऐसी आशा बँधती है। यद्यपि छठी योजना का घोषित उद्देश्य गरीबी की रेखा से नीचे लोगों का अनुपात कम करना है किन्तु यदि उन घोषित लक्ष्यों को पूरा कर भी लिया जाय तो भी एक अध्ययन के अनुसार एक हजार से डेढ़ हजार के बीच की जनसंख्या वाले ग्रामों का लगभग ५०% भाग सड़कों से नहीं जुड़ पायेगा। भूमिहीन मजदूरों के लगभग ५० प्रतिशत परिवार मकान बनाने के लिए भूमि व आवास सुविधाओं से वंचित रह जायेंगे, जबकि गरीबी के उन्मूलन के लिए ग्रामों का विकास एवं भूमि विकास के कार्यों को प्राथमिकता देना एक अनिवार्यता बन गई है। जब तक कि देश के अधिकांश गरीबों के शरण-स्थल गाँवों के विकास की योजना शहर के प्रभुता-सम्पन्न लोग बनाते रहेंगे, जब तक व्यापारी और उद्योगपति अपने नये उद्योगों की स्थापना के लिए गाँवों को नहीं चुनेंगे, जब तक कृषि पर आधारित लघु कुटीर उद्योगों को बढ़ावा नहीं मिलेगा, जब तक जनसंख्या की वृद्धि पर रोक नहीं लगेगी, तब तक गरीबी नहीं मिटायी जा सकेगी। यदि जनता सरकार वास्तव में ही गरीबी दूर करना चाहती है तो उसे इन सब कार्यक्रमों की ओर पूरी निष्ठा के साथ ध्यान देना होगा। हमें ध्यान रखना होगा कि अभी दुनिया भर के सर्वाधिक अधनंगे गरीब बाँग्ला देश, इण्डोनेशिया एवं भारत में ही हैं।

———

१७ इन्दिरा-शासन के ग्यारह वर्ष

१. महती उपलब्धियों एवं गलतियों का काल :

इस समय, जबकि देश एक बड़े राजनीतिक परिवर्तन से होकर गुजर चुका है, पिछली इन्दिरा सरकार के ११ वर्ष ५६ दिनों की उपलब्धियों एवं कमियों का नीर-क्षीर विवेक द्वारा विश्लेषण करना बहुत आवश्यक है, जिससे देश की जनता और जनता सरकार इन्दिरा सरकार की शानदार उपलब्धियों को अपने आगे बढ़ने का प्रस्थान-विन्दु मान सके और उसकी गलतियों और कमियों को न दोहराने का संकल्प ले सके। २४ जनवरी ६५ से लेकर २२ मार्च ७७ तक का इन्दिरा जी का शासन-काल गम्भीर चुनौतियों, संघर्षों, उपलब्धियों एवं गलतियों का काल रहा है। राजनैतिक दृष्टि से इतनी उथल पुथल इस काल में हुई है कि राजनीतिक क्षेत्र को साँस लेने का अवकाश चाहे मिल गया हो, उसके जड़ होने की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। इस बीच ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हुई हैं, जो अप्रत्याशित थीं और इसी कारण वे ऐतिहासिक महत्व वाली बन गई। यह सही है कि इस काल की भारतीय राजनीति में प्रधानमन्त्री के रूप में इन्दिरा जी का व्यक्तित्व छाया रहा। उसने एक ओर जहाँ ऊँचाइयों के चरम शिखर छुए, वहीं दूसरी ओर पतन की अतल गहराइयाँ भी मापीं। ऐसे काल की उपलब्धियों एवं कमियों की ओर संकेत करने की निस्संगता, तटस्थता का प्रयत्न किया जा सकता है, उसका दावा नहीं किया जा सकता।

२. विभिन्न क्षेत्रों की उपलब्धियाँ :

आलोच्य काल में राजनीति, अर्थ, समाज, विज्ञान एवं प्रविधि तथा शिक्षा आदि के क्षेत्र में देश ने उल्लेखनीय प्रगति की, जिसे संक्षेप में इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—

राजनीतिक क्षेत्र की उपलब्धियाँ—सन् १९७१ में बाँग्ला देश के उदय को भारत की अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में सबसे बड़ी उपलब्धि स्वीकार किया जा सकता है। इस युद्ध में भारतीय फौजों ने जिस शूरवीरता का परिचय दिया और जिस प्रकार कम से कम नर-संहार करके पाकिस्तानी फौजों को हथियार डालने के लिये विवश किया, वह भूलने की बात नहीं है। उस समय संसार के अनेक देशों के विरोध और अमेरिका के सातवें वेड़े की परवाह न कर, भारत सरकार ने अपनी फौजों को निरन्तर आगे बढ़ने का जो आदेश दिया, वह उसकी गहरी सूझ-बूझ और दूर-दृष्टि का ही परिणाम था। भारत की इस ऐतिहासिक विजय ने जहाँ तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान के लोगों को पाकिस्तान सरकार की दोगली और अमानवी नीति से छुटकारा

दिलाया, वहीं संसार के देशों में भारत को प्रतिष्ठा भी दिलाई और अपने से निरन्तर शत्रुता बनाये रखने के इच्छुक पाकिस्तान की ऐसी पीठ तोड़ी कि जिससे उबरना उसके लिये असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया है।

राजनीति क्षेत्र की दूसरी बड़ी उपलब्धि संसार के गुट-निरपेक्ष देशों के सम्मेलन में निभाई गई महत्त्वपूर्ण भूमिका को माना जाना चाहिये। गुट-निरपेक्ष देशों के पंचम कोलम्बो शिखर सम्मेलन में, जिसमें संसार के ८५ देशों ने भाग लिया, भारत ने अपनी कुशल नेतृत्व की परम्परा को कायम रखने में सफलता प्राप्त की। भारत की तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी ने न केवल सम्मेलन को सर्वप्रथम संबोधित किया, वरन् हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित कराने, साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की निन्दा करने, पश्चिमी एशिया के झगडों में अरबों का समर्थन करने आदि की अपनी अन्तरराष्ट्रीय नीतियों का समर्थन पाने में भी सफलता प्राप्त की। इसी सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष देशों की अपनी स्वतन्त्र आर्थिक नीति के विकसित करने और पारस्परिक सहयोग की भावना को दृढ़ बनाने में भारत का विशिष्ट योग रहा, जिसे व्यावहारिक रूप देने के लिये बाद में, अप्रैल' ७७ में, इन देशों के विदेश-मन्त्रियों की समन्वय समिति की बैठक भारत में ही जनता सरकार के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुई, जिसमें आपसी सहकार और सहयोग के अनेक मार्गों की खोज और औद्योगिक, तकनीकी ज्ञान और औद्योगिक क्षमता का मिल जुलकर उपयोग करने का कोई व्यावहारिक तरीका निकालने का प्रयत्न किया गया। भारत ने अपने साथी इन विकासशील देशों को विकास और प्रशिक्षण सम्बन्धी सभी सुविधाएँ उपलब्ध कराने का आश्वासन दिया। सन् १९७१ ई० में सम्पन्न हुई बीस वर्षीय भारत-रूस मैत्री सन्धि को भी इन्दिरा शासन की एक बड़ी उपलब्धि स्वीकार किया जायेगा। इस सन्धि का लाभ १९७१ के भारत-पाक युद्ध में तो मिला ही, साथ ही यह भविष्य के लिये भी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकेगी ऐसा विश्वास किया जा सकता है। इस विश्वास का आधार यह है कि २६–२७ अप्रैल' ७७ की रूसी विदेश विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको की भारत-यात्रा के अवसर पर जनता सरकार ने इसे तोड़ना उचित नहीं समझा और भारत-सोवियत मैत्री को और अधिक सुदृढ़ बनाने का संकल्प प्रकट किया।

इन बड़ी उपलब्धियों के साथ अन्य पड़ौसी देशों से मैत्री सम्बन्धों की स्थापना के सफल प्रयत्न को भी इस काल की अन्तरराष्ट्रीय राजनीति की उपलब्धि स्वीकार किया जाना चाहिये। स्वयं तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने नेपाल, अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, बर्मा, श्रीलंका एवं इण्डोनेशिया आदि पड़ौसी देशों की यात्रा कर अपने मैत्री सम्बन्धों को बढ़ाया, साथ ही अपने विभिन्न मन्त्रियों को इन देशों में बार-बार भेजा तथा वहाँ के नेताओं को भी भारत के लिये आमन्त्रित किया, जिससे राजनीतिक स्तर पर राजनीतिक फैसले करके सम्बन्धों को मजबूत बनाया जा सके।

राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से भी कुछ निर्णयों एवं परिवर्तनों को उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जायेगा। इनमें २१ मार्च' ६६ ई० को भाषा के आधार पर

पंजाब का पुनर्गठन एवं नये हरियाणा राज्य का उदय, आन्ध्र की समस्या का समाधान, देश के पूर्वांचल में छः अलग-अलग राज्यों की स्थापना और चीन द्वारा चोरी-छिपे दिये गये हथियारों से युक्त विद्रोहियों का सफाया, विद्रोही नागाओं को आत्म-समर्पण के लिये विवश करना, सिक्कमी जनता की आकांक्षा पूरी करने के लिये सिक्कम का भारत में विलय और काश्मीर में शेख अब्दुल्ला को पुनः मुख्यमन्त्री बनाकर बहुमत की इच्छा का आदर करना आदि प्रयत्न उल्लेखनीय हैं।

आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र की उपलब्धियाँ—इस काल में आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी कुछ कार्य हुआ। इन प्रयत्नों में जहाँ देश की चरमराती हुई अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया गया, वहीं समाज के निर्बल एवं निम्न मध्यम-वर्ग को उठाने का भी। ५ जून १९६६ को ही आयात में कमी करने एवं निर्यात बढ़ाने के लिये भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया गया। १९ जुलाई १९६९ को भारत के प्रमुख १४ बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर बैंकों के दरवाजे सभी वर्ग के लिये खोल दिये गये। भूतपूर्व राजा-महाराजाओं के विशेषाधिकार छीन लिये गये और उनका प्रिवी-पर्स बन्द कर दिया गया। समाजवादी व्यवस्था में विश्वास रखने वाली सरकार किसी वर्ग के विशेषाधिकार को कैसे सहन कर सकती थी ? २६ जून, १९७५ को आपातकाल की घोषणा के बाद पहली जुलाई, १९७५ को प्रधानमन्त्री ने जो बीस सूत्री नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया, उसने भी आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में एक अच्छी शुरूआत की। इसके अन्तर्गत कृषकों श्रमजीवियों, युवाओं, विद्यार्थियों एवं बुद्धिजीवियों सभी को भागीदार बनाने की सफल असफल चेष्टा की गई। औद्योगिक क्षेत्र में शान्ति स्थापित हुई। उत्पादन बढ़ा। रेलवे की आय बढ़ी। कृषि के क्षेत्र में आत्म-निर्भरता बढ़ी। काले धन पर अंकुश लगा। तस्कर, जमाखोर, चोर बाजारिये एवं मुनाफाखोर दण्डित किये गये। फलस्वरूप, मुद्रा-स्फीति घटी और मंहगाई पर अंकुश लगा। जिस मंहगाई और मुद्रा-स्फीति पर काबू पाने में दूसरे अन्य सबल राष्ट्र भी सफल नहीं हुये, उस पर हमारे देश ने काबू पाया। समाज के क्षेत्र में निर्बल-वर्ग के कल्याण के लिये अनेक योजनायें क्रियान्वित की गईं। भूमिहीनों को भूमि प्राप्ति, साहूकारों के ऋणों से मुक्ति, बन्धुआ मजदूरी प्रथा की समाप्ति तथा मजदूरों की उद्योग-प्रबन्ध में साझेदारी आदि के लिये कानून बने। साथ ही नारी-वर्ग के विकास के लिये भी कुछ प्रयत्न हुये। 'समान कार्य के लिये समान वेतन' की नीति बनी। नारी की आर्थिक-मुक्ति के भी प्रयत्न किये गये और दहेज के दैत्य के विरोध में न केवल कानून बनाये गये, वरन् उन्हें लागू करने का प्रयत्न भी किया गया। इस प्रकार इस दशक में आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में परिवर्तन की एक नई प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी जो प्रारम्भ के स्तर पर ही समाप्त भी हो गई।

विज्ञान एवं प्रविधि के क्षेत्र की उपलब्धियाँ—विज्ञान एवं प्रविधि के क्षेत्र में इस काल में अद्भुत प्रगति के दर्शन हुए। मई १९७४ में राजस्थान के पोकरन नामक स्थान पर परमाणु का भूमिगत विस्फोट कर भारत सहज ही विज्ञान के क्षेत्र

में उन महादेशों की श्रेणी में जा बैठा जो परमाणु-शक्ति से युक्त देश कहे जाते हैं। इस परमाणु-विस्फोट की विशेषता यही रही कि अन्य देश इसका उपयोग विनाश एवं संहार के लिये करने को आकुल हैं, जबकि भारत इसका शान्ति-कार्यों के लिये उपयोग करने का इच्छुक है। दूसरी बडी उपलब्धि १९७५ में अन्तरिक्ष में आर्यभट को स्थापित करने की रही है। इस उपग्रह से बहुत लाभ मिला है, विशेषकर ऋतुओं की जानकारी तथा दूर-दर्शन कार्यक्रम में। भारत के दो हजार चार सौ ग्रामों में लोगों को दूर-दर्शन कार्यक्रम दिखलाया जा रहा है। इसके साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में भी 'दस धन दो धन तीन' की योजना का प्रारम्भ कर शिक्षा के मूल ढाँचे में ही परिवर्तन करने का प्रयत्न किया गया।

३. आपातकाल की घोषणा : पतन के इतिहास की भूमिका :

इन्दिरा शासन की ऊपर संकेतित उपलब्धियाँ ऐसी हैं, जिन पर कोई भी व्यक्ति और राष्ट्र गर्व कर सकता है किन्तु २६ जून, ७५ से, जिस दिन आपातकाल की घोषणा की गई, इन्दिरा-शासन के पतन की भूमिका तैयार होने लगी। इन्दिरा जी यदि इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये अपने विरुद्ध निर्णय का सम्मान करतीं और पद से त्याग-पत्र दे देतीं तो सम्भवतः न तो उन्हें देश में आपात स्थिति की घोषणा करने के लिये बाध्य होना पड़ता और न ही उनकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा पर कोई आँच आती। आपातकाल की घोषणा के पीछे जहाँ गुजरात और बिहार की अशान्ति तथा तत्कालीन रेल मन्त्री की हत्या, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पर हमला, औद्योगिक संस्थानों, विश्वविद्यालयों एवं कालेजों में उत्पन्न हुई अराजकता एवं अनुशासनहीनता आदि कुछ कारण हो सकते थे, वहीं उसका मुख्य कारण इन्दिरा जी द्वारा अपने पद की रक्षा करना भी था। इस स्थिति में श्रीमती गाँधी ने कुछ वरिष्ठ मन्त्री और नेताओं को भी आशंका की दृष्टि से देखना शुरू किया। फलस्वरूप, वे कुछ गिने-चुने नेताओं के व्यूह में घिरती गईं और धीरे-धीरे देश की वस्तु-स्थिति से दूर हटती गई। आपातकाल में मानवी स्वतन्त्रता का शासन द्वारा अपहरण कर लिया गया। प्रेस पर सेंसर बिठा दिया गया। अपराधियों के अतिरिक्त भी अनेक विरोधी दलों के नेताओं अथवा उनसे यत्किंचित् सम्बद्ध व्यक्तियों को 'मीसा' के अन्तर्गत जेलों में डाल दिया गया। नौकरशाही और पुलिस ने 'भारतीय आन्तरिक सुरक्षा कानून' की आड लेकर लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार किया। 'परिवार-नियोजन' जैसे राष्ट्रीय कार्यक्रमों में अवांछित ज्यादतियाँ की गईं। ४२वें संशोधन के द्वारा प्रधानमन्त्री को असीमित अधिकार प्रदान किये गये और जनता के मौलिक अधिकारों को भी छीन लिया गया। इसमें संभवतः दो मत हों कि आपातकाल के दौरान देश की अर्थव्यवस्था में सुदृढ़ता आई, कीमतों पर रोक लगी, तस्करों और अन्य असामाजिक तत्त्वों की धर पकड़ हुई, आयकर के छापों से काला धन बाहर आया। उद्योगों में हड़तालों और आन्दोलनों से मुक्ति मिली। कालेजों और विश्वविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन का वातावरण बना। १० + २ + ३ राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली को लागू करते

का संकल्प किया गया, आदि आदि, किन्तु इस सबको पाने के लिये जो भय और आतंक की स्थिति उत्पन्न की गई, वह मानवी-प्रतिष्ठा को निश्चय ही गिराने वाली थी। व्यक्ति-पूजा केवल कांग्रेस-दल और राष्ट्र के लिये ही अहितकर सिद्ध नहीं हुई, वरन् स्वयं इन्दिरा जी के भी अहित का कारण बनी। कुल मिलाकर आपातकाल जहाँ भौतिक उपलब्धियों के लिये वरदान सिद्ध हुआ, वहीं नैतिक मानवी मूल्यों के लिये अभिशाप बन गया। लोक में कहावत प्रचलित है—'अंत भला सो सब भला', किन्तु यहाँ तो सब भला होते हुये अंत ही भला नहीं रह पाया, जिसकी बहुत बड़ी कीमत कांग्रेस, देश तथा स्वयं श्रीमती इन्दिरा गाँधी को चुकानी पड़ी।

४. उपसंहार :

उक्त विवेचन को आधार बनाकर कहा जा सकता है कि इन्दिरा-शासन के इन ग्यारह वर्षों में इन्दिरा गाँधी का व्यक्तित्व सम्पूर्ण राजनीति पर हावी रहा। वे एक सशक्त. निर्भीक दबंग प्रधानमन्त्री के रूप में उभरीं, लोक-प्रियता एवं सफलता के चरम शिखरों को उन्होंने छुआ। इन्दिरा शासन की यह लोकप्रियता और प्रतिष्ठा जितनी अपूर्व रही, उतना ही उसका पतन भी अ-पूर्व एवं नाटकीय रहा। पराजय असाधारण थी किन्तु अकारण नहीं थी। न केवल इन्दिरा जी को, न केवल कांग्रेस-दल को, बल्कि वर्तमान सत्तारूढ़ जनता पार्टी को भी कांग्रेस की इस पराजय से पाठ लेना होगा। विश्वास किया जा सकता है कि कांग्रेस दल भविष्य में उन तमाम बुराइयों, हठवादिताओं और दुराग्रहों से अपने को मुक्त करने में कोई कसर नहीं उठा रखेगा, जो पिछले दिनों उसमें घर कर गई थीं और जिनके कारण उसे पराजय का मुख देखना पड़ा। साथ ही जनता सरकार भी इससे पाठ ले सकेगी कि यदि उसने भी इन गलतियों को दोहराया तो जनता उसे भी क्षमा नहीं करेगी। इन्दिरा-शासन ने देश को जिन अनेक दृष्टियों से मजबूत बनाया, नई सरकार उन्हें और मजबूत बनायेगी और जो गलतियाँ इन्दिरा सरकार ने कीं, उनसे स्वयं को मुक्त रखेगी, इसी में देश का कल्याण है।

---

१८ भारत का लोकतांत्रिक समाजवाद

१. परिभाषा की कठिनाई :

राजनीति दर्शन के एक विद्वान् सी० ई० एम० जोड ने कहा है कि समाजवाद उस टोपी के समान है, जिसका कोई आकार प्रकार नहीं है, क्योंकि हर प्रकार की खोपड़ी वाले व्यक्ति ने उसे खींच तान कर अपने सिर पर ओढ़ना चाहा है। जब विश्व में भिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियों वाले देश एवं स्वयं भारत में भिन्न विचार-धाराओं वाले राजनैतिक दल समाजवाद की स्थापना को अपना लक्ष्य घोषित करते हैं तो विद्वान् जोड का कथन और भी अधिक सार्थक होता दिखलाई पड़ता है। इस स्थिति में समाजवाद की कोई सर्वमान्य परिभाषा दे सकना कठिन होगा तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि समाजवाद अपने व्यापक अर्थ में एक समूची जीवन-पद्धति है, जिसका मूलभूत उद्देश्य समाज को आर्थिक एवं सामाजिक न्याय प्रदान करना है। समाज के प्रत्येक वर्ग को ऐसे समान अवसर प्रदान करना है, जिनके द्वारा वह अपना विकास कर सके। यहाँ तक लगभग सभी खेमों के विचारक सहमत हैं। मतभेद उन संसाधनों को लेकर है, जिनके द्वारा उक्त समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है। यहाँ संक्षेप में प्रमुख समाजवादी मतों की ओर संकेत करना उपयोगी सिद्ध होगा।

२. समाजवाद के विभिन्न विचारक :

समाजवाद के क्षेत्र में जर्मन विचारक कार्ल मार्क्स (सन् १८१८–१८८३ ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मार्क्स ने अपने समाजवाद को दार्शनिक धरातल प्रदान किया और उसकी भौतिकवादी व्याख्या की। उसका दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (डाइलेक्टिकल-मैटीरियलिज्म) कहलाता है। उसका विश्व विख्यात ग्रंथ 'डास कापिटल' द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उससे प्रेरित 'समाजवाद की संहति' बन गया है। मार्क्स वाद के अनुसार सृष्टि में दो तत्व प्रधान हैं, स्वीकारात्मक (पोजीटिव) और नकारात्मक (नगेटिव)। इन्हीं दोनों तत्वों के संघर्ष का नाम जीवन है। इन्हीं के संघर्ष से चेतना उत्पन्न होती है। इसे चेतना का आधार पदार्थ (मैटर) है। यह चेतना द्वन्द्व का परिणाम है। इसी कारण इसे 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहकर पुकारा जाता है, क्योंकि, मार्क्स ने इसकी व्याख्या इतिहास को आधार बनाकर की थी, इसलिये इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद भी कहा जाता है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में समाजवादी था। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, उसकी दृष्टि अर्थ-केन्द्रित होती गई। इसी अर्थ-केन्द्रित दृष्टि ने समाज को

शासक और शासित अथवा शोषक और शोषित वर्गों में विभाजित कर दिया और इस प्रकार वर्ग-संघर्ष ने जन्म लिया। इस प्रकार मार्क्स के समाजवाद का आधार अर्थ-विषमता पर आधारित यही वर्ग-संघर्ष है। इसलिये मार्क्स का सर्वाधिक आग्रह अर्थ के समान विभाजन पर है। अपनी मूल प्रतिपत्ति 'प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' को आधार बनाकर मार्क्स पूँजीवाद और सामन्तवाद आदि सभी प्रतिक्रियावादी तत्वों का विरोध कर ऐसी व्यवस्था कायम करने के पक्ष में है, जिसमें सबको अपनी उन्नति का और जीवन की सुख-सुविधाओं को भोगने का समान अवसर और अधिकार प्राप्त हो। कहा जा चुका है कि मार्क्स की दृष्टि भौतिकतावादी है, अतः वह अपने पूर्ववर्ती विचारक हीगेल की द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति को तो स्वीकार करता है किन्तु उसके निरपेक्ष ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। यहाँ वह जर्मन दार्शनिक फायरबाख (१८०४–१८७२ ई०) के अधिक निकट दिखलाई पड़ता है, जिसने 'हीगेल' की आध्यात्मिकता को नकार कर भौतिकता के प्रति अपनी आस्था प्रकट की थी।

सामाजिक विषमता को दूर करने की आकांक्षा प्राचीन भारतीय ऋषि के मन में भी थी, तभी उसने कामना की थी—

समानो मंत्रः समिति समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

अर्थात्—तुम्हारी मंत्रणा में, समितियों में, विचारों में, और चिन्तन में समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य और दुर्भावना न हो। श्रम के महत्त्व पर भी बहुत कुछ कहा गया है। ऋषि का विश्वास यहाँ तक था—जो श्रम नहीं करता, उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते—न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' यही नहीं, खोजने पर आधुनिक समाजवादी चिन्तन के कुछ अन्य तत्व भी प्राचीन विचारकों के चिन्तन में उपलब्ध हो सकते हैं। किन्तु उनका यह चिन्तन उनकी मानव-कल्याण की व्यापक आकांक्षा से ही प्रेरित था, कोई वैज्ञानिक धरातल वे उसे नहीं प्रदान कर पाये। आधुनिक भारत में समाज के दीन-हीन तथा दलित-वर्ग को ऊँचा उठाने में गाँधी जी ने बहुत प्रयत्न किया। चाहे वह अछूत वर्ग हो, चाहे श्रमिक अथवा नारी वर्ग, सभी गांधी जी की सहानुभूति के पात्र बने। अस्पृश्यता-निवारण को उन्होंने अपने रचनात्मक कार्यों में सर्वाधिक महत्व दिया। उनकी विचारधारा आज गांधीवाद' के नाम से जानी जाती है, जिसका राजनीतिक आदर्श यदि 'राम-राज्य' की स्थापना का था तो आर्थिक आदर्श 'सर्वोदय' की स्थापना का। सत्य एवं अहिंसा को राजनीति के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करके गांधी जी ने धर्म और राजनीति के समन्वय का प्रयत्न किया। वे अपने कट्टर से कट्टर विरोधी के प्रति भी हिंसा का प्रयोग नहीं चाहते थे। भारत की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उन्होंने कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने की बात कही और मशीनों का बहिष्कार किया। पूँजीपतियों को उन्होंने सलाह दी कि वे स्वय को समाज का 'ट्रस्टी' समझें और धन को सामाजिक धरोहर। वस्तुतः मार्क्स और गांधी दोनों ही सामाजिक विषमता को दूर करना चाहते थे किन्तु

इसके लिये एक यदि हिंसात्मक क्रान्ति को आवश्यक मानता है तो दूसरा अहिंसा के द्वारा ही धनी-वर्ग के हृदय-परिवर्तन' में विश्वास रखता है। एक का दृष्टिकोण यदि भौतिक है तो दूसरे का आध्यात्मिक।

३. लोकतान्त्रिक समाजवाद :

यद्यपि लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की चर्चा इंगलैंड के कुछ प्रसिद्ध विचारक, जिनमें एच० जी० वेल्स, जार्जबर्नार्डशॉ, हेरल्ड लास्की एवं बर्ट्रेण्ड रसेल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, अपने लेखों में एवं व्याख्यानों में कर चुके थे, तदापि भारतीय समाजवाद अपनी स्वतन्त्र इयत्ता रखता है। भूतपूर्व भारतीय प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने संसद में स्पष्ट किया था कि हम भारत में रूसी, चीनी या स्केन्डिनेवियाई ढंग का समाजवाद नहीं चाहते। भारतीय समाजवाद भारतीय ढंग का होगा। इसका मुख्य लक्ष्य गरीबी हटाना है। गरीबी हटाने के लिये उत्पादन में वृद्धि करने की आवश्यकता है। शासन उत्पादन-वृद्धि के लिये पूँजीपतियों को अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान करना चाहता है किन्तु यदि पूँजीपति जनता का शोषण कर केवल अपना ही पेट मोटा करते हैं तो शासन उनके विरुद्ध कठोर कदम उठाने में चूकेगा नहीं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शासन सम्पन्न और विपन्न के बीच में किसी प्रकार का टकराव और संघर्ष नहीं चाहता, बल्कि चाहता है कि गाँधी जी के मतानुसार सम्पन्न वर्ग स्वेच्छा से विपन्न वर्ग को साझीदार बनाये और नेहरू की 'सहकारितापूर्ण राष्ट्र-जीवन' की कल्पना को साकार करे किन्तु शासन सम्पन्न वर्ग को ऐसा करते देखने के लिये अनिश्चित काल तक की छूट नहीं देना चाहता। या तो पूँजीपति हृदय-परिवर्तन करें अन्यथा शासन उनमें यह परिवर्तन लाना चाहेगा। वस्तुतः यह 'दो कदम आगे एवं एक कदम पीछे' की दृष्टि हैं किन्तु भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति में इस दृष्टि की आवश्यकता है। इस भारतीय दृष्टि में एक ओर यदि 'गाँधीवाद' का प्रभाव है तो दूसरी ओर 'मार्क्सवाद' का भी। कुल मिलाकर इसे 'व्यावहारिक समाजवाद' की संज्ञा दी जा सकती है। केन्द्र में अब जनता सरकार के सत्तारूढ़ होने से इस चिन्तन में भी यत्किंचित् परिवर्तन हुआ है। जनता सरकार गरीबों को, शोषितों को उठाना चाहती है किन्तु इसके लिये पूँजीपतियों और सम्पन्न वर्ग पर कोई जोर डालने की आवश्यकता नहीं समझती।

स्वतन्त्रता के पूर्व से ही भारतीय राजनीति के कर्णधार स्व० जवाहरलाल-नेहरू समाजवाद के प्रति आकृष्ट थे, उनको रूस के नियोजित आर्थिक विकास ने अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया था किन्तु साथ ही वे पश्चिमी देशों के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के भी कायल थे। कांग्रेस के अनेक वार्षिक अधिवेशनों में कांग्रेस की ओर से समाजवादी व्यवस्था लाने के लक्ष्य की घोषणा की गई। सन् १९६३ ई० में सम्पन्न हुए कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन में देश में लोकतान्त्रिक व्यवस्था लाने की प्रतिज्ञा की गई। इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण सन् १९५५ ई० में ही कर लिया गया था, जिसे 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' का नाम दिया गया। सन् १९६९ ई० में अन्य चौदह बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। सामन्तवाद के अवशेष भूत-

पूर्व राजाओं के विशेषाधिकार एवं प्रिवी पर्स को सन् १९७१ ई० में समाप्त किया गया। जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन पहले ही कर दिया गया था किन्तु समाजवाद लाने का एक प्रयत्न सन् १९७५ ई० में भूतपूर्व प्रधानमन्त्री के बीस सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के द्वारा प्रारम्भ किया गया था। कृषि भारत की अर्थ-व्यवस्था का मूल आधार है। इस कार्यक्रम के अनुसार जहाँ सिंचाई की समुचित व्यवस्था, अच्छे बीजों की व्यवस्था एवं खाद आदि के समुचित प्रबन्ध की ओर ध्यान देकर कृषि-उत्पादन में वृद्धि का प्रयत्न किया गया, वहीं भूमि-सुधार एवं भूमि-वितरण के कार्य में तेजी लाई गई। देश में लगभग साढ़े पाँच लाख एकड़ फालतू भूमि में से प्रदेशों की सरकारों द्वारा भूमिहीनों को अधिकांश भूमि का वितरण कर दिया। औद्योगिक क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्रों का विस्तार करने के साथ-साथ निजी क्षेत्रों को भी सुविधायें दी गईं और इस प्रकार मिश्रित अर्थ व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया गया। काले धन के समानान्तर अर्थ-तन्त्र की कमर तोड़ने का भी प्रयास किया गया। हड़तालों और तालेबन्दी पर लगी रोकों से औद्योगिक शान्ति का वातावरण बनाया गया। मुद्रा-स्फीति को भी कम किया गया। निम्न वर्ग के श्रमिकों, ग्रामीणों और (बन्धुआ) मजदूरों को उनके कर्ज से मुक्ति दिलाकर उनके लिये न्यूनतम मजदूरी का कानून बनाया गया। शहरी सम्पत्ति और भूमि की सीमा निर्धारित कर दी गई। इनके अतिरिक्त शासन द्वारा अमीर और गरीब के बीच की खाई को पाटने के लिये कुछ भी प्रयत्न उठाकर न रखने का संकल्प लिया गया। जनता सरकार अब ग्रामीण विकास को प्रोत्साहन देना लघु कुटीर उद्योगों पर बल देकर 'अन्त्योदय' योजना के माध्यम से गरीबों को उठाना चाहती है किन्तु इसके लिये समाजवाद का नाम लेना सम्भवतः अनावश्यक समझती है।

४. उपसंहार :

यह निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जा सकना चाहिये कि १९७५ ई० से पूर्व देश में लोकतन्त्रात्मक ढंग से समाजवाद लाने के जो प्रयत्न किये गये, उनकी गति अत्यन्त धीमी थी। आपातकाल में इन प्रयत्नों को गति दी गई, जिसमें धीरे-धीरे 'समाजवाद' पर अधिक बल दिया जाने लगा और 'लोकतन्त्र' कहीं गायब होने लगा। आपातकाल में पूँजीपतियों एवं अन्य साधनों के मालिकों के साथ भी सख्ती की गई किन्तु यह सख्ती समाजवाद लाने के लिये कम, अन्य प्रकार के कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिये अधिक हुई। फलस्वरूप, एक अच्छी शुरुआत बाधित हुई। प्रेस पर लगी पाबन्दी और अभिव्यक्ति पर लगी रोक ने लोकतन्त्र का गला घोंट दिया, तब पूर्व सरकार के इस समाजवाद से क्या आशा की जाती। हमारा विचार है कि यदि तत्कालीन सरकार पूर्णतः लोकतांत्रिक ढंग से समाजवाद ला सकने में सफल होती तो यह पद्धति भारत के साथ एशिया और दक्षिणी अफ्रीका के अनेक नवोदित राष्ट्रों के लिये एक मार्ग-दर्शक का कार्य करती। जहाँ पिछली कांग्रेस सरकार ने अपने बाद के शासन काल में लोकतंत्र को निगल लिया था, केवल समाजवाद ही उसका अतिम लक्ष्य नजर आता था, वैसे ही लगता है जनता सरकार का अतिम लक्ष्य लोकतंत्र हो गया है, समाजवाद कहीं पीछे छूट गया सा लगता है।

१६ भारतीय विश्वविद्यालयों में अनुशासन की समस्या

१. प्रस्तावना : विश्वविद्यालयों में बढ़ती हुई अनुशासन हीनता

पिछली दशाब्दी भारतीय विश्वविद्यालयों के लिये अशान्ति, अव्यवस्था एवं अनुशासन हीनता की दशाब्दी रही है। देश में सम्भवतः ऐसा कोई विश्वविद्यालय बचा हो जिसका पिछले दस सत्रों में कोई एक भी सत्र शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो गया हो और उसमें हड़ताल, आन्दोलन अथवा बन्द की स्थिति उत्पन्न न हुई हो, अपवाद स्वरूप केवल आपातकाल के वर्ष को छोड़कर। कहीं-कहीं तो यह अव्यवस्था अपने चरम उत्कर्ष पर जा पहुँची और वहाँ अध्ययन-अध्यापन का सारा वातावरण ही समाप्त हो गया। विश्वविद्यालय वर्ष के अधिकांश भाग में या तो बन्द रहे अथवा अस्त-व्यस्त। अब तो लगता है विश्वविद्यालय विद्या-मन्दिर न रहकर जैसे स्थानीय अथवा दलीय राजनीति के अखाड़े बन गए हैं। विद्यार्थियों को विद्यार्जन से बहुत कम सरोकार रह गया है। उपस्थितियाँ छात्र नेताओं के अनुचित दबावों से पूर्ण की जाने लगी हैं। परीक्षाओं में नकल की प्रवृत्ति बढ़ी है। नकल रोकने पर निरीक्षकों पर प्राण-घातक हमले तक किये जाते हैं। विश्वविद्यालय शिक्षा येन-केन–प्रकारेण मात्र डिग्री बटोरने का माध्यम बन कर रह गई है। विद्यार्थी भीड़ गया है। भीड़ के मनोविज्ञान से ग्रस्त हो वह विश्वविद्यालय अथवा महाविद्यालय की इमारतों एवं अन्य कीमती सामान की तोड़-फोड़ का अपना लक्ष्य बनाता है और यदि ऐसा न करने के लिये उस पर किसी प्रकार का दबाव डाला जाये तो डाकखाना, रेलगाड़ी, मोटरकार, रेलवे स्टेशन आदि सरकारी अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति की होली जलाना प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार विश्वविद्यालयों की यह युवा-शक्ति अपने ही घर को अपने ही चिराग से आग लगाने पर तुल गई सी प्रतीत होती है। वह युवा-शक्ति—देश का भविष्य जिसके कन्धों पर टिका है—आक्रोश, असन्तोष, क्षोभ एवं अनेक कुण्ठाओं से ग्रस्त होकर आज भटक सी गई है।

२. अनुशासन हीनता के कारण :

आखिर इस सब अनुशासन-हीनता का कारण क्या है ? इस युवा पीढ़ी को क्या हो गया, जो केवल विध्वंस पर ही आमादा हो गई है। यदि हम इसकी गहराई में जायेंगे तो पायेंगे कि इस असन्तोष, आक्रोश एवं क्षोभ के पीछे कोई एक नहीं

अनेक कारण हैं। इसके लिये किसी सीमा तक हमारी शिक्षा-प्रणाली दोषी है। पीढ़ी-भेद भी उसका एक कारण है। ढीली व्यवस्था ने इस अनुशासन-हीनता को बढ़ावा दिया है। इन सब कारणों के अतिरिक्त अनुशासन-हीनता का सबसे बड़ा कारण विश्वविद्यालयों में राजनीति का प्रवेश है। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि भारतीय विश्वविद्यालयों में इन अनुशासन-हीन विद्यार्थियों की संख्या अपेक्षाकृत अल्प ही है। विद्यार्थियों का एक बड़ा भाग शान्ति, व्यवस्था, अनुशासन एवं अध्ययन में व्यस्त रहने के साथ-साथ समाज से भी अपना तालमेल बंठाता है। केवल विद्यार्थियों का एक अल्प प्रतिशत इस बड़े अध्ययनशील एवं अनुशासन-प्रिय विद्यार्थी वर्ग पर ही हावी नहीं होता, वरन् शिक्षा-शास्त्रियों, संस्था के अधिकारियों, अध्यापकों एवं अभिभावकों के लिये भी सिरदर्द बन जाता है और करोड़ों को सम्पत्ति को भी स्वाहा कर देता है।

सदोष शिक्षा-प्रणाली—यह सही है कि विद्यार्थियों की अनुशासन-हीनता के लिये किसी सीमा तक हमारी शिक्षा-प्रणाली भी जिम्मेदार है। आज की विश्व-विद्यालीय शिक्षा जीवन से कुछ अलग-थलग पड़ जाती है। वस्तुतः हमारी शिक्षा का लक्ष्य विषय का उच्च अध्ययन करना है, जबकि विद्यार्थियों की बहुत बड़ी संख्या ऐसी है जिसे विषय के उच्च एवं गम्भीर अध्ययन में न कोई रुचि है और न ही उसमें अध्ययन की क्षमता। वह तो केवल विश्वविद्यालय की डिग्री इसलिये प्राप्त करना चाहता है, ताकि उसके आधार पर उसे नौकरी मिल जाये। वस्तुतः यहीं आकर विश्वविद्यालीय शिक्षा अव्यावहारिक हो जाती है। प्रायः देखने में आता है कि विश्वविद्यालय में रहकर विद्यार्थी ने जो शिक्षा ग्रहण की है, अपने वास्तविक जीवन में उस शिक्षा का कहीं भी उपयोग वह नहीं कर पाता। उदाहरण के लिये, यदि कृषि-स्नातक किसी कार्यालय में लिपिक बनता है तो वस्तुतः उसके कृषि-ज्ञान की कोई सार्थकता नहीं रह जाती, इसी प्रकार वाणिज्य से स्नातकोत्तर की डिग्री लेकर यदि कोई कृषि-कार्य में संलग्न होता है तो वहाँ अपनी शिक्षा का समुचित उपयोग वह नहीं कर पाता। वैसे, शिक्षा का लक्ष्य केवल मानव का मानसिक विकास ही नहीं है, उसका शारीरिक एवं आत्मिक विकास करना भी है। हमारी विश्वविद्यालयीन शिक्षा बुद्धि प्रधान शिक्षा है। केवल बौद्धिक विकास से सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं और सर्वांगीण विकास के अभाव में शिक्षा अपने लक्ष्य—'सा विद्या या विमुक्तये'—की प्राप्ति में सफल नहीं हो सकती। परीक्षा प्रणाली तो हमारी दोष-पूर्ण है ही, जो सदैव विद्यार्थी की वास्तविक योग्यता की परीक्षा में सफल नहीं होती। इन सब बातों को ध्यान में रखकर जो '१०+२+३' शिक्षा योजना निर्मित हुई है, वह भी विवादों के जाल में घिर गई सी लगती है।

बेरोजगारी—रोजगार की समस्या भी शिक्षा-पद्धति से आकर जुड़ जाती है। यद्यपि शिक्षा शास्त्रियों के एक वर्ग के अनुसार उच्च शिक्षा का रोजगार प्राप्ति

से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। हम भी यह स्वीकार करते हैं कि उच्च शिक्षा का मुख्य लक्ष्य किसी विषय विशेष का गम्भीर अध्ययन एवं अनुसंधान करना है किन्तु हम यह भी मानते हैं कि जीवन के लिये आजीविका का तो साधन आवश्यक है। जो विद्यार्थी केवल आजीविका अर्जन हेतु उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये किसी न किसी अन्य व्यवस्था का होना अनिवार्य है। वर्तमान में इन आजीविका-कांक्षियों के लिये यथावश्यक व्यवस्था का अभाव है। उच्च शिक्षा के विद्यार्थी को जब रोजगार की चिन्ता सताने लगती है और उसे अपना भविष्य अंधकारमय नजर आने लगता है, तो कभी-कभी उसकी प्रतिक्रिया अनुशासन हीन आचरण में भी दिखाई पड़ती है।

पीढ़ी-भेद—पीढ़ी-भेद भी इस अनुशासन-हीनता का कारण हो सकता है। वस्तुतः जीवन में विज्ञान और प्रविधि के अत्यधिक विकास ने पुराने जीवन मूल्यों को झकझोर दिया है। नयी पीढ़ी अभी तक नये मूल्यों को प्रतिष्ठित नहीं कर पाई किन्तु पुरातन के प्रति अवश्य ही विद्रोहशील हो उठी है। युवा पुरानी पीढ़ी के अभिभावकों और अध्यापकों के साथ अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर पा रहा किन्तु वह इनसे सर्वथा दूर रहकर कुछ नया भी निर्मित नहीं कर पा रहा। इस प्रकार वह एक अजीव कशमकश की स्थिति में स्वयं को पाता है। व्यवस्था का ढीलापन भी इसके लिये किसी सीमा तक उत्तरदायी है। उदाहरण के लिये आपातकाल से पूर्व की स्थिति, आपातकाल की स्थिति एवं बाद की स्थिति की यदि तुलना की जाय तो इस तथ्य की पुष्टि स्वतः हो जाती है।

इन सब कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार में जो तेजी आई है, उसी अनुपात में शिक्षा के साधनों मे वृद्धि नहीं हुई। फल यह हुआ कि कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक होती है कि अध्यापक और छात्र के बीच जो व्यक्तिगत सम्बन्ध होना चाहिये, वह स्थापित नहीं हो पाता। अध्यापक विद्यार्थी को वह स्नेह देने में असमर्थ रहता है, जिसके बल पर वह विद्यार्थी के अनेक दोषों को दूर कर सके। अध्यापक के दायित्व-अनुभव का भी ह्रास हुआ है, चाहे उसके कितने ही उचित कारण क्यों न रहे हों।

राजनीति का प्रवेश—इन सब कारणों से भी कहीं अधिक बड़ा कारण है—विश्वविद्यालय में राजनीति का प्रवेश। जब तक अधिकारों का नारा बुलंद नहीं किया गया था, तब तक विकसित देशों के विश्वविद्यालयों में पूर्ण शांति रही, किन्तु अधिकारों की घोषणा होते ही अधिकार ही अधिकार की चर्चा प्रमुख हो उठी, कर्त्तव्य कहीं गायब हो गया। जहाँ तक बेरोजगारी के भय का प्रश्न है, समाज शास्त्री बेरोजगारी के भय एवं छात्रों में बढ़ती हुई, अनुशासन-हीनता का कोई परस्पर सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते। पीढ़ी-भेद तो हर युग की समस्या रही है। प्रत्येक नये युग ने किसी सीमा तक पुराने मूल्यों को नकारा है। पीढ़ी-भेद और बेरोजगारी का भय छात्रों

के अवचेतन में हो सकता है किन्तु यह सदैव उत्पात और अनुशासन-हीनता के रूप में ही फूटता हो, मनोवैज्ञानिक ऐसा स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः विश्वविद्यालयों में फैली अनुशासन-हीनता की जड़ राजनीति से सम्बद्ध है। भारत में लार्ड कर्जन के समय से ही छात्रों को राजनीति में उतरने के लिये प्रेरित किया जाता रहा। स्वाधीनता आन्दोलन के समय कितने ही विद्यार्थियों ने विश्वविद्यालय छोड़ दिया था और आन्दोलन को आगे बढ़ाने में अपना सक्रिय योग दिया था। आज स्थिति बिल्कुल दूसरी है। आज लोकतन्त्र द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ उठाकर कुछ राजनीतिक दल अपने दलीय स्वार्थों की पूर्ति के लिये इस युवा-शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। प्रायः इसका प्रारम्भ सत्तारूढ़ दल से ही होता है। कुलपति, प्राचार्य एवं अध्यापकों तक की नियुक्तियों में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से वह दबाव डालता है। अन्य दल भी विश्वविद्यालयों में अपना प्रवेश चाहते हैं। अतः वे व्यवस्था विषयक कमियों को उछालकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन में विद्यार्थियों के सम्मुख आन्दोलन का लक्ष्य एकदम स्पष्ट था। आज वह दूसरे के हाथ की कठपुतली बनकर रह गया है। अपना स्वार्थ साधने वाले राजनीतिक नेता 'राइट मिल्स' जैसे दार्शनिकों के मत से प्रभावित होते हैं, जिसके अनुसार बुद्धिजीवी और छात्र के सहयोग को ही क्रान्ति की मुख्य शक्ति माना गया है। इसी प्रकार 'मारकस' का यह विचार कि श्रमिक नहीं छात्र ही क्रान्ति के अगुआ हैं, भी नेताओं के विश्वविद्यालय-प्रवेश में प्रेरक रहा है। राजनीतिक नेता छात्रों की इस सम्भावना से लाभ भी उठाना चाहते हैं, साथ ही उन्हें अपने नियन्त्रण में भी रखना चाहते हैं। इस प्रकार के प्रयत्नों से समस्या और भी अधिक विस्फोट का रूप ले लेती है। वस्तुतः इन छात्रों की दिशाहीनता और दूसरों के हाथों में खेलने की प्रवृत्ति का इससे बढ़कर प्रमाण क्या हो सकता है कि इनके समस्त आन्दोलन कुछ स्थानीय माँगों की पूर्ति तक ही सीमित होते हैं। अखिल भारतीय स्तर पर ये देश की वर्तमान राजनीति में कुछ भी रचनात्मक योग नहीं दे पाए है और न शिक्षा-पद्धति में ही कोई व्यापक परिवर्तन कर सके हैं।

३. समस्या का समाधान कैसे हो ?

अनुशासन-हीनता की इस समस्या से निपटने के लिये स्वयं राजनीतिज्ञों को ही आगे आना होगा। जब तक वे अपने क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये इस किशोर तथा युवा-शक्ति का दुरुपयोग बन्द नहीं करेंगे, तब तक व्यवस्था भी निकम्मी एवं अकर्मण्य ही सिद्ध होती रहेगी। ये राजनीतिक नेता प्रभावशाली होते हैं और जो दण्ड की व्यवस्था इन अनुशासन-हीन विद्यार्थियों के लिये की जाती है, उसे ये अपने प्रभाव से बे असर कर देते हैं। अच्छा हो यदि ये विश्वविद्यालयों से दूर रहें। इसके लिये विश्वविद्यालयों के अधिकारियों की नियुक्ति में सरकारी हस्तक्षेप पर तुरन्त नियन्त्रण लगाना चाहिये और उच्च पदों पर कर्मठ एवं प्रतिभाशाली शिक्षा विदों की नियुक्ति होनी चाहिये। शिक्षा-पद्धति में भी परिवर्तन नितान्त आवश्यक है।

यदि उच्च शिक्षा को गम्भीर अध्ययन एवं शोध आदि से ही सम्बन्धित रखना है तो आजीविका हेतु उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के लिये बड़े पैमाने पर किसी प्रकार के औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी, जिससे बेरोजगारी का भय छात्रों के मन से निकल जाये। यदि ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है तो योग्य एवं सच्चे जिज्ञासु ही विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए उपस्थित होंगे। निस्संदेह, इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम होगी और तब अध्यापक एवं विद्यार्थी के बीच की दूरी भी उतनी नहीं रह पायेगी, जितनी वह आज है। इससे विद्यार्थी के मन के असन्तोष एवं आक्रोश के अनेक कारण समाप्त हो सकेंगे। परीक्षा प्रणाली को भी अधिक वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ बनाने की आवश्यकता है। आंतरिक मूल्यांकन की पद्धति को भी अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना चाहिये। शिक्षण की धुरी अध्यापक है। जहाँ अध्यापक को अपने आचरण एवं उदात्त चरित्र द्वारा अपने 'आचार्य' नाम को सार्थक करना चाहिये, वहीं सरकार और समाज का भी दायित्व है कि वह अध्यापक की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को अधिक से अधिक पुष्ट बनाने का प्रयत्न करे। इस सबके अतिरिक्त आज के युवा को सहानुभूति एवं स्नेह की भी आवश्यकता है। उन्हें वह अध्यापक तथा अभिभावकों की ओर से प्राप्त होना ही चाहिये। छात्र के व्यक्तित्व में यदि कहीं कोई कमी है, दुर्बलता है तो उसे दूर करने का दायित्व अध्यापक का है। गुरु तो कुम्हार है जो पात्र को अन्दर से सहारकर बाहर से थपकी की चोट दे दे कर उसके टेढ़ेपन को निकाल देता है, और सुन्दर पात्र का निर्माण करता है। गुरु को भी शिष्य के खोटों को मीठी फटकारों द्वारा निकाल फेंकने में समर्थ होना चाहिये। सतगुरु का एक ही वचन-वाण शिष्य के अन्दर की ज्योति को इस प्रकार प्रज्वलित कर दे सकता हैं, जैसे वन में दावाग्नि फैलकर वन को ज्योतित कर देती है—

सतगुरु मारया बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि ।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ॥

—'कबीर

४. उपसंहार :

आपातकाल की सम्पूर्ण अवधि में कालेजों और विश्वविद्यालयों का वातावरण अत्यन्त शांत रहा। हड़ताल और आन्दोलन तो समाप्त हुए ही, विद्यार्थियों में अध्ययन के प्रति रुचि भी उत्पन्न हुई किन्तु उसके बाद भारतीय विश्वविद्यालयों की जो स्थिति हुई, उससे स्पष्ट है कि आपातकालीन शान्ति और अनुशासन की भावना ऊपर से थोपी गई, ओढ़ी हुई तथा कृत्रिम थी। वह अन्दर से उमँगकर नहीं जनमी थी। अन्यथा क्या कारण था कि आपातकाल के हटते ही विश्वविद्यालय पुनः अशांति और अराजकता के केन्द्र बन गये। अनेक के कुलपतियों पर आक्रमण हुए, अनेक विश्वविद्यालयों की परीक्षायें स्थगित हुई, अनेक को अनिश्चित काल के लिये बन्द कर देना पड़ा। यह एक उदाहरण इस बात की ओर संकेत करता है कि विश्वविद्यालयों में

अनुशासन किसी ऊपरी दबाव, आतंक अथवा शासन से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, बल्कि उसके लिये उत्तरदायी कारणों पर सीधी चोट करनी होगी। व्यावहारिक राजनीति से विश्वविद्यालयों के परिसर को मुक्त करना होगा। आज 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद', 'विद्यार्थी कांग्रेस' एवं 'स्टूडेण्ट्स फैडरेशन ऑफ इण्डिया' जैसे सभी संगठन खुले आम दलीय राजनीति से प्रेरित हो रहे हैं। यह श्रम संघीय पद्धति है, जो विश्वविद्यालयों के हित में नहीं है। शिक्षा-प्रणाली को भी युग और जीवन की आवश्यकता के अनुरूप ढालना होगा। युवकों की बेरोजगारी की समस्या का कोई उचित हल खोजना ही होगा। कोठारी कमीशन की सिफारिशों को पूरे मन से लागू करना ही होगा। मूल्यांकन का कोई अधिक वैज्ञानिक एव वस्तु-निष्ठ हल खोजना ही होगा। शिक्षा से सम्बन्धित समस्त अधिकारियों, अभिभावकों, शिक्षकों और शासन को यह भली-भाँति सोच लेना चाहिये कि किसी देश का भविष्य युवा-पीढ़ी के कन्धों पर टिका होता है। विश्वविद्यालयों में अराजकता और अशांति के कारण यदि युवा-पीढ़ी के सर्वांगीण विकास में बाधा उत्पन्न होती है तो उसका दुष्प्रभाव देश के विकास पर पड़े बिना नहीं रहेगा। अतः विश्वविद्यालयों से अनुशासन हीनता को दूर करने के स्थायी उपाय अविलम्ब किये जाने चाहिये।

—: ० :—

२० पोकरण विस्फोट एवं आर्यभट

१. भारतीय विज्ञान के बढ़ते चरण :

बीसवीं शताब्दी विज्ञान और प्रविधि की चरम उपलब्धियों की शताब्दी रही है। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, चीन, कनाडा, जर्मनी एवं जापान आदि देशों ने आज विज्ञान एवं प्रविधि के क्षेत्र में पर्याप्त सफलतायें प्राप्त कर ली हैं। इस देश में जब कभी इन देशों की, विशेष रूप से पाश्चात्य देशों की, वैज्ञानिक उपलब्धियों की चर्चा होती थी तो कुछ भारतीयता के प्रति अत्यधिक चेतन लोग प्राचीन भारत की कतिपय वैज्ञानिक सफलताओं का स्मरण दिलाया करते थे कि वायुयान की विद्या हमारे यहाँ काफी पहले विकसित हो चुकी थी, जिसका प्रमाण राम द्वारा प्रयुक्त विमान था; कि गणित के क्षेत्र में शून्य का आविष्कार हमारे यहाँ हुआ अथवा रामायण एवं महाभारत काल में आग्नेय एवं प्रेक्षपणास्त्रों का प्रयोग हुआ था। यह भी कह दिया जाता था कि आज पश्चिम में जो विज्ञान का आलोक दिखलाई पड़ता है, उसकी किरणें पहले भारत-भूमि पर ही फूटी थीं—'जगे हम लगे जगाने विश्व, विश्व में फैला फिर आलोक' तथा 'पश्चिम में फैली जो प्रभा, वह पूरब से ही है गई' जैसी अनेक उक्तियाँ प्रचलित थीं और हैं, किन्तु अतीत के इस सारे गौरव गान का उद्देश्य वर्तमान में विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ेपन को छिपाने का प्रयत्न भी हो सकता है, इस पर बहुत कम लोगों ने विचार किया है। यह धारणा भारत तथा भारत के बाहर भी लगभग रूढ़ हो चुकी थी कि भारत एक अध्यात्म-प्रधान देश है, वैज्ञानिक उन्नति से उसका क्या सरोकार ? हर्ष का विषय है कि भारत में 'पोकरण विस्फोट' एवं 'आर्यभट' की सफल उड़ान ने विश्व के इस भ्रम को तोड़ा है और अध्यात्म के साथ-साथ विज्ञान के क्षेत्र में भी आगे बढ़ा जा सकता है, इसका विश्वास दिलाया है।

२. पोकरण विस्फोट : भारतीय विज्ञान की बड़ी उपलब्धि :

१८ मई, १९७४ का वह दिन भारतीय इतिहास में सदैव स्मरण किया जायेगा जिस दिन प्रातः ८ बजकर ५ मिनट पर राजस्थान के पोकरण नामक राजस्थानी क्षेत्र से भारत ने अपना प्रथम भूगर्भीय अणु-विस्फोट किया। वस्तुतः इस दिन भारत विश्व का छठा अणु-राष्ट्र हो गया। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस एवं चीन पहले ही परमाणु शक्ति से सम्पन्न राष्ट्र बन चुके थे। इन विकसित देशों को छोड़कर तो भारत प्रथम विकासशील देश है, जो परमाणु-शक्ति से सम्पन्न राष्ट्र बना है। दस से पन्द्रह किलो टन टी० एन० टी० की शक्ति वाला यह विस्फोट भूगर्भ में १०० मीटर

की गहराई में किया गया। इसकी शक्ति द्वितीय विश्व-युद्ध में नागासाकी पर गिराये गये अणुबम के समान बताई जाती है। विस्फोट के लिये आधुनिकतम तकनीकी जानकारी अपेक्षित होती है। भारत ने इसी प्रणाली का उपयोग करके विश्व को बतला दिया है कि भारतीय वैज्ञानिक प्रविधि के क्षेत्र में आधुनिकतम जानकारी रखते हैं। इस विस्फोट की कुछ अन्य विशेषतायें भी हैं। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भारत ने सीधे ही भूमिगत विस्फोट किया, जबकि विश्व की अन्य पाँचों आणविक शक्तियों ने पहले वायुमण्डल में परीक्षण किये थे, फिर परमाणु बम बनाये और उसके बाद ही वे भूमिगत विस्फोटों में सफलता प्राप्त कर सके। अब तो अन्य देश भी भूमिगत विस्फोट करने लगे हैं। दूसरी बडी विशेषता यह थी कि यह शुद्ध भारतीय सामग्री और तकनीक पर आधारित विस्फोट था, जो पूर्णतः नियन्त्रित एवं सीमित था। एक अन्य विशेषता इसके रचनात्मक उद्देश्य से सम्बन्धित है। अभी तक जिन राष्ट्रों ने अणु-विस्फोट किये, उनमें से अधिकांश के पीछे अपनी विध्वंसात्मक एवं सामरिक क्षमता बढ़ाने का उद्देश्य रहा है, यद्यपि वैज्ञानिक इनके रचनात्मक उपयोग पर भी पहले से अनुसंधान एवं अध्ययन करते रहे हैं। वान न्यूमैन तथा अमेरिका, रूस एवं फ्रांस के अन्य अनेक वैज्ञानिकों ने परमाणु विस्फोट के रचनात्मक उपयोग पर काफी सोचा है। भारत का तो उद्देश्य ही गहराई तक धँसने एवं चट्टान तोड़ सकने की इसकी क्षमता का पता लगाना था। भारत का विचार है कि परमाणु शक्ति का उपयोग भूमि में छिपी खनिज पदार्थ, तेल एवं गैस आदि की अनन्त सम्पदा का पता लगाने, सुरक्षित एवं गहरे बन्दरगाह बनाने, विभिन्न नदियों को जोड़ने वाली जल ग्रिड निर्माण की योजनाओं को पूर्ण करने तथा धरती के गर्भ में छिपी गर्म चट्टानों में दरार बनाने—जिनसे पानी ऊपर निकल सके और उससे भारी मात्रा में बिजली उत्पन्न की जा सके—आदि अनेक शान्तिपूर्ण एवं रचनात्मक कार्यों में किया जा सकता है।

परमाणु शक्ति के विकास का इतिहास—परमाणु शक्ति का विकास कर पोकरण विस्फोट की स्थिति तक पहुँच पाने का इतिहास भी बहुत लम्बा नहीं है। स्वतन्त्रता के बाद ही हमने परमाणु शक्ति के विकास के विषय में सोचना प्रारम्भ किया और अगस्त १९४८ में परमाणु शक्ति आयोग की स्थापना की गई। पहले से ही इस आयोग की स्थापना का उद्देश्य परमाणु के शान्तिपूर्ण उपयोग की सम्भावनाओं पर विचार करना स्वीकार किया गया। स्व० डा० भाभा जैसे लगनशील एवं कर्मठ वैज्ञानिक को इसके विकास का कार्य भार सौंपा गया और देश के प्रथम तपोनिष्ठ प्रधानमन्त्री स्व० जवाहरलाल नेहरू का विशेष प्रोत्साहन इस आयोग को प्राप्त हुआ। बम्बई के निकट ट्राम्बे में 'भाभा परमाणु शक्ति अनुसंधान केन्द्र' की स्थापना की गई। बम्बई के निकट ही तारापुर नामक स्थान में अणु-शक्ति के सदुपयोग के प्रतीक रूप में देश का पहला परमाणु बिजली घर 'तारापुर अणु विद्युत केन्द्र' के नाम से स्थापित हुआ। बाद में अन्य दो केन्द्र स्थापित किये गए। एक

चम्बल नदी के मुहाने पर 'राणा प्रताप सागर बाँध' (कोटा, राजस्थान में) तथा दूसरा 'कल्पाक्कम परमाणु शक्ति केन्द्र' (तमिलनाडु में)। देश के चौथे परमाणु बिजली घर का उद्घाटन उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले में गंगा–तट पर स्थित नरौरा नामक स्थान में १५ जनवरी, १९७४ को तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के द्वारा कर दिया गया है। १९८१ ई० तक इसके चालू हो जाने की सम्भावना है और इस योजना की प्रथम इकाई पर २१० करोड़ रुपया व्यय होने का अनुमान है। वर्तमान में इस शक्ति के विकास का कार्य आयोग के अध्यक्ष के रूप में डा० सेठना एवं 'भाभा अनुसंधान केन्द्र' के निदेशक के रूप में कार्य कर रहे डा० आर० रामन्ना जैसे कुशल एवं ख्यात वैज्ञानिकों के सधे हाथों में है। पोकरण का विस्फोट इन तथा इनके अन्य साथी वैज्ञानिकों के अनवरत एवं कठोर श्रम-साधना का परिणाम है। साथ ही इसकी आधार-शिला रखने वाले स्वर्गीय डा० भाभा एवं इसके उत्साही प्रेरक स्व० जवाहरलाल नेहरू को तो भुलाया ही कैसे जा सकता है, क्योंकि वैष्णव चिन्तन में प्रजा के भरण-पोषण एवं रक्षण के लिये विष्णु का जितना महत्व है, सृष्टि के आदिकर्त्ता ब्रह्मा का महत्व भी उससे किसी प्रकार कम नहीं है।

विस्फोट की प्रतिक्रियायें—विश्व के देशों में पोकरण विस्फोट की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। जहाँ रूस, फ्रांस, यूगोस्लाविया, अर्जेण्टीना, ब्राजील, आस्ट्रेलिया, स्विटजरलैण्ड तथा अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका एवं एशिया के अनेक राष्ट्रों ने भारत की इस सफलता पर हर्ष व्यक्त किया तथा इसे भारत के विज्ञान की महती उपलब्धि स्वीकार करते हुए देश के वैज्ञानिकों और प्रधानमन्त्री को बधाइयाँ दीं, वहीं अमेरिका, पाकिस्तान, जापान एवं कनाडा जैसे कुछ देशों ने इसके लिये भारत की आलोचना की। इनमें से कुछ ने भारत की गरीबी पर तरस खाया, कुछ को चिन्ता हुई कि भारत के पास इतना प्लूटोनियम कहाँ से आया, किसी को भारत की चौधराहट की भारी आशंका हुई तो किसी को इसकी आकस्मिकता ही दूर तक बेध गई और किसी ने इसे परमाणु-विस्फोट निरोध की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का उल्लघन बताया। कनाडा को तो इतनी चोट पहुँची कि उसने भारत को दी जाने वाली परमाणु सहायता तथा तकनीकी जानकारी का आदान-प्रदान ही स्थगित कर दिया। इस आलोचना पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तथ्य बहुत ही स्पष्ट है कि यह आलोचना अपने-अपने स्वार्थों पर चोट पहुँचने का परिणाम है और यह शुद्ध ईर्ष्या-द्वेष पर आधारित है। अन्यथा क्या कारण है कि एक ओर तो ये बड़ी शक्तियाँ विध्वंसात्मक कार्यों के लिये निरन्तर विस्फोट पर विस्फोट करती जायें और दूसरी ओर यदि भारत जैसा विकासशील देश रचनात्मक कार्यों के लिये एक विस्फोट कर दे तो इन देशों के पेट मे खलबली मच जाये। हमारे प्रधानमन्त्री और विदेश मन्त्री अपने इरादों को पहले भी और अब भी बार-बार स्पष्ट करते रहे हैं कि भारत अणुशक्ति का उपयोग गरीबी हटाने के लिये करना चाहता है, किसी को सताने, डराने-धमकाने एवं नष्ट करने के लिये नहीं। यदि भारत अपने इस

सदुद्देश्य में सफल हुआ तो निस्सन्देह, यह विश्व के राजनीतिज्ञों के लिये ही नहीं, वरन् वैज्ञानिकों के लिये भी महान् आश्चर्य का विषय होगा।

३. आर्यभट : भारतीय विज्ञान की दूसरी बड़ी उपलब्धि

भारतीय विज्ञान की दूसरी बड़ी उपलब्धि है—भारतीय उपग्रह 'आर्यभट' का अन्तरिक्ष में स्थापन। पोकरण विस्फोट के केवल ग्यारह महीने बाद ही भारतीय वैज्ञानिकों के इस दूसरे बड़े कमाल ने दुनिया के देशों को एक बार पुनः चकित कर दिया। अन्तरिक्ष-युग में प्रवेश करने वाला भारत ग्यारहवाँ राष्ट्र है। भारत से पूर्व अमेरिका, रूस, पश्चिमी, जर्मनी, चीन, फ्रांस, ब्रिटेन, आस्ट्रिया, कनाडा, जापान, और इटली अन्तरिक्ष में अपने उपग्रह स्थापित कर चुके हैं। १९ अप्रैल, १९७५ ई० को भारतीय समय के अनुसार एक बजे अपराह्न में, ३६० किलोग्राम वजन का प्रथम भारतीय उपग्रह, सोवियत संघ की राजधानी मास्को से कुछ दूर स्थित बियर्स झील के प्रक्षेपण स्थल से, सोवियत इन्टर कॉसमॉस राकेट द्वारा, अन्तरिक्ष में फेंका गया। अब वह लगभग ६०० किलोमीटर की ऊँचाई पर पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है। पृथ्वी की एक परिक्रमा यह ९६·१४ मिनट में पूर्ण कर लेता है। अपने मार्ग पर इसका वेग ८ किलोमीटर प्रति सेकेंड है। यह पृथ्वी की परिक्रमा करता हुआ लट्टू की तरह लगातार घूमता भी रहता है और एक मिनट में ग्यारह चक्कर लगा लेता है। यह उपग्रह २६ मुखी है तथा इसका रंग नीला व बेंगनी है। इसकी ऊँचाई ११६ किलोमीटर तथा व्यास १४ सेंटीमीटर है। उपग्रह में सूय के प्रकाश से बिजली बनाने की व्यवस्था की गई। उपग्रह के ऊपरी भाग में १८,५०० सौर सैलों का एक समूह है, जो सौर ऊष्मा को विद्युत में परिवर्तित करता रहता है। इसकी बिजली उत्पादन क्षमता ४६ वाट है। सौर ऊष्मा न प्राप्त होने पर ये सैल बिजली उत्पादन में असफल रहते हैं। उस समय बैटरी के द्वारा बिजली की कमी को पूरा किया जाता है। इस बीच जो बिजली खर्च होती है, वह उपग्रह के सूर्य के सामने आने के बाद फिर पूरी हो जाती है। जब उपग्रह मास्को के बियर्स लेक अथवा भारत के श्रीहरिकोटा स्थल से गुजरता है तो वह इन स्टेशनों द्वारा भेजे गये संकेतों का उत्तर देता है। उपग्रह में लगी मशीन के द्वारा सूचनाएँ टेप हो जाती हैं। भारतीय वैज्ञानिकों की महान सफलता इस बात में है कि जो उपग्रह छह मास के लिये अन्तरिक्ष में छोड़ा गया था, वह एक साल तक सफलता पूर्वक चक्कर लगा चुका है और आशा यह है कि आर्यभट लम्बे अर्से तक कक्षा में रहेगा और वैज्ञानिकों को अन्तरिक्ष की जानकारी देता रहेगा। विशेषज्ञों के अनुसार आर्यभट में गैस की जो छह बोतलें रखी गई थी, जिनमें से केवल कुछ ही समाप्त हुई है। गैस आर्यभट को घुमाती है।

भारतीय अंतरिक्ष विज्ञान का इतिहास—भारतीय अन्तरिक्ष विज्ञान का इतिहास भी केवल पन्द्रह वर्षों का है। जबकि स्व० विक्रम साराभाई के प्रयत्नों से १९६१ में त्रिवेन्द्रम में एक अन्तरिक्ष केन्द्र की स्थापना की गई। बाद में १९७० में डा० साराभाई के ही आग्रह पर 'उपग्रह प्रणाली प्रखण्ड' (सेटलाइट सिस्टम

डिवीजन) का निर्माण किया जिसका संचालन प्रो० यू० आर० राव को सौंपा गया। १० मई, १९७२ को हमने रूस के साथ समझौता किया जिसके अनुसार रूस भारतीय उपग्रह को प्रक्षेपण सुविधा प्रदान करने के लिये सहमत हो गया। स्व० विक्रम साराभाई की आकस्मिक मृत्यु से लगभग उसी प्रकार का आघात अन्तरिक्ष विज्ञान को लगा जिस प्रकार परमाणु शक्ति के विकास को वैज्ञानिक भाभा की मृत्यु से लगा था। स्व० साराभाई के विभाग का उत्तरदायित्व प्रो० सतीश धवन को सौंपा गया और बंगलौर के पास पीनिया में उपग्रह बनाने का कार्य प्रारम्भ हुआ। बंगलौर में इसी 'अन्तरिक्ष अनुसंधान संस्थान' के तत्वावधान में प्रो० राव के निर्देशन में ही आर्यभट का निर्माण हुआ। यह बड़े सन्तोष का विषय है कि यह मुख्यतः भारतीय वैज्ञानिक मेधा का ही परिणाम है और इसकी ९०% सामग्री स्वदेशी एवं १०% रूसी है। उपग्रह में रखे हुए जटिल यन्त्र भी भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा ही निर्मित हैं। ये यन्त्र तीन प्रकार के हैं—

(१) अन्तरिक्ष में एक्स किरणों का अध्ययन करने के लिये निर्मित उपकरण।

(२) तीव्र सौर गतिविधि के समय गामा किरणों और द्रुत गति वाले न्यूट्रोन के प्रति जानकारी कराने वाले संयत्र। और—

(३) रात के आकाश में रेडियो धर्मिता और इलेक्ट्रॉन गतिविधि का अध्ययन करने वाले यन्त्र।

इन तीनों प्रकार के संयंत्रों का निर्माण विभिन्न वैज्ञानिक संस्थानों के भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा ही हुआ है। हाँ, प्रक्षेपण का कार्य सोवियत राकेटों द्वारा ही किया गया है। वैसे १९८० तक भारत स्वयं का राकेट कैरियर बना लेने का संकल्प ले चुका है।

नामकरण—इस उपग्रह का नामकरण तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के प्रस्ताव पर 'आर्यभट' किया गया। आर्यभट पाँचवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध खगोलशास्त्री, ज्योतिर्विद एवं गणितज्ञ थे, जिनका जन्म ४७६ ई० में कुसुमपुर (पटना) में हुआ था। २३ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने 'आर्यभट' नामक ग्रंथ की रचना की। आर्यभट पहले भारतीय थे जिन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। उन्होंने खगोल शास्त्रीय गणना को वैज्ञानिक आधार देने के लिये त्रिकोणमिति जैसे गणित को जन्म दिया। कहते हैं, उन्होंने शून्य के महत्व को सिद्ध करके गणित को नयी दिशा दी। अपने इस पुरातन ख्यात वैज्ञानिक की स्मृति को सदैव-सदैव के लिये ताजा रखने के लिये इस उपग्रह का नाम आर्यभट रखा गया।

भविष्य के कार्यक्रम—निस्संदेह, भारत के इस प्रथम उपग्रह की सफलता श्लाघ्य रही है। अब दूसरे उपग्रह की योजना पर कार्य चल रहा है। यह भू-पर्यवेक्षण उपग्रह भी शीघ्र ही छोड़ा जा सकेगा। यह पूर्णतः स्वदेशी होगा किन्तु छोड़ा यह भी रूसी राकेट के द्वारा ही जायेगा, इसके लिये रूस से समझौता हो चुका है।

कुछ दिन बाद भारत अपना संचार उपग्रह छोड़ सकता है। अनुमान है कि इसमें पाँच वर्ष का समय लग जायेगा और लगभग ४ अरब रुपया खर्चा आयेगा। संचार उपग्रहों के टेलीफोन द्वारा टेलीविजन, टेलेक्स सदेश भेजे जा सकते हैं। आर्यभट का उद्देश्य अन्तरिक्ष में वैज्ञानिक परीक्षण करना है, जबकि दूसरे उपग्रह का मुख्य उद्देश्य पृथ्वी का एवं भू-साधनों की खोज रखा गया। इससे भारत के खनिज भण्डारों तथा कृषि उपज का सर्वेक्षण सम्भव हो सकेगा। उपग्रह और राकेटों के निर्माण से भारत के उद्योगों को भी बल मिलेगा। इस प्रकार उपग्रहों द्वारा जल, थल तथा अन्तरिक्ष के व्यापक सर्वेक्षणों द्वारा विविध राष्ट्रीय हितों की सम्पूर्ति हो सकेगी। संचार उपग्रह जनता को विविध प्रकार से शिक्षित करने में सहायक सिद्ध हो सकेंगे और जो लोक प्रशिक्षण का कार्य अमेरिका संचार उपग्रह के माध्यम से भारत में ही रहा है, शीघ्र ही हमारे अपने उपग्रह के द्वारा सम्पन्न किया जा सकेगा।

४. उपसंहार : वैज्ञानिक प्रतिभा के पलायन को रोका जाय

अन्ततः कहा जा सकता है कि पोकरण विस्फोट और आर्यभट—दोनों भारतीय विज्ञान के बढते चरण के प्रतीक बन गए हैं। इन दोनों के सफल प्रयोगों ने विश्व के समक्ष यह सिद्ध करके दिखा दिया गया है कि भारतीय वैज्ञानिक किसी भी दृष्टि से विश्व के विकसित देशों के वैज्ञानिकों से कम प्रतिभाशाली नहीं हैं : यदि उन्हें अवसर मिले और पर्याप्त साधन उन्हें प्राप्त हों तो विज्ञान एवं प्रविधि के क्षेत्र में वे भी अनेक चमत्कार घटित करके दिखला सकते हैं। यह भारतभूमि मात्र दार्शनिकों की भूमि नहीं है, यह वैज्ञानिकों की जननी भी है। दर्शन और विज्ञान दोनों सत्य को जानने के साधन ही तो हैं। आज यह सर्वविदित तथ्य है कि प्रतिवर्ष भारत के अनेक वैज्ञानिक विदेशों को पलायन कर जाते हैं।

भारत जिन वैज्ञानिकों और डाक्टरों आदि को प्रशिक्षित करने में देश की मोटी रकम खर्च करता है, उनके कार्य और अनुभव का लाभ उसे नहीं मिल पाता और विकसित देश इस प्रतिभा का लाभ उठाते हैं। आज भी डा० खुराना जैसे अनेक वैज्ञानिक ऐसे हैं, जो भारतीय भूमि से दूर विदेशों में बस गए हैं और अन्तरराष्ट्रीय विज्ञान के क्षेत्र में नाम कमा रहे हैं। जहाँ शासन को इन वैज्ञानिकों और डाक्टरों आदि के लिये उचित रोजगार जुटाकर इन्हें भारत में ही रोकने का प्रयत्न करना चाहिये, वहीं नव युवक वैज्ञानिकों को भी चाहिये कि वे विदेश से कुछ कम सुविधाएँ पाकर भी स्वदेश की सेवा करें। विदेशों में बसे ख्यातिनाम भारतीय वैज्ञानिकों को भी भारत आने के लिये आमन्त्रित किया जाना चाहिये। आज विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में भारत ने काफी उन्नति की है। यदि वह इस विदेश-पलायन को रोक सकने में समर्थ हो जाय तो यह देश, तीसरे संसार के देशों को विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्र में और बड़े पैमाने पर मदद और मार्ग-दर्शन दे सकने में समर्थ हो सकता है।

---

२१ विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय

१. आज का युग विज्ञान का युग

बीसवीं शताब्दी विज्ञान और तकनीक के विकास की शताब्दी रही है। आज के मानव ने विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में बड़ी उन्नति की है और वह बड़ी मात्रा में प्रकृति पर विजय पाने में सफल हुआ है। धरती और आकाश के साथ-साथ अब उसने अन्तरिक्ष में भी बडी संख्या में अपने उपग्रह स्थापित कर लिये हैं। चन्द्रमा पर विजय प्राप्त करने के बाद अब मंगल एवं शुक्र आदि ग्रहों पर उसकी दृष्टि पड़ने लगी है। गमनागमन के साधनों का विकास, उत्पादन क्षमता में आशातीत वृद्धि, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व अनुसंधान, सुख एवं विलास के कल्पनातीत उपकरणों का निर्माण, आणविक ऊर्जा का अत्यधिक विकास एवं विपुल मात्रा में विविध प्रकार की शक्तियों से युक्त प्रक्षेपणास्त्रों का निर्माण आदि ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जिनमें विज्ञान ने अपनी उपलब्धियों के क्रान्तिकारी कीर्त्तिमान स्थापित किये हैं और अब स्थिति ऐसी आ पहुँची है कि विज्ञानोपलब्ध इन साधनों के अभाव में आधुनिक जीवन की कल्पना भी कर सकना संभव नहीं रह गया है। चिकित्सा के क्षेत्र में विज्ञान के चमत्कारों से अनेक असाध्य समझे जाने वाले रोगों पर जो विजय प्राप्त हुई है, उसने न केवल संसार की मृत्यु-दर को आशातीत रूप से घटा दिया है, वरन् मानव के मन में एक अभूतपूर्व विश्वास का संचरण भी किया है। हृदय का सफल प्रत्यारोपण इसका एक उदाहरण है। दूर-संचार के साधनों ने विश्व के विभिन्न देशों को कितना अधिक निकट ला दिया है, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। और तो और अब तो परखनली में शिशु का जन्म भी सम्भव हो गया है। देर केवल मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की है।

२. विज्ञान की स्थूल दृष्टि :

यह सब एवं और भी बहुत कुछ; किन्तु यह प्रश्न अब भी अधर में ही लटका है कि क्या भौतिक जीवन की सुख-समृद्धि के लिये अधिक से अधिक साधन जुटाना ही विज्ञान का अन्तिम लक्ष्य है? क्या विज्ञान जीवन और जगत् के सभी रहस्यों को अनावृत्त करने में सफल हो सका है अथवा हो सकेगा? क्या यांत्रिकता के अतिशय व्यामोह में फँसकर आज का मानव स्वयं यन्त्र बनकर नहीं रह गया है? क्या विज्ञान उसे स्वयं को जानने की आन्तरिक दृष्टि प्रदान कर पाया है? यदि नहीं, तो यह समस्त अद्भुत वैज्ञानिक विकास जीवन के लिये अति महत्वपूर्ण एवं आव-

श्यक होते हुए भी, अधूरे एवं एकांगी ही नहीं हैं ? भौतिक दृष्टि से अत्यधिक निकट आकर भी क्या उपनिषद्कार की 'समस्त विश्व को एक नीड़' बनने की कल्पना साकार हो पाई है ? क्या देश-देश एवं मानव-मानव के बीच की खाई और अधिक बढ़ती नहीं जा रही और 'कामायनीकार' के मनु की यह अभिनव सृष्टि क्या काम के इस अभिशाप को भोगने के लिये ही विवश नहीं है ?—

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो, बढ़ें खेद
अभिलिषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद

यदि इस सबमें कुछ सत्यांश है तो उसके कारण का पता लगाना होगा । हमें इसके पीछे दो कारण दिखलाई पड़ते हैं, इनमें से एक विज्ञान की अपनी सीमा से सम्बद्ध है और दूसरा विज्ञान के विकृत प्रयोग से । विज्ञान के माध्यम से केवल उसी वस्तु अथवा विषय की सत्यता-असत्यता का निरूपण किया जा सकता है जो निरीक्षण एवं प्रयोग सापेक्ष है । निरीक्षण, विश्लेषण एवं प्रयोग से परे की वस्तु विज्ञान से भी परे की वस्तु है । यह 'क्या है' या 'कैसे है' या अधिक से अधिक 'कैसे होगा' तक सत्यता प्रमाणित करता है । 'क्यों है 'क्यों होना चाहिये' के विषय में मौन है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि विज्ञान की पहुँच पदार्थ के स्थूल रूप तक है, जबकि मनुष्य केवल स्थूल पदार्थ न होकर सर्जनात्मक चेतना से युक्त प्राणी है । विज्ञान सत्य की खोज के लिये तर्क और प्रमाण का अवलम्बन ग्रहण करता है, अनुभूति और आस्था का नहीं । कुल मिलाकर विज्ञान की पहुँच बुद्धि के क्षेत्र तक है. सबुद्धि (इन्टयूशन) का क्षेत्र इससे अछूता ही रह जाता है । आज के जीवन की विषमता, असन्तोष, मानसिक तनाव, अधूरापन एवं उसकी विनाशगामी प्रवृत्तियों का दूसरा प्रमुख कारण विज्ञान की उपलब्धियों के दुरुपयोग से सम्बन्धित है । बीसवीं शताब्दी के विज्ञान की चरम उपलब्धि है अणु । अणु से नागासाकी और हिरोशीमा की भटकती पहाड़ियों एवं सिसकती आत्माओं का विनाशकारी दृश्य भी उपस्थित किया जा सकता है और उससे रेगिस्तान को लहलहाते नखलिस्तान में बदलने का रचनात्मक कार्य भी सम्पन्न किया जा सकता है किन्तु दुःख है कि उसके विध्वंसक उपयोग की ही आशंका अधिक बढ़ती जा रही है ।

३. अध्यात्म की सूक्ष्म दृष्टि :

दूसरी ओर अध्यात्म का क्षेत्र है । जहाँ विज्ञान का क्षेत्र समाप्त होता है, वहीं से अध्यात्म का प्रारम्भ होता है । स्वीकार किया जाता है कि इस प्रत्यक्ष जगत् से भिन्न एक अन्य जगत् भी है, जो इन्द्रियातीत है । अध्यात्म इसी इन्द्रियातीत जगत् के चिन्तन से सम्बन्ध रखता है । वैसे भी 'अध्यात्म' शब्द 'आत्मन्' संज्ञा

के पूर्व 'अधि' अव्यय के योग से बना है, जिसका अर्थ होता है—आत्मा में विश्वास। इसी आधार पर 'मानक हिन्दी कोश' में अध्यात्म का अर्थ किया गया है—आत्मा और परमात्मा के गुणों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में किए जाने वाला दार्शनिक चिन्तन। विज्ञान की सीमाओं एवं उसके अनियन्त्रित प्रयोग के कारण जो गति पश्चिम की हुई है, न्यूनाधिक रूप में वही गति कभी अध्यात्म के पुजारी पूर्व, विशेष रूप से भारत, की भी हो चुकी है। ये आध्यात्मिक चिंतक सूक्ष्म का चिन्तन करते-करते कभी इतने अधिक सूक्ष्म हो गये कि स्थूल जगत् की ये उपेक्षा कर गये, इहलोक की अपेक्षा इन्हें परलोक की चिन्ता अधिक सताने लगी। व्यावहारिक जगत् की इस उपेक्षा ने अकर्मण्यता को बढ़ावा दिया। पर्वत की एकान्त एवं गहन गुहाओं के चिन्तक खेत और कारखानों के प्रति यथावश्यक सतर्क नहीं रह पाये। फलस्वरूप, आत्मिक परितृप्ति पेट की क्षुधा को शान्त न कर सकी। यही कारण रहा कि आगे चलकर भूखे पेट वाले इस कोरे अध्यात्म को गले न उतार पाये और उसके प्रति विश्वस्त नहीं बने रह सके।

४. अध्यात्म तथा विज्ञान का अधूरापन :

इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मात्र अध्यात्म तथा मात्र विज्ञान का रास्ता मानवता के कल्याण का रास्ता नहीं है। मात्र अध्यात्म की उपासना ने भूख से पूर्व के मनुष्य का मन तोड़ा है और मात्र विज्ञान के विकास ने पश्चिम के मनुष्य को सभ्यता की यांत्रिकता में छटपटाने के लिये विवश कर दिया है। स्व० लोहिया ने कभी ठीक ही कहा था कि पूर्व के अध्यात्मकी अन्तिम परिणति भूख है और पश्चिम के विज्ञान की अन्तिम परिणति है अणुशस्त्र। न पूर्व का अध्यात्म और न पश्चिम का विज्ञान मृत्यु के अतिरिक्त किसी को कुछ दे सका है। भूख और अणु शस्त्र ने मनुष्य की आस्था को हिला दिया है।

प्रसन्नता का विषय है कि बीसवीं शताब्दी का विज्ञान अपनी सीमाओं के प्रति सचेष्ट हो उठा है और वह उन्नसवीं शताब्दी के विज्ञान की भाँति गर्वीला नहीं रह पाया है। उन्नीसवीं शताब्दी का विज्ञान अपने विश्वासाधिक्य से पीड़ित था और जीवन एवं जगत् के किसी भी अंश को अपनी पहुँच के बाहर स्वीकार नहीं करना चाहता था। बीसवीं शताब्दी के अधिकांश वैज्ञानिक इस तथ्य से अवगत हो चुके हैं कि अणु का यथा-शक्ति विखडन करने के बाद भी कुछ ऐसा अवश्य बच रहता है जो विज्ञान की पकड़ से बाहर की चीज है—सितारों से आगे जहाँ और भी है। 'मेक्स-प्लैंक जो स्वयं वैज्ञानिक है, स्वीकार करता है—विज्ञान प्रकृति के अन्तिम रहस्य का भेदन करने में असमर्थ है और इसका कारण यह है कि अन्तिम विश्लेषण में, हम भी प्रकृति के अंग हैं और इसीलिये उस रहस्य के भी अंग हैं, जिसका हल ढूँढ़ निकालने में हम लगे हुए हैं। यही नहीं कि वैज्ञानिक अपनी सीमाओं से ही अवगत हुए हैं वरन् उनका ध्यान नैतिकता, त्याग एवं आत्म-सयम जैसे आध्यात्मिक तत्वों की ओर भी उन्मुख हुआ है। इस शताब्दी के महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने तभी

कहा था—"आज पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा मनुष्य का भाग्य नैतिक शक्ति पर अधिक निर्भर है। आनन्द और आह्लाद का साधन आज सर्वत्र ही त्याग और आत्म सयम है।" अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये हम स्व० दिनकर जी के उन विचारों का उल्लेख करना चाहेंगे, जो अपनी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व उन्होंने अपने 'साहित्य का नूतन ध्येय' निबन्ध में प्रकट किये थे। उन्होंने लिखा था—"विज्ञान जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, अभिनव चिन्तन का भी, गहराई की दिशा में उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है और ऐसा लगता है कि हम सचमुच ही उस बिन्दु के पास पहुँचते जा रहे हैं, जहाँ द्रव्य को समझने के लिये हमें आत्मा की आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ यांत्रिक और आध्यात्मिक तत्वों के बीच हमें सामजस्य लाना पड़ेगा।" अकारण नहीं है कि आज के पश्चिम का तनाव-जीवी युवक-मन भारत के तपस्वियों के आश्रमों एवं गुफाओं में अपनी खोई हुई अपूर्व शान्ति को प्राप्त करता है और भारतीय मन पश्चिम की वैज्ञानिक चौंध के प्रति आकृष्ट होता है।

५. दोनों के समन्वय की आवश्यकता :

वस्तुत: विज्ञान और अध्यात्म एक दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक हैं। विज्ञान भी जब गहराई में उतरता है, अध्यात्म में परिणत हो जाता है और 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' उक्ति के अनुसार समस्त धर्मों एवं आध्यात्मिक चिंतन का आधार भी तो शरीर ही है. यानी सूक्ष्म चिन्तन स्थूल के अभाव में सम्भव नहीं है, यानी आध्यात्मिक चिन्तन के लिये विज्ञान आधार बनकर उपस्थित होता है। आईंस्टीन ने तो केवल वैज्ञानिकों में धार्मिकता के दर्शन किये थे। उसके अनुसार 'हमारे इस जड़वादी युग में केवल जिज्ञासु वैज्ञानिक अन्वेषकों में ही गहरी धार्मिकता है।' विज्ञान और अध्यात्म दोनों ही चरम सत्य की खोज में संलग्न है। इस स्तर पर दोनों एक हैं। अन्तर है तो उनकी दृष्टि में। एक का आधार स्थूल पदार्थ है तो दूसरे का आधार सूक्ष्म आत्मा, एक जीवन के बहिरंग का अध्ययन करता है तो दूसरा उसके अन्तरंग का किन्तु जीवन की व्यापकता में दोनों ही समा जाते हैं, क्योंकि जीवन न केवल स्थूल पदार्थ है और न ही आत्मा, बहिरंग एवं अन्तरग दोनों पक्षों को मिलाकर ही जीवन अस्तित्व पाता है। अत: कहा जा सकता है कि जीवन को समझने एव जानने के लिये विज्ञान एवं अध्यात्म दोनों की ही परम आवश्यकता है।

६. विज्ञान से उत्पन्न आशंकाओं का निराकरण अध्यात्म में

निस्सन्देह, आज के मानवीय मूल्य विज्ञान द्वारा निर्मित है। जिस देश और जाति के लोगों का दृष्टिकोण आज जितना ही अधिक वैज्ञानिक है, वह देश और वह जाति आज उतनी ही अधिक सभ्य कहलाती है। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने जहाँ मानव की बुद्धि को धार पर रखकर उसे अत्यधिक कुशाग्र बना दिया है, वहीं उसकी आत्मीयता उससे छीन ली है, उसके हृदय-पक्ष को दुर्बल बना दिया है—

और है बढ़ती गई बुद्धि ही निःशेष।
छूटकर पीछे गया है, रह हृदय का देश॥

बुद्धि, जो केवल तोड़ना जानती है, जोड़ना नहीं, जो केवल स्वार्थ देखती है, परमार्थ नहीं। जिसने मानव-मानव के बीच के उन रागात्मक सूत्रों को मानव से छीन लिया है, जो उसे एक विश्व-परिवार से जोड़ते हैं और भयंकर संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर आज की मानवता को ज्वालामुखी के उस कगार पर लाकर छोड़ दिया है, जहाँ प्रतिस्पर्धा की एक जरा-सी चिनगारी उसके सर्वग्रासी विस्फोट का कारण बन सकती है। यहीं से विज्ञान के प्रति आशंकाएँ जन्म लेती हैं। इन आशंकाओं एवं निराशाओं के समाधान की शक्ति केवल अध्यात्म में है। विज्ञान की महती उपलब्धियों को यदि आज अध्यात्मोन्मुख कर दिया जाये तो न केवल विज्ञान की वर्तमान शक्ति में आशातीत वृद्धि होगी, न केवल उसकी चरम सत्य की खोज की साधना सुगम बनेगी, बल्कि मानवता विध्वंस से स्वयं की रक्षा करने में समर्थ हो सकेगी और अपनी रचनात्मक शक्ति द्वारा पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता, विश्वास एवं आस्था के खोये सूत्रों को खोज सकने में समर्थ सिद्ध होगी। अतः कहा जा सकता है कि मानवता का भविष्य विज्ञान एवं अध्यात्म के इतस्ततः बिखरे सूत्रों को जोड़ने में ही है। विज्ञान के बढ़ते हुये अश्व की लगाम अध्यात्म के सधे हाथों में सौंपने की आवश्यकता है। मानवता का कल्याण तभी सम्भव है—

> शक्ति के विद्युत कण जो व्यस्त,
> विकल बिखरे हों हो निरुपाय।
> समन्वय उसका करे समस्त,
> विजयिनी मानवता हो जाय।
>
> —'कामायनी से'

———

२२ अनुशासनहीन लोकतन्त्र अराजकता है

१. लोकतन्त्र में अनुशासन की आवश्यकता

इधर लोकतन्त्र शासन-प्रणाली की कम आलोचना नहीं हुई है। विचारकों ने इसके अनेक गम्भीर दोषों की ओर संकेत किया है किन्तु यह निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि यदि मानव को इतनी स्वतन्त्रता देना न्याय्य है कि वह अपनी नियति को स्वयं आकारित कर सके तो लोकतन्त्र शासन-प्रणाली को आज की मानव-मनीषा की सबसे बड़ी उपलब्धि स्वीकार किया जा सकता है। लोकतन्त्र के अतिरिक्त अधिनायकवाद, सैनिक शासन अथवा अन्य जितनी शासन-प्रणालियाँ हैं वे सब, अन्य कुछ दृष्टियों से उपयोगी सिद्ध होने पर भी, मानव की स्वतन्त्रता का हरण और उसके विवेक को कुंठित ही करती हैं, इस तथ्य से इनकार कर सकना कठिन होगा। इस मानवी स्वतन्त्रता की रक्षा एवं विवेक को अधिकाधिक महत्त्व देने के लिये लोकतन्त्र को भी कुछ कीमत चुकानी पड़ती है। यह सत्य है कि अमर्यादित एवं अननुशासित लोकतन्त्र द्वारा उसके उक्त मूल्यों की रक्षा होना सम्भव नहीं है।

२. अनुशासित लोकतन्त्र का आशय

प्रश्न हो सकता है कि यह अनुशासित लोकतन्त्र क्या बला है? क्या लोकतन्त्र पर किसी प्रकार के अनुशासन को लादना लोकतन्त्र की मूल भावना पर ही चोट करना नहीं है? क्या इसमें मानवी-स्वतन्त्रता एव उसका विवेक बाधित नहीं होता? हमारा उत्तर है—नहीं। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचारिता नहीं है। यह कोई निरपेक्ष तत्त्व भी नहीं है। वस्तुतः इसका सीधा सम्बन्ध दायित्व से जुड़ा है। जो जितना ही अधिक दायित्वशील है, वह उतना ही अधिक स्वतन्त्र है। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि वरण की स्वतन्त्रता दायित्व को जन्म देती है। जो अपने दायित्व के प्रति सतर्क एवं जागरूक नहीं है, वह अपनी स्वतन्त्रता की भी रक्षा नहीं कर सकता। अबाध स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज दुनिया में नहीं है। 'स्वतन्त्रता' के साथ ही साथ यहाँ 'अनुशासन' का अभिप्राय किसी प्रकार की पराधीनता अथवा बाधा से नहीं है। यह कोई ऐसी भी वस्तु नहीं है किसे बाहर से आरोपित किया जा सकता हो। वस्तुतः यह वस्तुओं और पदार्थों का वह धर्म है जो उनके भीतर से फूटता है। वह गुण है जिसकी उत्पत्ति सहज भाव से होती है और यह वह लय है, जो इनके बिखरे सूत्रों को परस्पर जोड़ती है। अनुशासन के अभाव में इनका अस्तित्व ही खतरे

में पड़ जायगा। लोकतन्त्र, क्योंकि मानवी स्वतन्त्रता में विश्वास रखता है, इसी कारण उसका अनुशासित होना और भी अधिक आवश्यक हो उठता है। लोक अथवा जनता ही लोकतंत्र का आधार है। प्रमाण के लिये अब्राहम लिंकन की परिभाषा—'लोकतन्त्र जनता के लिये जनता का और जनता के द्वारा होने वाला शासन है।' को प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुत: जनता ही निर्वाचक है, जनता ही नेता है, जनता ही विरोध दल है और जनता को ही शासित होना है। स्पष्ट है कि इस अनुशासन का केन्द्र भी जनता ही होगी। नेता, निर्वाचक एवं नौकरशाही लोकतन्त्र की ये तीन अलग-अलग किन्तु महत्वपूर्ण इकाइयाँ—जनता ही से उद्‌भूत होती हैं। अनुशासित लोकतंत्र इन्हीं तीनों इकाइयों के अनुशासन की अपेक्षा रखता है। किन्तु इस अनुशासन को इन इकाइयों के अन्दर से ही उदभूत होना चाहिये। यदि यह वाह्यारोपित होगा तो लोकतन्त्र की भावना को ठेस पहुँचने का खतरा बना रहेगा।

लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में नागरिक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नागरिक का अधिकार माना जाता है किन्तु हम ऊपर कह चुके हैं कि निरपेक्ष स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज नहीं होती, वह दायित्व से जुड़ी हुई होती है। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक नागरिक स्वतन्त्रता तो चाहता है किन्तु उसके साथ जुड़े हुए दायित्व की न केवल उपेक्षा करता है वल्कि उससे बचना ही चाहता है। यहीं से अनुशासन-हीनता का प्रारम्भ होता है। आर्थिक क्षेत्र में जब यह भावना पनपती है तो केवल कुछ व्यक्तियों का पूँजी के संसाधनों पर एकाधिकार हो जाता है और अधिसंख्य जनता दरिद्रता और अभावों के अभिशाप को भोगने के लिये विवश होती है। निर्बाध स्वतन्त्रता निर्बाध शोषण का पर्याय बनकर रह जाती है। बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल कर और अधिक विशालकाय होती चली जाती हैं और इस प्रकार एक प्रकार की आर्थिक अराजकता का जन्म होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये कि यह आर्थिक अराजकता ही बाद में सामाजिक, राजनैतिक तथा सास्कृतिक क्षेत्र की अराजकता का कारण बनती है। उदाहरण के लिये, इंगलैंड के उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक इतिहास की ओर संकेत किया जा सकता है, जहाँ अनियंत्रित स्वतन्त्रता ने पूंजीवादी मनोवृत्ति को इतना बढ़ावा दिया कि उसके कारण श्रमजीवियों की बड़ी संख्या को घोर यातनायें सहन करनी पड़ीं।

३. लोकतंत्र का आधार : नेता, निर्वाचक एवं नौकरशाही का अनुशासन

नेता का अनुशासन—यह अनुशासन नेता, निर्वाचक एवं नौकरशाही-जनतंत्र की तीनों इकाइयों के लिये आवश्यक है। इनमें से भी लोकतत्र के नेता का अनुशासित होना सर्वाधिक महत्व रखता है। नेता का अनुशासन नेता की योग्यता, उसके निर्वाचन एवं उसकी कार्य-प्रणाली तथा क्षमता से सम्बद्ध होता है। नेता, चाहे वह सत्तारूढ़ दल का हो अथवा विरोधी दल का, उसमें नेतृत्व की योग्यता तो होनी ही चाहिये। यदि नेता ही अयोग्य है अथवा भ्रष्ट है जैसा कि बनार्ड शॉ ने कहा भी है—अयोग्य व्यक्तियों द्वारा चुने गये भ्रष्ट शासक वर्ग का दूसरा नाम प्रजातन्त्र है।'—

तब सामान्य जानता का वह क्या मार्ग-दर्शन कर सकेगा ? स्थिति 'कबीर' के अंधे गुरु एवं अन्धे शिष्य के समान होगी—

जाको गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध ।
अंधे अंधेहि ठेलिया, दोनों कूप पड़न्त ॥

अंधा अंधे को क्या रास्ता सुझायेगा ? जिस देश की जनता का अधिकांश भाग अशिक्षित होता है, वहाँ तो नेता के अयोग्य एवं अनुशासन हीन होने की आशंका और भी अधिक बलवती हो उठती है क्योंकि वहाँ नेता का निर्वाचन नेता की योग्यता पर निर्भर न रहकर कुछ अन्य बातों पर अधिक निर्भर करता है। वह कभी पैसे के बल पर, कभी जातीयता के बल पर, कभी राजनीति के बल पर और कभी केवल अपनी कुटिलता और अनुशासनहीन प्रवृत्ति के बल पर ही निर्वाचित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति नेता के पद के अनुरूप गरिमा को धारण नहीं करता। स्वार्थ-लिप्सा में डूब जाता है। स्वयं अपने द्वारा बनाये गये नियमों एवं कानूनों की स्वयं ही अवहेलना करने लगता है। उसकी कथनी और करनी में अन्तराल पैदा हो जाता है और इस प्रकार उसका जीवन असंगति से घिर जाता है। जनता उसके चरित्र के इस दुहरेपन से अवगत होती है और फलस्वरूप, जनता के लिये उसकी वाणी निष्फल ही सिद्ध होती है। 'कामायनी' का मनु जब इड़ा के सम्मुख अपने निर्बाधित अधिकार को भोगने की लालसा प्रकट करता है तो इड़ा उसे जो उत्तर देती है, वह वस्तुतः इस प्रसंग में भी ध्यान देने योग्य सिद्ध हो सकता है। इड़ा कहती है—

और कह रही—'किन्तु नियामक नियम न माने,
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ सा निश्चय जाने।
× × ×
आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा ?'

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोकतन्त्र की सफलता के लिये नेता का अनुशासित होना बहुत ही आवश्यक है। यदि नेता ही अनुशासन को ताक पर रख देगा तो निश्चय ही समाज में एक प्रकार की अराजकता को बढ़ावा मिलेगा, जिसका यत्किंचित् अनुभव हम लोग समय-समय पर करते हैं, जबकि नेता की स्वेच्छाचरिता देश के लिये घातक सिद्ध होती है। ऊपर से शुरू होने वाली यह अनुशासनहीनता तो बहुत जल्दी समाज के निचले वर्ग तक संक्रमित हो जाती है। हमारा यहाँ यह आशय कदापि नहीं है कि पक्ष विपक्ष के प्रत्येक नेता को सत्ता रूढ़ दल द्वारा निर्मित कानूनों का पालन करना ही चाहिये अथवा उसका विरोध नहीं किया जाना चाहिये अथवा उसकी आलोचना नहीं की जानी चाहिये। हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि नेतृ-वर्ग कानून के अन्तर्गत रहकर कानून को तोड़े, वांछित अनुशासन में रहकर विरोध करे और उसकी आलोचना केवल आलोचना के लिये नहीं, बल्कि अधिक से अधिक रचनात्मकता लिए हुए हो।

निर्वाचक का अनुशासन—लोकतन्त्र की दूसरी महत्वपूर्ण कड़ी है – उसका निर्वाचक वर्ग। लोकतन्त्र को अराजकता से बचाने के लिये जहाँ नेतृ-वर्ग का अनुशासित होना अत्यन्त आवश्यक है—वहाँ लोकतन्त्र की मुख्य धुरी-निर्वाचक वर्ग-का भी अनुशासित होना आवश्यक है। निर्वाचक जितना ही अधिक सजग, शिक्षित एवं अनुशासन प्रिय होगा; लोकतन्त्र उतना ही अधिक सफल सिद्ध हो सकेगा। निर्वाचक वर्ग के पास सबसे बड़ा हथियार है - उसकी मतदान की स्वतन्त्रता। निर्वाचक वर्ग द्वारा इसी के दुरुपयोग की आशंका सदैव बनी रहती है और प्रायः वह इसका दुरुपयोग करता भी है। इसी के दुरुपयोग के कारण वह प्रायः जातीयता, साम्प्रदायिकता एवं पैसे आदि के लोभ में फँसता है, जिससे ऐसा नेतृ-वर्ग उभर कर सामने आता है, जिसका न कोई अपना विशेष चरित्र होता है और न ही निश्चित दिशा। केवल सत्ता हथियाना ही उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। ऐसे नेतृ-वर्ग के हाथों में शासन सौंप कर लोकतन्त्र के भविष्य को अन्धकारमय बना दिया जाता है। मतदान की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त निर्वाचक को आर्थिक एवं सामाजिक आदि क्षेत्रों में जो स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, अभीप्सित अनुशासन के अभाव में, वह उसका भी सदुपयोग नहीं कर पाता। इस प्रकार निर्वाचक वर्ग में एक ऐसी अंध जड़ता पनपती चली जाती है जो निश्चय ही, अराजकता एवं अशान्ति का कारण बनती है।

नौकरशाही का अनुशासन—नौकरशाही को लोकतन्त्र की आन्तरिक मशीनरी माना जाता है। इसकी अनुशासनहीनता सम्पूर्ण लोकतन्त्र के ढांचे को अस्त-व्यस्त कर देने के लिये पर्याप्त हो सकती है। प्रायः अयोग्य नेता तो इनके हाथ के खिलौने बनने को विवश होते ही हैं, कुशल नेता भी कभी-कभी इसे चुस्त बना पाने में असफल रह जाते हैं। भारतीय कार्यालयों के कर्मचारी तो अपनी इस अनुशासनहीनता के लिये कुख्यात रहे ही हैं। इनकी लालफीताशाही जनता, नेता तथा सम्पूर्ण देश के विकास में कहाँ तक बाधक एवं घातक सिद्ध हो सकती है, इसका अनुमान कर सकना किसी भी विवेकशील नागरिक के लिये कठिन नहीं है। इन कर्मचारियों का समय पर कार्यालय न पहुँचना, बीच-बीच में कार्यालय से घटों के लिये गायब हो जाना, समय से पहले ही कार्यालय छोड़ देना, कार्य के समय में कार्य न करके अतिरिक्त समय में कार्य करना एवं उसके लिये अतिरिक्त पैसे की माँग करना, कार्यों मे व्यर्थ का विलम्ब और सबसे बढ़कर अपने कर्म के प्रति यथावश्यक निष्ठा का अभाव आदि सब यदि इस नौकरशाही की अनुशासनहीनता का परिणाम नहीं तो और क्या है ? नौकरशाही की इस अनुशासनहीनता से जनता में लोकतन्त्रात्मक पद्धति के प्रति जो अनावश्यक रूप में असन्तोष, आक्रोश, अविश्वास एवं निराशा जन्म लेती है, वही अराजकता का कारण बनती है।

४. लोकतन्त्र को अराजकता से बचायें—

इस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है कि अनुशासनहीनता लोकतन्त्र अराजकता को जन्म देता है, जिससे लोकतन्त्र का भविष्य ही खतरे में पड़ जाता है।

लोकतन्त्र को यदि अराजकता से बचाना है तो इसके आधार-भूत मूल्य-स्वतन्त्रता—को एक सीमा तक मर्यादित करना ही पड़ेगा। इस मर्यादित स्वतन्त्रता का अर्थ किसी प्रकार की गुलामी से नहीं लिया जाना चाहिए, इसका अर्थ स्वतन्त्रता को उच्छृंखलता न बनने देना ही है। यह मर्यादित स्वतन्त्रता केवल निर्वाचक वर्ग के लिये ही अपेक्षित नहीं होगी, बल्कि नेतृ-वर्ग एवं नौकरशाही के लिये भी अपरिहार्य होगी। इन्दिरा-शासन में अनुशासित लोकतन्त्र की स्थापना का प्रयत्न यदि सफल नहीं हुआ तो केवल इसलिये कि वहाँ निर्वाचक और नौकरशाही से तो निरन्तर अनुशासन की माँग की जाती रही किन्तु नेताओं के एक वर्ग के लिये अमर्यादित आचरण की छूट बनी रही। दूसरा बड़ा कारण यह रहा कि इस अनुशासन को ऊपर से लादने का प्रयत्न किया गया। यह निर्वाचक, नौकरशाही के अन्दर से प्रादुर्भूत नहीं हुआ। तब इस प्रयोग की असफलता को कैसे टाला जा सकता था? एक ताजा उदाहरण जनता सरकार का है। जनता सरकार ने हमेशा लोकतन्त्र की वकालत की है। निर्भय बनने का संदेश दिया है किन्तु शीघ्र ही उसे भी स्पष्ट हो गया है कि लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा अनुशासन के अभाव में संभव नहीं है। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्रात्मक देश है। विश्व में लोकतन्त्रात्मक पद्धति की सफलता बहुत कुछ भारत के लोकतन्त्र की सफलता पर निर्भर करती है। यदि हमें लोकतन्त्र की रक्षा करनी है, तो हमें सभी स्तरों पर अनुशासन की स्थापना करनी होगी, वरना लोकतन्त्र अराजकता में परिणत हो जायेगा। ध्यान यह रखना है कि यह अनुशासन हमारी जीवन-पद्धति में ऐसा रच-पच जाय कि फिर इसे ऊपर से आरोपित करने की आवश्यकता का ही अनुभव न हो। हम इस तथ्य को भली-भाँति पचा सकें कि सम्पूर्ण सृष्टि ही एक विशेष प्रकार के अनुशासन में बद्ध है और प्रकृति के कण-कण में उसके जड़-चेतन सभी पदार्थों में एक विशेष लय तरंगित एवं सचरित हो रही है, जिसके ही कारण वह अस्तित्व में है। फिर, मानव-जीवन एवं उसके द्वारा निर्मित एक विशेष जीवन-पद्धति, सम्यक् अनुशासन के अभाव में अपनी सत्ता किस प्रकार सुरक्षित रख सकने में समर्थ सिद्ध हो सकती है?

२३ अन्तरराष्ट्रीय महिला-वर्ष और भारतीय नारी

१. अन्तरराष्ट्रीय महिला वर्ष :

संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में समय-समय पर अनेक अन्तरराष्ट्रीय वर्ष मनाये जाते रहे हैं, जिनका लक्ष्य विश्व के लोगों का ध्यान किसी विश्व व्यापी समस्या की ओर आकृष्ट करना होता है। हर्ष का विषय है कि विश्व का ध्यान उन महिलाओं की ओर भी गया है, जो सदियों से पुरुष के शोषण का शिकार रही हैं। जीवन-रथ का एक जीर्ण-शीर्ण पहिया कहीं उपेक्षित रहकर मार्ग के खाई-खंदकों में पड़कर टूट न जाय, जिससे रथ का चलना ही रुक जाय, इसीलिए सन् १९७५ ई० का वर्ष देश-विदेश में अन्तरराष्ट्रीय महिला-वर्ष के रूप में मनाया गया। इस वर्ष राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अनेक महिला-सम्मेलनों का आयोजन हुआ, जिनमें महिलाओं की वर्तमान स्थिति के अध्ययन के साथ-साथ समाज, राजनीति, शिक्षा एवं अर्थ आदि के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी भावी भूमिकाओं के विषय में भी अनेक चर्चा-परिचर्चायें हुईं। पुरुष के समान अधिकार प्राप्ति की माँग भी महिलाओं की ओर से उठी। यत्र-तत्र महिलाओं को किसी विशिष्ट विषम स्थिति से उबारने के लिए कानून भी बने। कुल मिलाकर पुरुष-जगत् का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट हुआ कि नारी भी विश्व जीवन का उतना ही आवश्यक एवं महत्व-पूर्ण अंग है जितना कि पुरुष, कि वह पुरुष की वासना-तृप्ति का एक साधन मात्र नहीं हैं बल्कि वह जननी, सहचरी एवं मार्ग दर्शिका भी है, कि अब पुरुष द्वारा बहुत दिनों तक नारी की सुकुमारता एवं कोमल भावनाओं का शोषण किया जाना सम्भव नहीं है और इस सबके साथ-साथ यह कि नारी में अपेक्षाकृत कुछ अधिक स्वतन्त्रता की ललक एवं स्वावलम्बन की भावना पैदा हुई है। उनमें आत्म-विश्वास जगा है और नई जाग्रति का सचार हुआ है। पश्चिम का 'नारी-मुक्ति आन्दोलन' इसका प्रमाण है।

२. भारतीय संदर्भ में महिला वर्ष :

भारत के लिये अन्तरराष्ट्रीय महिला-वर्ष की विशेष सार्थकता है। प्राचीन काल में जिस देश की नारी को प्रकृति-स्वरूपा स्वीकार किया गया हो, उसे विद्या, धन एवं शक्ति की देवी (सरस्वती, लक्ष्मी एव दुर्गा) के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया हो, प्रत्येक अनुष्ठान की पूर्ति में जिसकी उपस्थिति न केवल वांछित बल्कि

अनिवार्य समझी गई हो, जहाँ की देव-मूर्ति अर्ध नारीश्वर के रूप में सम्पूर्णता पाती हो, जहाँ प्रत्येक क्षेत्र में नारी का प्रवेश हो तथा पुरुष-ऋषियों के समान ही जिसने वेद-सूक्तों की रचना की हो; मध्यकाल में लम्बे समय तक जिसने अपने ह्रास को देखा हो; वह चार दीवारी में बन्द, पराधीन, रूढ़ियों को ढोने वाली एवं पुरुष की मात्र उपभोग्या बनकर रही हो; सन्त और भक्त कवियों ने कभी 'मीणि खाँड की', 'नारी बड़ो विकार', 'अवगुन आठ सदा उर रहहिं' तथा कभी 'जानि न जाइ नारी गति भाई' कहकर जिसकी उपेक्षा की हो तथा कवियों को पुर, वन एवं नगर में रहने वाली सभी कामिनियाँ प्रीति करके चित्त को चुराने वाली ही नजर आती हों; आधुनिक काल के आते-आते जिसने अपनी खोई प्राचीन गरिमा को प्राप्त करने का पुनः प्रयत्न किया हो और वर्तमान में न केवल उसने चिकित्सा, शिक्षा, न्याय एवं कानून प्रशासन, विज्ञान तथा समाज-सेवा आदि विविध क्षेत्रों में प्रवेश किया हो बल्कि राजनीति के क्षेत्र में देश के महत्वपूर्ण प्रधानमन्त्री तक के पद पर पहुँचकर नारी-जाति का मस्तक ऊँचा करने में गौरव प्राप्त किया हो; नारी विकास का ऐसा परस्पर विरोधी इतिहास जिस देश का रहा है, जिस देश में नारी डूबी तो अतल की गहराई तक जा पहुँची हो, उबरी तो एवरेस्ट शिखर को छूने लगी हो; महिला वर्ष में उस देश की नारी-विषयक चर्चा निस्सन्देह, विशिष्ट उपयोगी एवं महत्वपूर्ण होगी ही ।

३. आधुनिक काल में भारतीय नारी :

आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतीय नारी के जागरण के सन्देश के साथ ही हुआ। १९ वीं शताब्दी के अन्त में अनेक समाज सुधारकों का ध्यान नारी की दयनीय स्थिति की ओर आकृष्ट हुआ। राजाराम मोहनराय ने सती-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा विवाह एवं पर्दा-प्रथा आदि की कुरीतियों को नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया। बाद में गांधी जी ने भी नारी-मुक्ति का आह्वान किया। समाज सुधारकों के साथ-साथ साहित्यकारों ने भी इस दिशा में सराहनीय कार्य किया और नारी को मध्यकालीन संस्कारों से मुक्ति दिलाने का आह्वान करते हुये लिखा—

मुक्त करो नारी को मानव, चिर वन्दिनी नारी को।
युग-युग की निर्मम कारा से, जननी, सखी, प्यारी को।

इतना ही नहीं, पुरुष-वर्ग की स्वार्थ-परता पर भी करारी चोट की—

नर कृत शास्त्रों के बन्धन हैं सब नारी ही को लेकर।
अपने लिये सभी सुविधायें पहले ही कर बैठे नर।

स्वतन्त्र भारत के संविधान में लैंगिक आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न बरतने की बात कही गई और नारी को उसके विकास के सभी अवसर दिये गये। इस सबका कुछ लाभ भी हुआ। जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में नारी का प्रवेश हुआ। सरोजनी नायडू, विजय लक्ष्मी पंडित, कस्तूरबा गाँधी, राजकुमारी अमृतकौर,

सुचेता कृपलानी एवं इन्दिरा गाँधी आदि कुछ ऐसे विशिष्ट नाम भी उभर कर सम्मुख आये, जिन्होंने राजनीति एवं समाज-सुधार के क्षेत्र में न केवल विश्वावारा, श्रद्धा, इन्द्राणी, सूर्या, मैत्रेयी, गार्गी, सीता एवं सावित्री की प्राचीन प्रतिष्ठित परम्परा को आगे बढ़ाया बल्कि विश्व के नारी-जगत में अपनी प्रतिभा, कर्मठता एवं कुशलता की धाक जमा दी, किन्तु भारत की इतनी बड़ी सख्या में यह संख्या बहुत ही कम है। भारत की ग्रामीण स्त्री तो मध्यकालीन सस्कारों से जुड़ी ही रही, नगरों की शिक्षित नारी भी इनसे छटकारा न पा सकी। दहेज का दैत्य अब भी उनके सामने मुँह बाये खडा है। अब भी भारतीय विधवा पुनर्विवाह का साहस नहीं जुटा पायी है। अध-विश्वासों एवं रूढ़ियों से अभी तक वह चिपकी है। इन सब स्थितियों को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने १९७१ ई० में श्रीमती फूलरेणु गुह की अध्यक्षता में एक समीति का गठन किया। इस समिति के प्रतिवेदन से पता चलता है कि शिक्षा अंध-परम्पराओं, रूढियों, जीविकोपार्जन में आत्म-निर्भरता आदि की दृष्टि से अभी भारतीय नारी की स्थिति दयनीय बनी हुई है। आज भी वह बड़ा मात्रा में पुरुष के शोषण का शिकार है, विषमता के सीखचों में जकड़ी हुई है।

४. महिला-वर्ष में नारी उत्थान के लिए किए गए प्रयत्न :

महिला वर्ष में सम्पूर्ण विश्व में नारी-मुक्ति के प्रयत्न हुए हैं। भारतवर्ष में भी इसका कुछ लाभ नारी-जगत को मिला। अनेक भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में नारी-जीवन के विभिन्न सदर्भों पर सुविचारित लेख लिखे गये, विशेषांक निकले, जिनसे नारी की समस्याओं का आकलन करने एवं उनका समाधान ढूँढने में निश्चय ही मदद मिल सकती है। साथ ही कुछ ठोस कार्य भी हुये। एक बार पुनः दहेज-विरोधी वातावरण देश में उत्पन्न हुआ। हजारों की संख्या में युवक-युवतियों ने दहेज न लेने देने के लिए शपथें ली। अनेक राज्यों में दहेज विरोधी कानून बने। यह भी अनुभव किया गया कि आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में नारी अपने वांछित प्राप्य तक नहीं पहुँच सकती, अतः अनेक क्षेत्रों में उनके लिये नौकरियों के स्थान सुरक्षित किये गये। समान वेतन का भी निर्देश हुआ। अनेक राज्यों में 'महिला-वित्त निगम' जैसी संस्थायें एवं 'महिला आर्थिक विकास महामण्डलों' की स्थापना हुई। आंध्र में स्थापित 'महिला-वित्त निगम' स्त्रियों के व्यवसाय के लिए ऋण देता है। महाराष्ट्र में जिस 'महिला आर्थिक विकास मण्डल' की स्थापना हुई, वह वस्तुतः महाराष्ट्र की अनूठी एवं मौलिक योजना है, जिससे नारी के आर्थिक-विकास का एक नया साधन उद्घाटित हुआ। महामण्डल निजी ऋण तो नहीं देता किन्तु सरकार की सहायता से सामूहिक रूप में किये जा सकने वाले कार्यों में पूँजी लगाता है और महिलाओं के रोजगार की व्यवस्था करता है। महाराष्ट्र में ही केवल महिलाओं द्वारा संचालित दस बैंक भी स्थापित किये गये, जो सिर्फ महिलाओं की सहायता के लिये ही कार्य करेंगे। नारी हित को ध्यान में रखकर ही गर्भपात को कानूनी बना दिया गया है, जिससे अनेक नारियाँ नीम-हकीमों के

खतरों से ही नहीं अपितु आत्म-हत्या करने की विवशता से भी मुक्ति पा रही हैं। उत्तराधिकार के कानून को भी और अधिक सार्थक तथा उपयोगी बनाया जा रहा है। इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रयत्न हुए, जिन्हें लेकर अन्तरराष्ट्रीय महिला-वर्ष भारतीय नारी के सम्मुख उपस्थित हुआ।

किन्तु हजारों वर्षों से प्रताड़ित चली आने वाली नारी के कल्याण के लिए क्या य प्रयत्न काफी हैं? पुरुषों की उस मानसिकता को तोड़ने के लिए क्या प्रयत्न किया गया है, जिसके कारण वह निरन्तर शोषण का शिकार होती आई है? इनमें से भी अनेक कार्यक्रम अल्पकाल के बाद ही ठप्प से पड़ गए हैं। उदाहरणार्थ, उन दहेज विरोधी लाख-लाख शपथों का जो परिणाम हुआ, वह आज हम सबके सामने है। जिन जातियों में यह प्रथा नहीं भी थी, उनमें भी यह अब सामाजिक प्रतिष्ठा का सवाल बन गई है। नारी को आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनाने के लिए उठाए गए छोटे-मोटे कदमों में भी कोई गतिशीलता नजर नहीं आ रही।

५. उपसंहार :

वस्तुतः सामान्य भारतीय नारी आज जिस जड़ता को गले लगाये हुए है, उससे छुटकारा दिलाने के लिये केवल एक ही महिला-वर्ष पर्याप्त नहीं, ऐसे अनेक महिला-वर्षों की आवश्यकता होगी। अपनी दयनीय स्थिति से छुटकारा पाने के लिये स्वयं नारी को आगे आना होगा। एक ओर उसे पश्चिमी फैशनपरस्ती एवं चाकचक्य का अतिरिक्त मोह छोडना होगा तो दूसरी ओर भारत की सड़ी-गली बोझिल परम्पराओं एवं कुण्ठाओं की केंचुल से भी छुटकारा पाना होगा। आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र रहकर भी वह मातृत्व के गौरव को नहीं भूलेगी और निडर रहकर भी पुरुष के साथ पारस्परिक सद्भाव को तिलांजलि न देगी। वह आधुनिक बनेगी किन्तु सिगरेट, शराब, गाँजा आदि नशीले पदार्थों के सेवन से दूर रहकर पश्चिमी आधुनिका की भाँति आये दिन होने वाले तलाकों एवं अनेक प्रकार के मानसिक तनावों के भँवर में स्वयं को नहीं पड़ने देगी। वह पुरुष-वर्ग के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर नित आगे बढ़ेगी, नई चट्टान तोड़ेगी, नया रास्ता बनायेगी। महाकाव्यों की प्रेरणा ही नहीं, उनकी रचयिता भी होगी। वह पुरुष की सच्ची सहचरी, मार्ग-दर्शिका और सहधर्मिणी बनेगी। तब निश्चय ही 'जुलू शब्द कोश' में दी गई पुरुष की यह परिभाषा सार्थक सिद्ध हो सकेगी—'एक पशु जिसका प्रशिक्षण नारी करती है।''

आज का युग समता का युग है। अब वह युग नहीं रहा कि जब कोई वर्ग, जाति, सम्प्रदाय का कोई सदस्य केवल किसी विशेष वर्ग, जाति अथवा सम्प्रदाय के आधार पर ही स्वयं को अन्य से श्रेष्ठ घोषित करे। यही कारण था कि भारतीय दार्शनिकों ने हजारों वर्ष पूर्व यह नारा दिया था कि मानव-मात्र समान है। ऐसे में यदि आज की नारी कछुए की तरह अपने हाथ-पैर समेटकर अपनी चार दिवारी के खोल में सिमटकर नहीं रहना चाहती, वह बाहरी दुनिया के संघर्षों से लोहा लेने के

लिए तैयार हो उठी है, तो इसे नारी जाति की जागृति का ही सूचक माना जाना चाहिये। उसके नर-विरोध का नहीं। अब ऐसे समाचार मिलने लगे हैं कि अमुक नगर में किसी कन्या ने दहेज के लोभी अपने होने वाले दूल्हे के साथ डोली में बैठने से इनकार कर दिया कि अमुक महिला ने अपने दुर्व्यसनी, शराबी, एवं गैर-जिम्मेदार पति से तलाक होने में पहल की कि अमुक ने अपने उत्तराधिकार की समुचित प्राप्ति के लिये संघर्ष किया। निश्चय ही यह सब इस बात का प्रतीक है कि अब नारी के साथ भेड़-बकरी जैसा व्यवहार करना पहले जितना आसान नहीं रह गया है। यहाँ हम केवल इस बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं कि नर के समान अधिकार प्राप्ति की दौड़ में नारी को अपने उस स्वभाव की भी रक्षा करनी होगी, जो प्रकृति ने उसे नर से पृथक प्रदान किया, उस शक्ति को भी समेटकर रखना होगा, जिसके कारण वह जननी है, प्रेरणा स्रोत है, मार्ग-दर्शिका है और पुरुष की सहचरी है।

---

२४ भारतीय शिक्षित नारी की समस्याएँ

१. कैसे-कैसे दावे :

भारतीय नारी के विषय में समय-समय पर यहाँ के राजनेताओं, समाज-सेवियों एवं साहित्यकारों द्वारा विभिन्न प्रकार के दावे किए जाते रहे हैं। जैसे—प्राचीन काल में भारतीय नारी को देवी समझा जाता था कि उसका बड़ा मान-सम्मान था कि सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा के रूप में हमने विद्या, धन और शक्ति का प्रतीक नारी को ही स्वीकार किया कि हमारे अवतार भी नारी के अभाव में अधूरे हैं. इसी कारण युगल पूजा का विधान है तथा उनका नाम भी पुरुष के नाम से पूर्व लिया जाता है जैसे—राधा-कृष्ण, सीता-राम और उमा-शंकर आदि। यह भी कि आधुनिक काल में भारत ने नारी को सर्वाधिक संवैधानिक अधिकार प्रदान किए हैं। इन दावों में चाहे जितनी सत्यता हो किन्तु इस तथ्य से इनकार कर सकना कठिन होगा कि आज भी यहाँ की नारी पुरुष के अहं एवं शोषण की शिकार है। नारी के शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने पर भी उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। यद्यपि शिक्षित नारियों का प्रतिशत आज भी १८–१९ से आगे नहीं बढ़ पाया है, तदपि इतना नहीं कहा जा सकता कि यहाँ की शिक्षित नारी का तो अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व बन गया है। अनेक क्षत्रों में वह भी पुरुष की मुखापेक्षी बनी हुई है, उसके अहं से दबी है और शोषण का शिकार है।

२. समस्याओं के व्यूह में :

अशिक्षित मानसिकता से टकराव—आज की शिक्षित नारी अनेक समस्याओं से घिरी है। उसकी सबसे बडी समस्या है—शेष ८०–८२ प्रतिशत अशिक्षित नारियों की मानसिकता से जूझना। अभी भारत का बहुत बड़ा नारी-समाज अशिक्षित है। किसी न किसी प्रकार इन शिक्षित नारियों की टकराहट समाज की इन अशिक्षिताओं से अवश्य होती है। यदि शिक्षित लड़की की माता-बहिनें एवं भाभियाँ आदि शिक्षिता हैं तो ससुराल में सास-ननद आदि उसे अशिक्षिता मिलती हैं अथवा दोनों परिवारों की नारियाँ यदि शिक्षिता मिल भी गईं, तब भी आस-पड़ोस एवं नाते-रिश्तेदारों में तो अनेक अशिक्षिताएँ निकल ही आती हैं। वस्तुतः शिक्षिता एवं अशिक्षिता के विचार, रहन-सहन के स्तर, मनोरंजन के साधन, खान-पान एवं उठने-बैठने के ढग आदि में अतर होगा ही। बस, यह अन्तर ही उनके लिए एक समस्या बन बैठता है। माँ-बाप के घर रहने पर उसे इन अशिक्षिताओं से क्या-क्या नहीं सुनना पड़ता? विश्वविद्यालय, कालेज अथवा किसी सभा-सम्मेलन से लौटने में जरा सी देर हुई कि

उनको सुनना पड़ेगा—सयानी लड़की को इतनी देर से घर लौटना शोभा नहीं देता। भला, सभा-सम्मेलनों में लड़कियों का क्या काम ? अथवा हम जानती हैं कि इतनी देर तक तुम कहाँ रही होगी ? आदि अनेक-अनेक लांछन। यदि वह वधू हुई तो ये कटूक्तियाँ और भी तीक्ष्ण हो सकती हैं। अरे, कुछ मत पूछो आजकल की बहुओं का, एकदम आजाद हो गई हैं आजाद। न सास का भय न ससुर का। मन चाहे, जहाँ जायें और चाहे जब लौटें ! भला, भले घर की बहुओं का यह कोई घर लौटने का समय है ? यह तो केवल एक उदाहरण रहा। उसे पग-पग पर इन व्यंग्य-वाणों और कटूक्तियों से टकराना पड़ता है। कुछ नया पहिन लिया तो कटूक्तियाँ, किन्हीं के साथ बैठ-उठ अथवा घूम लिया तो कटूक्तियाँ, किसी रूढ़ि को तोड़ने का प्रयत्न किया तो कटूक्तियाँ, सिनेमा देखने चली गईं तो कटूक्तियाँ। कहने का आशय यह है कि पढ़ने-लिखने से सामान्य भारतीय नारी के जीवन में जो थोड़ा-बहुत खुलापन आया है, उसका भी वह स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग नहीं कर पाती। संकीर्ण मनोवृत्ति, अंध-विश्वास, अविश्वास एवं जड़ रूढ़ियों से लड़ती-लड़ती कभी-कभी वह स्वयं टूट जाती हैं, मानसिक तनाव की शिकार होती हैं और यहाँ तक कि कभी-कभी उसे अपने शिक्षिता होने पर ही ग्लानि होने लगती है।

दोहरी जिम्मेदारी का निर्वाह – काम-काजी और आर्थिक रूप में सहयोग देने वाली शिक्षित नारियों की स्थिति और भी करुणाजनक एवं विषम है। कुछ अपवादों को छोड़ दें, विशेष रूप से कुछ उच्च सेवाओं में पहुँची गिनी-चुनी महिलाओं की स्थिति कुछ भिन्न हो सकती है किन्तु निम्न एव मध्यम वर्ग की काम-काजी महिला आज अत्यधिक कठोर जीवन-यापन के लिए विवश है। उससे दुहरी जिम्मेदारी निभाने की अपेक्षा की जाती है। घर पर रहकर-बच्चों के पालन-पोषण, बड़ों के आदर-सत्कार एवं पति महोदय की सुख-सुविधा का ध्यान रखना तो उसकी जिम्मेदारी है ही, साथ ही नाते-रिश्तेदारों एवं अन्य सामाजिक सम्बन्धों के निर्वाह की भी पूर्ण जिम्मेदारी उस पर डाल दी जाती है। नौकरी का काम तो उसे करना होगा ही। यह भी देखने में आता है कि यदि पति-पत्नी दोनों एक जैसी नौकरी करते हैं तो भी बच्चों की देख-भाल, परिवार के खान-पान एवं घर की सफाई आदि की जिम्मेदारी नारी की ही समझी जाती है। यदि इन सब जिम्मेदारियों को उठाने की क्षमता उसमें न हो तो सुस्त, निकम्मी एवं आलसी के विशेषणों के साथ-साथ उसे विद्रोहिणी एवं पतिता तक कहने में संकोच नहीं किया जाता।

काम-काज का धर्म संकट—आज की शिक्षित काम-काजी महिला के सामने कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी हैं। यदि वह ढंग से पहन-ओढ़ कर नहीं निकलती तो जहाँ काम करती हैं, वहाँ उपहास का पात्र बनती हैं और यदि अच्छा ओढ़-पहने तो समाज भाँति-भाँति के लांछनों से उन्हें विभूषित करता है। इसी प्रकार बहुसख्यक पुरुषों वाले कार्यालय में उसे अनेक पुरुषों से सहयोग लेना और देना होता है। इस सहयोग के लेन-देन में उसे बड़ी सतर्कता बरतनी पड़ती है। इसमे जरा सी भी चूक

उसके लिए भारी संकट उत्पन्न कर सकती है। जहाँ उसकी उदारता अनेक गलत-फहमियों को जन्म दे सकती है, वहीं उसकी कठोरता उसे उपेक्षित एवं निपट अकेली भी बना सकती है। सहयोगियों से बढ़ा सम्पर्क उसकी घर-गृहस्थी को चौपट भी कर सकता है और उसकी नौकरी को—आर्थिक स्वावलंबिता को—खतरे में भी डाल सकता है। कितनी ही लोलुप गिद्ध दृष्टियों का सामना तो उसे नित्य प्रति ही करना पड़ता है।

बेरोजगारी का दर्द—जो शिक्षिता नौकरी नहीं करती अथवा नहीं प्राप्त कर पाती, उसे आर्थिक दृष्टि से तो मोहताज बना रहना ही पड़ता है, वह वैसे भी अनेक कुण्ठाओं की शिकार हो जाती है। यदि परिवार बडा हुआ और घर-गृहस्थी का काम अधिक हुआ तो भी वह अपने को कोसती है कि उसके पढ़ने-लिखने का कोई लाभ उसे नहीं मिल पाया। यदि चौका-बर्तन ही उसे करना था तो पढ़ाई-लिखाई का झंझट उसने व्यथ ही उठाया। यदि परिवार छोटा हुआ तो अधिक समय खाली रहना भी उसके लिए बोरियत का कारण बनता है।

पति-पत्नी की शैक्षिक विषमता—कभी-कभी पति-पत्नी की शैक्षिक विषमता भी शिक्षित नारी के सम्मुख कठिनाई उपस्थित कर देती है। यदि पत्नी पति की अपेक्षा कम पढ़ी-लिखी होती है तो वह प्रायः पति के अहं का शिकार होती है। पति घर-गृहस्थी के सामान्य काम-काज में भी उसकी सलाह की आवश्यकता महसूस नहीं करता, बड़े एवं गम्भीर दायित्वों की बात तो अलग रही। वह उपेक्षा का शिकार तो होती ही है, उसे ताने-उलाहने भी कम सुनने नहीं पड़ते। यदि कहीं पत्नी अधिक शिक्षिता हुई तो उसे प्रायः दो प्रकार के सकटों से होकर गुजरना पड़ता है। या तो पति अधिक शिक्षिता पत्नी पाकर आत्महीनता का शिकार हो जाता है। वह पत्नी के सम्मुख स्वयं को तुच्छ समझता है। हर बात में पत्नी की हाँ में हाँ मिलाने लगता है। इससे पत्नी में कभी-कभी बड़ी खीज उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि ऐसी स्थिति में घर-गृहस्थी का सम्पूर्ण दायित्व उसी पर आ पड़ता है। यह जानी-मानी बात है कि पत्नी दब्बू पति पाकर कभी सतुष्ट नहीं रह सकती। अथवा कभी पति अधिक शिक्षिता पत्नी पाकर आरम्भ से ही उसके साथ कठोर व्यवहार करना प्रारम्भ कर देता है। उसके मन में भय रहता है कि कहीं पत्नी को अपनी शिक्षा का अभिमान न हो जाय। वह पत्नी के अच्छे कार्यों की भी कभी प्रशंसा नहीं कर पाता। उसको नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। दूसरों के सम्मुख भी उसे अपमानित करने से नहीं चूकता। ऐसी स्थिति में बेचारी पत्नी अपनी शिक्षा को ही अभिशाप समझने लगती है। उसके गृहस्थ-जीवन में तो विष घुल ही जाता है।

सामाजिक कुरीतियाँ—आज की शिक्षिता अनेक सामाजिक कुरीतियों की भी शिकार बनी हुई है। पढी-लिखी तथा आर्थिक रूप से स्वावलंबी होते पर भी उसके माँ-बाप से दहेज वसूला जाता है। यह दहेज लड़की की सुरूपता और कुरूपता के अनुसार अधिक व कम हो सकता है। जिस शिक्षिता के माता-पिता मुँह माँगा

दहेज दे सकने की स्थिति में नहीं होते, या तो उन लड़कियों को आजन्म अविवाहित रहना पड़ता है अथवा मन की इच्छा के विरुद्ध किसी को जबरदस्ती गले लगाना पड़ता है। दोनों ही स्थितियों में उसका सुख काफूर हो जाता है। विवाह के समय लड़के की पसन्द अधिक महत्त्व रखती है, लड़की की कम। अनेक परिवारों में तो लड़की के पढ़े-लिखे होने पर भी वर के चयन में उसकी सलाह लेना आवश्यक नहीं समझा जाता। बलात्कार एवं अपहरण आदि का शिकार भी शिक्षिता वैसे ही होती हैं, जैसे अशिक्षिता।

समाज की पुरुष प्रधानता—आज का भारतीय समाज पुरुष प्रधान समाज है। यद्यपि संवैधानिक दृष्टि से भारतीय नारी को पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त हैं, तदपि व्यावहारिक क्षेत्र में नारी आज भी उन अधिकारों का सम्यक् उपयोग नहीं कर पा रही। मताधिकार की ही बात लें। अशिक्षित नारियों की तो बात छोडिये, भारत में ऐसी कितनी शिक्षित नारी हैं, जो अपने मताधिकार का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करती हैं? प्राय: देखने में आता है कि पुरुष अपने मत का उपयोग जहाँ और जिसके लिए करता है, नारी भी वैसा ही करने को बाध्य होती है। यहाँ भारतीय नारी की पति के प्रति अंध-निष्ठा भी उतनी ही दोषी दिखाई पड़ती है, जितना कि पुरुष का हठ।

मोहि न नारी नारी के रूपा—आश्चर्य और खेद तो तब होता है. जब देखने में आता है कि नारी केवल पुरुष के ही दम्भ का शिकार नहीं होती, वह नारी की उपेक्षा और दुर्व्यवहार का भी शिकार होती है। 'मोहि न नारी नारी के रूपा' चाहे तुलसीदास ने यह बात किसी भी संदर्भ में कही हो, वह आज नारी के प्रति नारी के व्यवहार के सम्बन्ध में भी ठीक है। अन्यथा क्या कारण है कि माता अपनी बेटी के सुख सुहाग की जितनी चिन्ता करती है, उतनी अपनी पुत्र-वधू की नहीं। प्राय: सास-बहू के झगड़े आपको भारत के घर-घर और गली-गली में होते मिल जायेंगे। न सास उसे अपनी बेटी मान पाती है और न वधू उसे अपनी माँ।

पुरुष दिखने की होड़—उक्त सभी समस्यायें भारतीय शिक्षित नारी के सम्मुख समाज अथवा उसकी किसी व्यवस्था अथवा उसके किसी अंग द्वारा उत्पन्न समस्यायें हैं। यहाँ उस समस्या की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है जो भारतीय शिक्षित नारी स्वयं अपने लिए उत्पन्न कर रही है अथवा निकट भविष्य में कर लेगी। वह कुछ पश्चिमी देशों का अनुकरण कर हर क्षेत्र में नर के समान दिखने की होड़ करने लगी है। नर जैसी ही शिक्षा पाने का प्रयत्न कर रही है। वह कवायद सीख रही है, गणित सीख रही है और न जाने क्या-क्या सीख रही है? वह वही कपड़े पहिनना चाहती है, जो नर पहिनता है। यानी समानता का अर्थ उसने सादृश्य समझ लिया है। इससे उसका नारीत्व उससे छिनता जा रहा है। उसके ममता भरे चित्त में विकृति उत्पन्न हो रही है। यदि नारी नर ही दिखने लगेगी तो वह अपनी विशेषता को खो ही बैठेगी। प्रकृति ने नर और नारी में जो स्वाभाविक अन्तर

किया है, उसे तो नारी को स्वीकार करना ही चाहिए अन्यथा पुरुष तो वह बन ही नहीं सकती, नारी सुलभ सुकुमारता, भाव-प्रवणता एवं ममत्व भी खो बैठेगी। उसका महत्व नारी बने रहकर ही पुरुष-समाज के सभी प्रकार के शोषण एवं दम्भ से मुक्त होने में है, असमानता से विद्रोह करने में है, पुरुष जैसा दिखने में नहीं है।

३. समस्याओं का हल क्या हो ?

भारतीय शिक्षित नारी-वर्ग की समस्याओं के हल के लिए सबसे पहली आवश्यकता है—नारी शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार। वस्तुतः शिक्षित नारी की बहुत सी समस्यायें तो अशिक्षिताओं ने उत्पन्न कर रखी हैं। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि जैसे-वैसे अशिक्षिताओं का प्रतिशत कम होता जायेगा, वैसे-वैसे शिक्षिताओं की समस्यायें भी कम होती जायेंगी। यों नर का अशिक्षित होना भी शिक्षित नारी के लिए कम समस्यायें उत्पन्न नहीं करता। वस्तुतः अशिक्षित मानसिकता को तो अशिक्षा को समाप्त करके ही मिटाया जा सकता है। जो शिक्षित नारियाँ आर्थिक क्षेत्र मे पुरुषों को बराबर का सहयोग दे रही हैं, उनके पतियों को भी चाहिए कि वे भी घर-गृहस्थी के काम में अपना सहयोग दें। बच्चों के पालन-पोषण एवं घर की साज-सज्जा आदि में सहयोग देने से वे 'जोरू के गुलाम' नहीं बन जायेंगे। आखिर नारी पर ही दोहरी जिम्मेदारी क्यों ? नौकरी करने वाली नारी के कार्य-क्षेत्र की विशिष्ट आवश्यकताओं और प्रकृति की पूरी समझ पति को होनी चाहिए एवं उसे वांछित स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। पति-पत्नी के आपसी व्यवहार में शिक्षा की कमी अथवा अधिकता को आड़े नहीं आने दिया जाना चाहिये। यह सही है कि शिक्षा से मनोवृत्तियों को संस्कार मिलता है, संकीर्णता कम होती है किन्तु यह भी सही है कि पति-पत्नी का बड़प्पन और छुटपन मात्र डिग्रियों पर ही निर्भर नहीं करता, अपने सहज मानवी-गुणों एवं कर्मठता पर भी निर्भर करता है। सामाजिक कुरीतियों से निपटने के लिए तो स्वयं शिक्षिताओं को सामने आना होगा। उन्हें ऐसे किसी पुरुष के साथ शादी नहीं करनी चाहिये, जो दहेज की माँग करे। अपनी सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति के अनुकूल ही उन्हें अपने वर का चयन करना चाहिये। अपनी स्थिति से ऊंचे वर के चयन की इच्छा कभी-कभी दहेज का कारण बनती देखी गई है जिसके अभाव में अनेक ललनाओं को आत्म-हत्या जैसे दुष्कर्म के लिए विवश होते देखा गया है। जब वर को अपनी पसंद की लड़की चयन करने का अवसर समाज देता है तो कन्या को वह अवसर क्यों नहीं दिया जाता ? जहाँ पुरुष-वर्ग से अपेक्षा की जाती है कि वह सदियों से पली अपनी अहम्मन्यता पर काबू करे, वहीं नारी-वर्ग से भी अपेक्षा की जाती है कि वह नारी होते हुए भी नारी की टीस को न समझ पाने की नादानी न करे। वह बेटी और बहू के अन्तर को मिटाये। शिक्षित नारी को यह भी सोचना होगा कि नर जैसा दिखने एवं बनने के प्रयत्न में तो वह स्वयं पराजित होती है। नारीत्व के चुक जाने के बाद उसके अस्तित्व की सार्थकता ही क्या रह जायेगी ?

४. निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारत की शिक्षित नारी भी अपनी कुछ समस्याओं से घिरी है। वस्तुतः इन समस्याओं से उसे तभी मुक्ति मिल सकती है, जब एक जबरदस्त सामाजिक क्रान्ति हो। अन्यथा, सरकार नारी की समानता के लिए कानून बनाती रहेगी, उसके हितों के संरक्षण का दावा करती रहेगी और शिक्षित नारी आज की ही तरह भविष्य में भी पुरुष के अहं एवं शोषण का शिकार बनती रहेगी। क्रान्ति के अभाव में यह वास्तविकता संभवतः हमारे सम्मुख उद्घाटित न हो सके कि इस देश की लगभग आधी जनसंख्या स्त्रियों की है, जबकि आज हर प्रशासनिक एवं राजनीतिक इकाई का नेतृत्व प्रायः पुरुष संभाले हुए है। संसद एवं विधान-मंडलों में भी उनकी संख्या अँगुलियों पर गिनने योग्य है। यदि हममें वास्तव में ही भारतीय नारी को समान अधिकार एव समान स्तर पर प्रतिष्ठित करने की इच्छा रही होती तो क्या ये अठारह बीस प्रतिशत शिक्षित नारियाँ आज कहीं न कहीं उस आधी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही होतीं? तब इन शिक्षिताओं की सम्मानपूर्ण स्थिति से क्या अशिक्षिताओं का भी हित नहीं होता? देश आगे नहीं बढ़ता? यह क्रान्ति कैसे हो? इसके लिए भी 'अन्त्योदय' योजना के कार्यान्वयन अथवा जय प्रकाश बाबू की 'समग्र क्रांति' की प्रतीक्षा छोड़नी होगी और स्वयं इन शिक्षिताओं को ही आगे आना होगा।

२५ लोकतन्त्र में समाचार-पत्रों की भूमिका

१. लोकतन्त्र में समाचार-पत्रों का महत्व

लोकतन्त्र शासन पद्धति के केन्द्र में जनता होती है। निर्वाचक तो वह होती ही है, नेता एवं नौकरशाही भी उससे ही जन्मती है। यह जनता जितनी सुशिक्षित, अच्छे-बुरे का निर्णय कर सकने में समर्थ, देश-विदेश की प्रमुख घटनाओं तथा जटिल और पेचीदा समस्याओं से अवगत एवं विवेकशील होगी; लोकतन्त्र उतना ही अधिक सफल होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि सामचार-पत्र जनता की इन सभी योग्यताओं के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। तभी १८वीं शताब्दी के अन्त में इंग्लैंड के महान् प्रवक्ता एडमंड बर्क ने समाचार-पत्रों को 'फोर्थ स्टेट' की संज्ञा दी थी। उसके अनुसार शासन को संचालित करने वाली शक्तियों में किंग' 'पार्लियामेंट' तथा 'चर्च' के बाद समाचार-पत्रों का ही स्थान था। भारत में हम कार्यपालिका, विधानमण्डल और न्यायपालिका के बाद समाचार-पत्रों का स्थान स्वीकार कर सकते हैं।

२. भारत की पत्रकारिता का इतिहास

भारत में पत्रकारिता का इतिहास अंग्रेजों के आगमन के साथ ही साथ प्रारम्भ होता है। वैसे विश्व में इटली के वेनिस नगर को समाचार-पत्र के जन्म दाता के रूप में स्मरण किया जाता है, जहाँ १३वीं शताब्दी में ही समाचार-पत्र जन्म ले चुका था। इंग्लैंड मे १७वी शताब्दी में समाचार-पत्रो का प्रचार प्रसार प्रारम्भ हुआ और मुद्रण-कला के विकास के साथ-साथ इसका भी विकास होता गया। अंग्रेज पादरियों ने भारत में ईसाइ धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु 'समाचार दर्पण' नाम का पत्र निकाला था। ब्रह्म समाज के संस्थापक राजा राम मोहनराय का 'कौमुदी' पत्र एवं ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का 'प्रभात' पत्र भारतीय पत्रकारिता के प्रारम्भिक इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उसके बाद से तो भारत में लगातार समाचार-पत्रों का प्रकाशन बढ़ता गया और अनेक आर्थिक एवं अन्य प्रकार की हानियाँ उठाकर भी भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में उन्होंने जो महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, उसका मूल्यांकन कर सकना कठिन होगा।

३. लोकतन्त्र में समाचार-पत्रों की भूमिका :

मतदाताओं को शिक्षित करना—समाचार-पत्र लोक को शिक्षित करने में

महत्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। यद्यपि आज रेडियो एवं टेलीविजन भी जनता-जनार्दन के शिक्षण में सहायक सिद्ध हो रहे हैं किन्तु एक तो अभी जनसाधारण तक कम मात्रा में ही ये साधन पहुँच पाये हैं दूसरे, इन साधनों की सीमाएँ भी स्पष्ट हैं—समाचार एवं घटनाओं की गहराई में जाकर उनका विस्तृत विश्लेषण न कर पाना तथा प्रायः सरकारी रीति-नीतियों के प्रवक्ता होना। इनकी अपेक्षा समाचार-पत्र की जन साधारण तक पहुँच निश्चय ही कुछ अधिक है। घटनाओं और समाचार के विस्तृत विश्लेषण का अवकाश भी उनमें अधिक होता है और यदि समाचार पत्र पर किसी दल विशेष का अथवा उद्योगपति का अथवा सरकार का एकाधिकार नहीं है तो वह घटनाओं और समाचारों का तटस्थ विश्लेषक एवं प्रस्तोता होकर जनता को सत्य के काफी निकट तक पहुँचा सकने समर्थ सिद्ध हो सकता है। समाचार पत्र जनता के शिक्षण में अनेक प्रकार से सहायक सिद्ध हो सकते हैं। वे देश-विदेश की महत्वपूर्ण घटनाओं एवं समस्याओं से जनता को सम्यक् रूपेण अवगत रख सकते हैं। वे घटनाओं का तटस्थ विश्लेषण प्रस्तुत कर जनता को उनकी तहों में ले जा सकने में समर्थ हो सकते हैं, जिसके आधार पर जनता उसके विषय में अपना स्वतन्त्र मत बना सकती है। वस्तुतः समाचार पत्र जनता और शासन के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य कर सकते हैं। वे शासन की विचारधारा को जनता तक एवं जनता के दुख-दर्दों को शासन तक पहुँचा सकते हैं। प्रायः इसके लिये प्रत्येक अच्छे समाचार-पत्र में स्थान होता है। 'आपकी अपनी बात', 'लोकवाणी' अथवा 'पाठकों के पत्रों से' आदि शीर्षकों से लोक की इसी पीड़ा को, समस्याओं एवं विचारों को वाणी देने का प्रयत्न किया जाता है। लोकतन्त्र मे विभिन्न राजनीतिक दलों का बड़ा महत्व होता है। इन राजनीतिक दलों की अपनी विशिष्ट रीति नीति होती है। प्रायः मतदाता को इनकी विशिष्ट नीतियों का ज्ञान नहीं होता। यदि समाचार-पत्र किसी दल विशेष के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं तो निश्चय ही इन दलों की नीतियों की शक्ति और कमजोरियों को मतदाता के सम्मुख, उनके यथावत् रूप में, प्रस्तुत कर सकते हैं और इस प्रकार मतदाता में वह विवेक उत्पन्न कर सकते है, जिसके माध्यम से वह अपने मताधिकार का सदुपयोग कर सकता है। मतदाता के इसी विवेक के अभाव के कारण चुनावों के समय जातिवाद, सम्प्रदायवाद और भाई-भतीजावाद की प्रवृत्तियाँ उभरती देखी जाती हैं, जिससे लोकतन्त्र के विषय में अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न होती हैं और प्रायः मतदाता की इसी दुर्बलता को लेकर लोकतन्त्र का अनेक प्रकार से आलोचना की जाती है। कभी कहा जाता है कि "अयोग्य व्यक्तियों द्वारा चुने हुए भ्रष्ट शासक वर्ग का दूसरा नाम प्रजातन्त्र है।" कभी कहा जाता है—"यद्यपि लोकतन्त्र समानता और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर आधारित है किन्तु व्यावहारिक रूप में समानता और स्वतन्त्रता का उपयोग मतदाता नहीं कर पाता, क्योंकि उसका मत पैसे अथवा अन्य दूसरे स्वार्थों की पूर्ति के लिये पहले ही बिक चुका होता है।" कभी बर्नार्ड शा जैसे चिन्तक मतदाताओं का उपहास उड़ाते

हुए कहते हैं—"जो राजनीतिक नेतागण सोमवार का दिन प्रतिज्ञा में खर्च करते हैं और मंगल का दिन उन प्रतिज्ञाओं को तोड़ देने में और बुद्धवार को जिनका भण्डा फूट जाता है, वे ही शनिवार के दिन उत्साहपूर्ण बहुमत द्वारा चुन लिये जाते हैं।" आदि आदि। स्पष्ट है, ये सारे दोष मतदाता के अशिक्षित, अज्ञानी एवं अविवेकी होने के ही परिणाम हैं। समाचार-पत्र इन मतदाताओं को शिक्षित कर लोकतन्त्र की रीढ़ को दृढ़ एवं पुष्ट वना सकते हैं।

भ्रष्टाचार को दूर करने में मदद—भ्रष्टाचार को भी लोकतन्त्र की बड़ी दुर्बलता माना जाता है। अनेक भ्रष्ट साधनों के आधार पर नेतृ वर्ग चुनकर आ जाता है और उसे सरकार में भी स्थान मिल जाता है। समुचित योग्यता के अभाव में यह नेतृ-वर्ग अपने उत्तरदायित्व को निभाने में असफल रहता है और स्वयं अयोग्य होने के कारण अपने कार्यों के लिये नौकरशाही पर अवलंबित रहने लगता है। नौकरशाही अपने नेता की इस दुर्बलता का खुलकर लाभ उठाती है और इस प्रकार एक व्यापक भ्रष्टाचार का बोलबाला हो जाता है। समाचार-पत्र इस भ्रष्टाचार की जड़ पर ही कुठाराघात कर सकते हैं। वे अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों के माध्यम से नेतृ-वर्ग अथवा नौकरशाही के भ्रष्ट आचरण की कलई खोलकर जनता के सम्मुख रख सकते हैं, जिसका सुप्रभाव तत्काल ही दिखलाई पड़ सकता है।

मार्ग-दर्शन का कार्य—समाचार-पत्र देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक आदि सभी स्थितियों को सही दिशा देने में समर्थ हो सकते हैं। कभी राष्ट्र पर आर्थिक संकट आ उपस्थित होता है। चोर बाजारिये वस्तुओं का संग्रह करने लगते हैं और बाजार में उसका और अधिक कृत्रिम अभाव पैदा कर देते हैं। जनता में खलबली मच जाती है, उसका मनोबल टूटने लगता है। ऐसी स्थिति में समाचार-पत्रों पर गम्भीर दायित्व आ पड़ता है। वे एक ओर जहाँ इन चोर बाजारिये और तस्करों के दुष्कृत्यों को प्रकाश में लाकर सरकार और जनता के कठघरे में उन्हे खड़ा कर सकते हैं, वही वे जनता के टूटते मनोबल को भी स्थिर रखने में सहायक हो सकते है। इसके अतिरिक्त आर्थिक स्थिति को दृढ़ करने के लिये सरकार जो भी पग उठाती है, समाचार-पत्र उसकी मूल भावना की रक्षा करते हुये उसका प्रचार-प्रसार ही नहीं कर सकते वरन् जनता ने उन विशेष कार्यक्रमों को कहां तक अपनाया है, सरकार किस सीमा तक उन्हें लागू करने में सफल रही है तथा अपनाये गये कार्यक्रमों एवं उन्हें लागू करने के लिये उठाये गये कदमों में क्या कमी रही, आदि बातों की ओर सरकार तथा जनता दोनों का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं। सामाजिक क्षेत्र की रूढ़ियों, कुप्रथाओं एवं दुर्बलताओं पर भी समाचार-पत्र सीधी चोट कर सकते हैं और समाज को लोकतन्त्र के अनुकूल ढालने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। लोकतन्त्र में किसी प्रकार के जातिगत भेद-भाव के लिये कोई स्थान नहीं है। जहाँ कहीं केवल जातिगत, धर्मगत अथवा सम्प्रदायगत विषमताओं के आधार पर

समाज का एक वर्ग अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझता है और उस तथाकथित निम्न वर्ग के प्रति अनाचार पर उतर आता है, उस अनाचार के उद्घाटन में भी समाचार-पत्र महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। भारत में आये दिन अछूतों पर सवर्ण लोगों द्वारा किये गये अत्याचारों की कहानियाँ प्रायः समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं, जिससे कर्मचारियों की भी नींद टूटती है और उनके लिये भी उचित कार्रवाई करना आवश्यक हो जाता है। यदि समाचार-पत्र ऐसे समाचारों को एक वृहद् जन-समुदाय के सम्मुख न लायें तो प्रायः ये सवर्ण अत्याचारी अपनी शक्ति एवं प्रभाव से स्थानीय सरकारी कर्मचारियों और पुलिस को भी निष्क्रिय रख सकने में सफल हो जाते हैं और इन्हें अनाचार की खुली छूट प्राप्त हो जाती है। चाहे बंधुवा मजदूरों की मुक्ति का प्रश्न हो, चाहे कहीं बाढ, अग्नि, भूकम्प एवं किसी भी प्रकार की दुर्घटना के लिये सहायता की माँग का प्रश्न हो, चाहे दहेज, पर्दा प्रथा अथवा अनेक प्रकार के अन्ध-विश्वासों से जनता को मुक्त करने का; समाचार-पत्रों की भूमिका सर्वथा अनुपेक्षणीय ही ठहरती है।

आज के विश्व में राजनीतिक समस्याएँ भी अत्यधिक जटिल होती जा रहीं हैं। इन राजनीतिक मामलों के पेंच को समझने में जन-साधारण प्रायः असमर्थ ही रहता है। समाचार-पत्रों के अनुभवी विशेषज्ञ एवं दूर-दृष्टा पत्रकार इन मामलों का सम्यक् विश्लेषण जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते हैं। दो देशों के परस्पर सम्बन्धों के निर्माण के लिये इन मसलों का सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाना अत्यन्त आवश्यक होता है। जनता के सम्मुख किसी राष्ट्र की गलत तस्वीर प्रस्तुत करके बहुत बड़े अनर्थ को जन्म दिया जा सकता है। वैदेशिक राजनीति में ही नहीं बल्कि देश की आन्तरिक राजनीति में पत्रकार कितनी बड़ी भूमिका निभा सकते हैं, इसका एक उदाहरण 'वाटर गेट कांड' के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इतिहास में जब तक तत्कालीन राष्ट्रपति श्री निक्सन का नाम रहेगा तब तक उसकी राजनीति के घिनौने पक्ष का उद्घाटन करने में महत्वपूण भूमिका निभाने वाले पत्रकार एण्डरसन को भी नहीं भुलाया जा सकेगा। इसी प्रकार कुछ दिन पूर्व अमेरिकी गुप्तचर संस्था (सी० आई० ए०) का जो खुला चिट्ठा प्रकाश में आया, वह समाचार-पत्रों की ही देन थी। युद्ध की स्थिति में समाचार-पत्रों की भूमिका स्पृहणीय बन जाती है, भारतीयों को इसका प्रत्यक्ष अनुभव है। इसी प्रकार साहित्य को परखकर सद्साहित्य को प्रेरणा देना एवं असद् को निरुत्साहित करने का कार्य भी किसी सीमा तक समाचार-पत्र कर सकते हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि पत्रकार रुग्ण लोकतन्त्र के लिये सर्जक का, अविकसित के लिये धाय का और विकसित के लिये प्रेरक का कार्य कर सकते हैं।

४. समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का प्रश्न

निश्चय ही लोकतन्त्र में समाचार-पत्रों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है किन्तु तभी तक जब तक समाचार-पत्र अपने गुरुतर दायित्व के प्रति सचेष्ट

रहते हैं। प्रायः देखने में आता है कि समाचार-पत्र पर या तो किसी उद्योगपति का अधिकार होता है अथवा वह किसी विशेष राजनीतिक दल के प्रभुत्व में कार्य करता है, अथवा उसे किसी अन्य जाति सम्प्रदाय तथा संस्थादि का मुख-पत्र होना होता है। इन सभी स्थितियों में उसकी निष्पक्षता बाधित होती है। वह अपने मालिक के स्वार्थ की पूर्ति से आगे नहीं बढ़ पाता। उसके समाचार विशेष रीति-नीति में रंगे होते हैं। इस स्थिति में वह लोकतन्त्र के स्वस्थ मूल्यों के निर्माण एवं उनकी रक्षा में कहाँ तक सहायक हो सकेगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। पत्र के लिये निष्पक्ष एवं अप्रतिबद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रतिबद्धता चाहे वह व्यक्ति विशेष, दल विशेष, सम्प्रदाय विशेष अथवा सरकार के प्रति ही क्यों न हो, समाचार-पत्र की वांछित स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेती है और सरकार की दृष्टि वैसी निरपेक्ष, बेलाग तथा तटस्थ नहीं रह पाती, जैसी कि लोकतन्त्रात्मक मूल्यों की रक्षा एवं उनके निर्माण के लिये अपेक्षित होती है। यहीं समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का प्रश्न भी उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि समाचार-पत्रों को स्वतन्त्र होना चाहिये, अन्यथा वे लोकतान्त्रिक मूल्यों की रक्षा नहीं कर पायेंगे। वे स्वतन्त्र नहीं है, अतः इन मूल्यों की रक्षा का दायित्व भी उन पर कैसे थोपा जा सकता है? किन्तु यह स्वतन्त्रता कोई निरपेक्ष तत्व नहीं है। वस्तुत वह गम्भीर दायित्व से जुड़ी है। विचारों की अभिव्यक्ति एवं आलोचना का अधिकार लोकतन्त्र शासन-प्रणाली में पत्रों को ही नहीं, प्रत्येक नागरिक को भी प्राप्त होता है। लोकतन्त्र के एक प्रमुख घटक तत्व-सत्तारूढ़ दल के भ्रष्ट एवं तानाशाह होने के अवसर अपेक्षाकृत कुछ अधिक ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में यदि उसकी भ्रष्टता को उजागर न किया जायेगा तो लोकतन्त्र कितने दिन चल सकेगा? किन्तु इस आलोचना को रचनात्मक होना चाहिये। केवल आलोचना के लिये आलोचना अथवा किसी प्रकार के ईर्ष्या-द्वेष तथा स्वार्थ से प्रेरित आलोचना किसी स्वस्थ लोकतन्त्र को जन्म नहीं दे सकती। आलोचना का कार्य किसी वस्तु समाज, शासन-प्रणाली तथा संस्था आदि में प्रविष्ट कमजोरी को दूर करना होता है, उस वस्तु, समाज अथवा शासन-प्रणाली को जड़मूल से नष्ट करना नहीं। कहने का आशय यह है कि यदि समाचार-पत्र लोक-हित के प्रति अपने दायित्व को निभाने के लिये पूर्णतः सचेष्ट एवं सजग हैं तो उन्हें इसकी पूरी छूट होनी चाहिये। यदि वे अपने किसी स्वामी अथवा सरकार आदि के प्रति प्रतिबद्ध हैं, तब उनकी स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। स्वतन्त्रता निर्माण एवं रचना के लिये ही दी जा सकती है, विध्वंस के लिये नहीं।

५. उपसंहार

भारत ने लोकतान्त्रिक शासन पद्धति को अपनाया है। क्योंकि अभी भारत का लोकतन्त्र अपनी शैशवावस्था में ही है, अतः यही वह समय है, जबकि यहाँ लोकतान्त्रिक जीवन मूल्यों का निर्माण किया जा सकता है। इन स्वस्थ जीवन-मूल्यों के निर्माण में समाचार-पत्र अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। जहाँ सरकार से

अपेक्षा है कि वह इन्हें विचाराभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता दे, वहीं समाचार-पत्रों के सम्पादकों एवं स्वत्वाधिकारियों से भी यह अपेक्षा है कि वे पूर्णतः निष्पक्ष होकर एक तटस्थ दृष्टा की भाँति, घटनाओं एवं समस्याओं का अवलोकन करें और अपने नीर-क्षीर विवेक से उनका सम्यक् विश्लेषण कर, भारतीय जनता-जनार्दन को सही दिशा देने में अपने गुरुतर दायित्व के प्रति सचेष्ट हों। यदि समाचार-पत्रों को वांछित स्वतन्त्रता नहीं मिलती तो इससे लोकतन्त्र का बड़ा अनर्थ हो सकता है। इसका ताजा उदाहरण आपातकाल में भारतीय समाचार-पत्रों पर लगाया गया सेंसर था, जिसके कारण जनता का ही अधिकांश वर्ग नहीं, बल्कि शासकों के भी एक बड़े वर्ग को वस्तु-स्थिति का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाया और वे अंधकार में रहे। समाचार-पत्रों की आलोचना रचनात्मक होनी चाहिये, क्योंकि आलोचना को रचनात्मक बना कर ही वे भारतीय लोकतन्त्र का हित करने में समर्थ हो सकेंगे। उन्हें अवसरवादिता का मोह छोड़ना चाहिये। 'जिसके देख तवे परात, उसी की गावें सारी रात' वाली नीति छोड़नी चाहिये। प्रायः देखने में आता है कि समाचार-पत्र सत्ता के बदलते ही अपना रुख बदल देते हैं और स्थिति के तटस्थ विश्लेषण से कतराते हैं। इससे उन्हें विज्ञापनादि की प्राप्ति भले ही सुकर हो जाती हो किन्तु लोकतन्त्र के प्रति उनकी जिम्मेदारी पूर्ण नहीं हो पाती।

---

२६ आत्मानुशासन

१. अनुशासन का व्यापक परिप्रेक्ष्य :

प्रकृति और यह जीवन विविधताओं की रंगस्थली है। ये विविधताएँ और भिन्नताएँ कितनी और कैसी हैं, इस तथ्य पर विचार करना जितना रोचक है, उतना ही विस्मयकारी भी। प्रकृति को ही लीजिये। संसार के कुछ हिस्सों में यदि अंगों को झुलसाने वाली प्रचण्ड गर्मी के दर्शन होते हैं तो कुछ में रक्त को जमाने वाली कड़-कड़ाती सर्दी के। कहीं लम्बे-चौड़े, सूखे, रेतीले टूहों वाले रेगिस्तान फैले हुए दिखलाई पडते हैं तो कहीं हरियाली से भरे हुए मैदान। कहीं ऊँचे-ऊँचे भीमकाय पर्वत फैले हुए हैं तो कहीं विशाल और गहरे सागर। कहीं वर्ष भर मूसलाधार वर्षा होती है तो कहीं वर्षों एक बूँद तक के दर्शन नहीं होते। कहीं मीलों दोमट मिट्टी वाले समतल मैदान दिखलाई पड़ते हैं तो कहीं पत्थरों से पटे ऊँचे-नीचे पठार एवं दलदल भरे घने जंगल। कैसी विचित्र है प्रकृति ! और जीवन ? वह भी अनेक विषमताओं, तनावों, मरोड़ों और विचित्रताओं से भरा है। रंग, लिंग, जाति, धर्म, सम्प्रदाय एवं राष्ट्र आदि के आधार पर अलग-अलग खानों और अलग-अलग साँचों में बँटा और ढला जीवन, कहीं दुःखों की अतल गहराई में डूबा हुआ तो कहीं सुख के शिखरों का स्पर्श करता हुआ। कहीं गरीबी के त्रास को ढोता हुआ और कहीं अमीरों के पालनों में झूलता हुआ। कहीं हिमालय की गहन कन्दराओं और तपोवनों में भभूत रमाने वाला तो कहीं पेरिस, लन्दन एवं न्यूयार्क की भौतिक रंगीनियों में खोया हुआ। प्रकृति एवं जीवन की इन विविधताओं और विषमताओं के बीच कहीं कोई एक सूत्र भी विद्यमान है, जो इन्हें परस्पर जोड़ता है। एक विधान है, जो बाँधता है और एक नियम है, जो इन्हें नियन्त्रित करता है। इस सूत्र विधान और नियम का नाम ही अनुशासन है। इसी अनुशासन से प्रकृति, जीवन और अन्ततः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड संचालित एवं नियन्त्रित हो रहा है। प्रकृति में जब कभी यह अनुशासन भंग होता है, तभी भयंकर भूचाल तूफान, बाढ़ें, अकाल, सूखा एवं भुखमरी आदि अनेक रूपों में प्रलयंकारी विनाश उपस्थित होता है। ग्रह-नक्षत्रों का पारस्परिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है, पिण्ड-पिण्ड से टकराता है और अन्ततः विनाश को प्राप्त होता है। व्यक्तिगत मानव-जीवन में अनुशासन भंग होने पर जीवन अनेक रोगों, व्याधाओं और आपत्तियों का घर बन जाता है और विश्व-जीवन में पारस्परिक वैमनस्य और युद्धों के अवसर उपस्थित होते हैं।

२. अनुशासन नहीं, आत्मानुशासन चाहिये :

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि अनुशासन उस सूत्र, विधान अथवा नियम का नाम है, जो सृष्टि के संचालन के लिए आवश्यक है। यह जीवन को अथ से लेकर इति तक घेरे हुए ही नहीं है, बल्कि जीवन भी किसी व्यापक अनुशासन का ही अग है। यह अनुशासन बाहरी कृत्रिम तथा आरोपित भी हो सकता है और पदार्थों से स्वयं उद्भुत भी। यह स्वयं उद्भुत और स्व-प्रेरित अनुशासन ही आत्मानुशासन है। किसी बाहरी शक्ति द्वारा आरोपित अनुशासन की एक सीमा होती है। जड़ हो या चेतन एक सीमा तक ही इस अनुशासन को स्वीकार करते हैं। जड़ पदार्थ अपेक्षाकृत देर में और चेतन पदार्थ शीघ्र ही इस अनुशासन को अस्वीकार कर देते हैं। बीसवीं शताब्दी के विज्ञान ने प्रकृति के अनेक पदार्थों पर अपना अनुशासन आरोपित किया है। फलस्वरूप, नदियों के उद्दाम उच्छृंखल प्रवाह को रोककर नहरें निकाल दी गई हैं, बाँध बना दिये गये हैं। विद्युत शक्ति का अनेक रूपों में उपयोग किया जा रहा है। अणु-परमाणु-शक्ति को भी नियन्त्रित कर कभी उसका संहार के लिए एवं कभी निर्माण के लिये उपयोग किया जा रहा है। समुद्र, पर्वत, धरती, आकाश एवं अन्तरिक्ष को विविध उपायों से विविध रूपों में वैज्ञानिक नियन्त्रित कर चुके हैं, कर रहे हैं। फिर भी आये दिन हम देखते हैं कि प्रकृति इस आरोपित अनुशासन को समय-समय पर भंग करती रहती है। कभी भूचाल, कभी समुद्री तूफान, कभी भयंकर आँधी, वात्याचक्र, कभी बाढ़, कभी अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि और कभी धरती की पपड़ी को तोड़कर ज्वालामुखी का फूटना आदि अनेक रूपों में प्रकृति पर लादे गये अनुशासन को हम टूटता हुआ देखते हैं। प्रकृति पर विजय पाने वाले मानव के सामने बार-बार यह सच्चाई उभर आती है कि अन्ततः 'प्रकृति रही दुर्जेय पराजित हम सब'। मनुष्य एक चेतनशील प्राणी है, अतः कुछ अधिक संवेदनशील। बाह्यारोपित अनुशासन की प्रतिक्रिया उसके मन में शीघ्र उत्पन्न होती है और वह उसे उतार फेंकने के लिये व्याकुल हो उठता है। यह आरोपण जितना कठोर और आतंक भरा होगा, उसकी प्रतिक्रिया उतनी ही भयंकर और तीव्र होगी। गेंद को जितनी शक्ति से जमीन पर देकर मारा जायेगा, वह उतनी ही ऊँची उछलेगी। इस सब विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सृष्टि के सम्यक् संचालन और मानव-जीवन के विकास के लिये बाह्यारोपित अनुशासन की नहीं, आत्मानुशासन की आवश्यकता है। यह आत्मानुशासन न तो किसी प्रकार के बन्धन की स्वीकृति है और न किसी प्रकार की गुलामी की परिणति, यह तो पदार्थों का सहज धर्म है।

३. आत्मानुशासन : विधि सोपान

इस आत्मानुशासन के अनेक सोपान सम्भव हैं, जिनमें मन, वाणी और कर्म के सोपान अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। चेतनशील मनुष्यों को मनसा, वाचा, कर्मणा अनुशासित होना चाहिये। यह मन, वाणी और कर्म का अनुशासन क्या है, यहाँ इस पर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

मन का अनुशासन—मन को इन्द्रियों का राजा माना जाता है। इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों का उपयोग करती हैं किन्तु इनसे स्थायी तृप्ति उन्हें नहीं मिलती। अतएव, उनमें उपभोग की अमीमित लालसा सदैव बनी रहती है। ऐसी लालसा, केवल जिसकी ही पूर्ति के प्रयत्न में मनुष्य अपनी सम्पूर्ण क्षमता से चुक सकता है। जीवन में इस इन्द्रिय-भोग का महत्व है, किन्तु जीवन का लक्ष्य केवल इन्द्रिय-भोग ही नहीं है। उसका कुछ और लक्ष्य भी है। उस भोगातिरिक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि मानव-क्षमता केवल इन्द्रिय-भोग के साधन जुटाने में ही न चुके। यहीं मन को अनुशासित रखने की आवश्यकता होती है, उस पर नियन्त्रण रखना जरूरी हो जाता हैं। इन्द्रिय रूपी घोड़ों की लगाम रखने वाले मन के अनुशासन का अर्थ संपूर्ण इन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों–का अनुशासन है। यह मन अत्यंत कंचल है। भारतीय धर्म एवं दर्शन-शास्त्रों में मन के स्वभाव और इस पर संयम रखने की आवश्यकता पर काफी विस्तृत चर्चा हुई है किन्तु यह सर्वविदित तथ्य है कि मन को जीत सकना आसान नहीं है। भोगों की निस्सारता का अनुभव मनुष्य करता है किन्तु फिर भी उन्हीं भोगों के पीछे दौड़ता है। उसका दुस्साहस उसी प्रकार का है, जिस प्रकार कोई दीपक हाथ में रखकर भी अंधे कुएँ में गिरना चाहे—

मन जाँणे सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक कुंवै पड़ै॥

(कबीर)

मन को अनुशासित रख पाना कठिन तो है किन्तु उसकी आवश्यकता सदैव बनी रही है। आज मनुष्य की आवश्यकताओं की सुरसा जिस गति से बढ़ती जा रही है, मनुष्य इनकी पूर्ति के लिए जिस प्रकार की अंधी दौड़ लगा रहा है, मारक अस्त्र-शस्त्र इकट्ठा करने की जो होड़ लगी हुई है और व्यवस्थाओं तथा विचारधाराओं का जो पारस्परिक टकराव हो रहा है, उसे देखते हुए व्यक्ति-मन, देश-मन, तथा विश्व-मन को अनुशासित रख पाने की आवश्यकता और भी अधिक गहरी एवं बलवती हो उठी है।

वाणी का अनुशासन—शब्द में बड़ी शक्ति होती है, यदि उसका सम्यक् ज्ञान हो और सम्यक् प्रयोग किया जाये। वस्तुतः इस संसार को निबद्ध करने वाली शक्ति शब्दों में ही आश्रित है। हम विश्व को शब्दों के माध्यम से ही देखते हैं। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में 'शब्द' को 'ब्रह्म' का ही रूप बतलाया गया है।'भर्तृहरि' ने लिखा है—

तस्मादयः शब्द संस्कारः सा सिद्धि परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्ति तत्वज्ञः तद् ब्रह्मामृतमश्नुते।

अर्थात्—'शब्द का संस्कार करना परमात्मा की सिद्धि प्राप्त करना है। जो शब्द की प्रवृत्ति के तत्व को जान लेता है, वह ब्रह्म के अमरत्व को जान लेता है।

वाणी के अनुशासन से अभिप्राय शब्द के इसी सम्यक् ज्ञान, संस्कार और

सम्यक् प्रयोग से है। बाबा तुलसीदास ने भरत की वाणी की प्रशंसा के संदर्भ में अनुशासित वाणी का प्रतिमान प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे।

'वाणी सुगम, सरल होनी चाहिये किन्तु उसमें उथलापन नहीं होना चाहिये, गहराई होनी चाहिये। उसे एक ही साथ मृदुल एवं कठोर होना चाहिये, यानी विनम्रता भरे शब्दों में संकल्प की दृढ़ता प्रकट होनी चाहिए और थोड़े से शब्दों में अमित अर्थ व्यंजित कर सकने की क्षमता विद्यमान होनी चाहिये।' यह सही है कि वाणी के इस आदर्श की प्राप्ति आसानी से नहीं हो सकती। इसके लिये गहन और लम्बी साधना की अपेक्षा होगी किन्तु इस ओर प्रवृत्त तो हुआ ही जा सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस ओर से सतर्क हो जाये, वाणी का अपव्यय वह बन्द करदे तो आज के जगत की अनेक बाधायें और विषमताएँ स्वतः समाप्त हो जायें। आज सर्वाधिक अपव्यय वाणी ही हो रहा है। चाहे राजनेता हो, चाहे वकील, चाहे अध्यापक हो, चाहे छात्र और चाहे किसान हो अथवा मजदूर, प्रायः समाज का प्रत्येक वर्ग इसका शिकार है। यदि ये सब वर्ग कथनी का सम्बन्ध करनी से जोड़ लें अथवा उधर प्रवृत्त होने के लिए प्रयत्नशील हों तो काफी मात्रा में वाणी की इस निरर्थकता को रोका जा सकता है। हमें यह बात भली-भाँति जान लेनी चाहिये कि जो आये दिन अपनी भाषा बदलते रहते हैं, लम्बे-चौड़े वक्तव्य देते हैं किन्तु अपने आचरण द्वारा उस वक्तव्य को प्रमाणित नहीं कर पाते, जो 'मर्द की जुबान और गाड़ी का पहिया चलता ही रहता है।' कहावत के कायल हैं, उनकी वाणी शीघ्र ही अर्थ खो देती है। जो गिनगिन कर, भली-भाँति समझ-बूझकर शब्दों का प्रयोग करता है, उसकी वाणी में गजब का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, मानवता को जिनसे भी कुछ मिला है, निश्चय ही वे लोग रहे हैं, जिन्होंने अनुशासित वाणी का प्रयोग किया है। बाल्मीकि के राम एक ही बार बोलते हैं, इसीलिये उनकी वाणी अर्थ का अनुगमन नहीं करती, बल्कि अर्थ उनकी वाणी का अनुगमन करता है। उनके मुख से जो निकलेगा, वह अर्थवान होगा ही। अननुशासित वाणी जीवन में कितना अनर्थ कर सकती है, यह हम अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में इधर-उधर नजर घुमाकर आसानी से देख सकते हैं। 'बातहिं हाथी पाइए, बातहिं हाथा पाँव' वाला कथन निरर्थक नहीं है।

कर्म का अनुशासन—भारतीय चिन्ता-धारा में कर्म पर काफी चिन्तन हुआ है। यह बात दूसरी है कि अधिकांश भारतीयों का जीवन भाग्यवाद से अनुप्रेरित रहा। वैदिक सूत्रों में, उपनिषद् ग्रन्थों में तो 'कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा' का आख्यान हुआ ही भारतीय चिन्ता धारा के सार ग्रन्थ 'गीता' में विस्तारपूर्वक 'कर्मयोग' की व्याख्या की गई और उसे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया। वहाँ 'कर्मयोगी मनुष्य' का आशय ऐसे मनुष्य से है, जो फल की इच्छा न रखते हुए निरन्तर अपने कर्म में लगा रहे। वहाँ 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहकर कर्म की कुशलता को ही सच्चा योग स्वीकार किया। यह सही है कि फलासक्ति रहित कर्म का आदर्श बहुत ऊँचा है, जिस तक पहुँचने की सामर्थ्य जनसाधारण में नहीं होती। सांसारिक का ध्यान पहले फल पर ही जाता है, कर्म की बात उसके बाद ही आती

है । मनुष्य के कर्मों का लेखा-जोखा भी यह संसार उसकी फल-प्राप्ति के आधार पर ही करता है । उसके लिये यह महत्वपूर्ण नहीं है कि उसने कितना कठोर कर्म किया, बल्कि यह है कि उसने क्या पाया ? लोक की इसी प्रवृति के कारण लोग येन-केन-प्रकारेण फल प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, यानी साधन की अपेक्षा साधना को महत्व नहीं देते, साध्य की प्राप्ति को ही लक्ष्य मानते हैं । इस वस्तु स्थिति को नजरदांज करते हुए भी कहा जा सकता है कि फल की आसक्ति से हो सर्वथा रहित होकर यदि हम कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं तो इतना तो कर ही सकते हैं कि फल के पीछे हम अन्धे होकर न भागें । किसी को मुट्ठी भर दान देकर स्वर्ग-प्राप्ति की कामना न करें, एक रुपये का लाटरी का टिकिट खरीदकर करोड़पति बनने के स्वप्न न पालें । इतना तो किया ही जा सकता है कि अभीष्ट फल-प्राप्ति के लिये हम अभीष्ट कर्म करने की प्रवृत्ति को भी जन्म दें । हम जहाँ कहीं हैं, जो भी हमारे कर्म का क्षेत्र है, समाज ने जो भी दायित्व हमें सौंपा है, हम अपनी सम्पूर्ण ईमानदारी, निष्ठा एवं कर्मठता के साथ उसे पूरा करें । हम यह ध्यान रख सकें कि हमारे कर्मों से हमारे हित की रक्षा हो किन्तु किसी अन्य का उससे अहित न हो या कम से कम अहित करने की दुर्भावना हमारे अन्दर न हो । कर्म में संलग्न होते समय हम इस विवेक को तिलांजलि न दें कि हमारे साथ दूसरों को भी इस दुनिया में जीने का हक है । हम यत्न-पूर्वक कर्म के परिणाम का भली-भाँति विचार करते हुए ही कर्म में प्रवृत्त हों. केवल आवेग और आवेश में बहकर कभी ऐसा कर्म न करें, जिसके लिये हमें बाद में पश्चाताप अथवा ग्लानि का अनुभव हो । अनुशासित कर्म का आशय यही है ।

४. आत्मानुशासन नैतिक मूल्यों का व्यावहारिक रूप

मन-वचन-कर्म का यह अनुशासन ही सच्चा आत्मानुशासन है । इन तीनों का ऐक्य ही जीवन की सबसे बड़ी साधना है । जिसने इन तीनों के ऐक्य को साध लिया उसे और किसी साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती । हम पहले कह आये हैं कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस अनुशासन की महती आवश्यकता है किन्तु यह जीवन का अंग कैसे बने, यह प्रश्न अब भी विचारणीय ही बना हुआ है । इसके लिये समय-समय पर सरकार कानून बनाती है, समाज अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ करता है । किन्तु सरकारी कानून और सामाजिक व्यवस्थाएँ अनुशासन को आरोपित कर सकती हैं, उसे उत्पन्न नहीं कर सकतीं । वस्तुतः इसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य की अपनी आत्मा से है, उन तमाम नैतिक मूल्यों से है, जिन्हें मानव-मनीषा ने सहस्रों वर्षों की साधना के बाद प्राप्त किया है और यह नैतिकता किसी भी बाहरी शक्ति के द्वारा किसी पर थोपी नहीं जा सकती । मनुष्य के पास तर्क है भाषा है और इस तर्क और भाषा के बल पर वह तमाम बाहरी शक्तियों से लड़ सकता है, बच सकता है किन्तु स्वयं अपने से बचकर निकलना उसके लिये कठिन होगा । 'इन्दीवर' की निम्न-लिखित पंक्तियाँ इसी तथ्य की ओर संकेत कर रही हैं—

> बसो नगर की ओर अगर डरते हो वन से,
> घर में छुपो अगर डरते हो काले धन से,
> छुप जाने को जगह नहीं सारी दुनिया में,
> अगर कहीं तुम डरते हो अपने ही मन से ।

—: ० :—

२७ भारतीय संस्कृति और उसकी प्रासंगिकता

१. भारतीय संस्कृति का शाश्वत प्रवाह

मुहम्मद इकबाल ने लिखा है—

> कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
> सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा।

तथा—

> यूनान मिस्र रोमाँ सब मिट गये जहाँ से,
> अब तक मगर है बाकी नामोनिशाँ हमारा।

क्या मुहम्मद इकबाल की ये पंक्तियाँ देश-भक्ति से प्रेरित भावोच्छवास मात्र हैं अथवा इनमें कुछ तथ्य हैं? यदि वास्तव में इन पंक्तियों में कुछ सार नहीं होता तो जाति से मुसलमान कहा गया कवि कुछ दिग्भ्रमित लोगों द्वारा आर्य, हिन्दू अथवा ब्राह्मण संस्कृति के नाम से पुकारी गई इस संस्कृति के प्रति इतना आकृष्ट नहीं होता। यूनान, मिस्र एवं रोम आदि जिन देशों की संस्कृतियाँ अत्यन्त प्राचीन मानी जाती हैं, उनका अब नाम मात्र ही शेष बचा है, वे काल के गाल में समा गई हैं किन्तु अनेक प्रभंजनों एवं तूफानों का सामना करता हुआ भी भारतीय संस्कृति का आलोक दीप आज तक प्रज्वलित है। युग आये और चले गये किन्तु इस दीप की लौ आज तक मन्द नहीं हुई। युगों ने इसके आलोक-कण ग्रहण कर स्वयं को आलोकित किया तथा अपने आलोक-कण इसे प्रदान कर इसकी ज्वलन-क्षमता में वृद्धि की। हिन्दी के नये कवि गिरिजाकुमार माथुर ने ठीक ही कहा है—

> दीपों का यह पर्व पुरातन
> सदियों से आलोक सनातन
> हर युग ने इसकी लौ में
> हैं दान किये अपने प्रकाश कन।

तब इन पंक्तियों की सार्थकता अवश्य विचारणीय हो उठती है।

२. भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

आखिर वह कौन-सी विशिष्टता है, जो इस संस्कृति को आज भी जीवन्त बनाये हुये है? यदि इस प्रश्न पर गहराई से विचार किया जाय तो उत्तर इसकी सामाजिकता, अध्यात्म-परायणता एवं इसकी विश्व बन्धुत्व की भावना एवं कामना

में ही अन्तर्निहित मिलेगा। वस्तुतः इस संस्कृति में समन्वय शीलता का अद्‌भुत गुण विद्यमान रहा है। अपनी इस समन्वय शीलता के कारण ही यह निरन्तर प्रवाहमयी एवं गतिशील बनी रही। धारा के एक कुण्ड में सिमिट जाने से जो सड़न का खतरा पैदा हो जाता है, वह इसमें नहीं हुआ बल्कि अनेक स्रोतों ने मिलकर इसको वेगवती बनाने में सहायता की। वस्तुतः इसका आदर्श तो वह लम्बोदर का आदर्श रहा है जिसमें लक्कड़ और पत्थर सभी को हजम करने की शक्ति रहती है। यह देश के आस्ट्रिकों एवं द्रविड़ों को भी अपना बनाने की क्षमता रखती है और विदेशी यूनानी शक, हूण और कुषाणों को भी। यह पठान और मुगलों के आतकों को झेलकर भी उनके सारभूत चिन्तन को ग्रहण कर गौरव का अनुभव करती है तो अंग्रेजों के आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से भी मुँह नहीं मोडती किन्तु इनमें से स्थायी अधिवास उन्हीं को प्रदान करती है, जो इसका होकर रहने की क्षमता रखते हैं, जो अपनी भुजाओं से इसकी रक्षा की प्राचीर गढ़ते हैं तथा इसे निरन्तर विकसित एवं गत्वर बनाने में योग देते हैं।

परस्पर विरुद्धों का सामंजस्य—वस्तुतः भारत एक विशाल देश है, जिसके उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक एवं पश्चिम में थार के मरुस्थल से लेकर पूर्व में आसाम और मिजोरम की पहाड़ियों तक फैली सीमाओं के मध्य विश्व की जनसख्या का लगभग $\frac{1}{6}$ भाग निवास करता है। जिसमें हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, सिक्ख, पारसी एवं मुस्लिम आदि अनेक जातियों एवं धर्मों के लोग बसते हैं, जिसके सविधान में सोलह से भी अधिक भाषाओं को प्रान्तीय भाषाओं के रूप में मान्यता प्राप्त है, जिसके राज्यों की संख्या २२ तक पहुँच गई है एवं जिसके एक-एक राज्य की भौगोलिक सीमाओं का फैलाव तथा जनसंख्या यूरोप के अनेक देशों की सीमाओं के फैलाव एवं जनसंख्या से अधिक है। जहाँ वेदान्त और योग जैसे आस्तिक दर्शनों का निर्माण हुआ है तो बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक दर्शनों का भी और इहलोक को ही सर्वस्व मानकर मौजमस्ती का राग अलापने वाले चार्वाक् दर्शन की भूमि भी यह देश रहा है। ऐसे देश की विशालता तथा विविधता के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इतने वैविध्य और विरोधों में पड़कर यह संस्कृति भी कभी की नष्ट हो गई होती यदि इसने अनेकता में एकता एवं विरोधों में अद्‌भुत सामंजस्य पैदा करने की कोशिश नहीं की होती। जब हम देखते हैं कि भारत में पश्चिमोत्तर प्रदेश का एक यूनानी राजा मिनेन्डर बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर गौरव का अनुभव करता है और बौद्ध आचार्य नागसेन से अपनी धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा शान्त करता है, जब कनिष्कवंशी कुषाण शासक वासुदेव विदेशी होकर भी वैष्णव-धर्म स्वीकार करता है, जब विदेश से आये चन्द्रवंशी एवं सूर्यवंशी राजपूतों को भारत के प्राचीन क्षत्रियों की संतान घोषित कर दिया जाता है और जब गुप्तकाल का प्रसिद्ध वैज्ञानिक और गणितज्ञ वराहमिहिर यवनों को ऋषियों की भाँति पूजन करता है क्योंकि उनके पास भी ज्योतिष का ज्ञान सुरक्षित है, तब-तब हमें यही विरुद्धों के सामंजस्य

का सौंदर्य हठात् अपनी ओर आकर्षित करता है। यही नहीं, आर्य कही जाने वाली इस संस्कृति के अधिकांश तत्वों पर आर्येतर प्रभाव पड़ा है। वैदिक पशु-बलि प्रधान यज्ञ के स्थान पर प्रचलित हुई पूजा पद्धति पर द्रविड़ों का प्रभाव है। शिव कृष्ण, गणेश एवं स्वामी कार्तिकेय आदि देवता भी आर्येतर प्रभावों को प्रकट करते हैं। आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों पीठ एव धार्मिक क्षेत्र में तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध सात पुरियाँ आज भी सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बाँध रही हैं। मन्दिरों, मस्जिदों एवं लालकिला तथा ताजमहल जैसी अन्य प्रसिद्ध इमारतों में हिन्दू, मुस्लिम मिश्रित वास्तुकला के दर्शन होते हैं। संगीत के क्षेत्र में भी ठुमरी, दादरा, तराना आदि रागों का सितार, तबला, शहनाई आदि वाद्ययन्त्रों पर मुसलमान उस्तादों का प्रभाव विदित ही है। जहाँ अमीर खुसरो, जायसी, कुतुबन, मंझन रसखान एवं रहीम आदि अनेक मुसलमान कवि हिन्दी में कविता करके हिन्दी को तो गौरवान्वित करते ही हैं, स्वयं भी गौरवान्वित होते हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब मुसलमान कवि रसखान हिन्दुओं के आराध्य कृष्ण के प्रति ऐसी अनन्य तन्मयता प्रकट करता है, जिसकी गहराई और सच्चाई को हिन्दू भक्त भी प्राप्त न कर पाये। उसे कृष्ण के साथ साथ गोकुल के ग्वाल-बालों, गायों, यमुना के कुंज-कछारों और गोवर्धन पर्वत तक से अटूट अनुराग हो जाता है। कैसी निर्मल एवं अनुराग-सिक्त कामना है कवि की—

> मानुष हों तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
> जो पशु हों तो कहा बस मेरो चरो नित नंद की धेनु मँझारन।
> पाहन हों तो वही गिरि को जो धर्यो छत्र पुरन्दर धारन।
> जो खग हों तो बसेरो करो मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

संस्कृत उत्तर भारत की भाषाओं की तो जननी है ही, द्रविड़-परिवार की तमिल, तेलगू, कन्नड़ एवं मलयालम पर भी उसकी शब्दावली तथा कथ्य का प्रभाव देखा जा सकता है। उत्तर भारत में रचित बाल्मीकि-रामायण एवं व्यास के महाभारत को दक्षिण में भी उपजीव्य ग्रन्थ के रूप में स्वीकारा जाता है। उत्तरी भारत में प्रचारित होने वाला मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन दक्षिण में ही जन्मा—"भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।" प्राचीनकाल में ही यह स्थिति हो ऐसी बात नहीं, यहाँ आज भी दिल्ली में निकलने वाले आर्य-समाज के जुलूस का स्वागत जामा मस्जिद का बड़ा इमाम करता है। आज भी अल्पसंख्यक वर्ग का प्रतिनिधि राष्ट्र के सर्वोच्च राष्ट्रपति पद पर आसीन होता है। यही समन्वय शीलता इस संस्कृति का प्राण-बिन्दु है जो इसे अजर-अमर बनाने रखने की क्षमती रखती है।

आध्यात्मिकता—इस संस्कृति की दूसरी बड़ी विशेषता इसकी आध्यात्मिकता में निहित है। यहाँ के मनीषियों ने भूख और काम के सवालों को हल करने के साथ-साथ कुछ शाश्वत प्रश्नों के उत्तर भी खोजने के प्रयत्न किये हैं। इस प्रत्यक्ष जीवन और जगत् के अतिरिक्त भी एक ओर अप्रत्यक्ष जीवन है, जिसे बिना इन्द्रियातीत हुये

नहीं समझा जा सकता। इसी कारण यहाँ के उपनिषदों की चिन्ता आत्म तत्व के विश्लेषण की चिन्ता रही है। अदृश्य, शब्दातीत, इन्द्रियातीत एवं अनिर्वचनीय सत्ता को जानने के लिये यहाँ के चिन्तक ने पहले सदैव स्वयं को जानने का आग्रह किया हैं। इस शताब्दी के महान् दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन के इन शब्दों में हम भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन को सार रूप में जान सकते हैं—"हम ईश्वर को ईश्वर-तुल्य होकर ही जान सकते हैं। ईश्वर-तुल्य होने का अर्थ अपने भीतर के उस दिव्य केन्द्र से सचेत रूप से लौटना है, जहाँ कि हम बिना इस चीज को जाने हुये, सदा रहे हैं और इस अपने भीतर के प्रकाश से अवगत होते हैं।" अपने भीतर इस दिव्य केन्द्र में लौटने के लिये अबोध बालक बनना पड़ता है, मन को निस्पंद करना होता है और मस्तिष्क के महल से सारी स्मृतियों को बुहार कर साफ कर देना पड़ता है। दिनकर जी ने अपनी 'पुरुषार्थ' कविता में उचित ही लिखा है—

मन का महल जब साफ होगा
तुम अपने आपके
दर्शन पाओगे
मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ
कि सोचना बन्द करने से
तुम मर नहीं जाओगे।

मैक्समूलर जैसे अनेक यूरोपीय चिंतकों ने भारतीय आध्यात्मिकता पर लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता बरतने का आरोप लगाया है। कुछ चिंतकों ने इसे जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टि बतलाया है किन्तु जिन्होंने 'गीता' के कर्मयोग को तिलक एवं गाँधी की दृष्टि से जानने का प्रयत्न किया है, वे इस पर उदासीनता का आरोप कैसे लगा सकते हैं। जिन्होंने अजन्ता और एलोरा, साँची के स्तूप, रणकपुर, और देलवाड़ा के जैन मन्दिरों एवं अन्य प्राचीन प्रसिद्ध मन्दिरों पर उत्कीर्ण चित्रों एवं मूर्तियों को देखा है, जिन्होंने कालिदास और भवभूति की काव्य कृतियों का अध्ययन किया है, वे निश्चय ही इस पर इन्द्रिय-जगत् की उपेक्षा का भी आरोप नहीं लगा सकते। यहाँ धर्म और मोक्ष के साथ-साथ अर्थ एवं काम को भी चार प्रमुख पुरुषार्थों में स्थान दिया है। इन आरोपों में सार केवल इतना हैं कि भारतीय दृष्टि ने दैहिक एवं भौतिक सुखों की अपेक्षा आध्यात्मिक सुख को प्रधानता दी है। भौतिक सुखों को निस्संग होकर भोगने का आग्रह अवश्य किया है।

विश्व-कल्याण की भावना—अखिल प्राणि-जगत् की कल्याण कामना भी भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता रही है। उसकी कामना रही है—'सब सुखी हों, नीरोग हो, सबका भला हो और कोई भी दुःखी न हो।' उसकी इसी कल्याण-कामना ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा को व्यावहारिक बनाया है। 'यजुर्वेद' में ऋषि कहता है—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

अर्थात्—'मैं, मनुष्य क्या, सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।' वस्तुतः यह चिन्तन भारतीय मेधा का अमृत है। महाभारतकार ने 'न हि मनुष्यात् श्रेष्ठनरं हि किंचित्' कहकर मानव को अधिक से अधिक गौरव प्रदान किया है। मनुष्य को यम-नियमादि के अनुशासन में बाँधकर भी सर्वथा विनिर्मुक्त रखने का प्रयत्न किया गया है।

३. वर्तमान में भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता

भारतीय संस्कृति की इन प्रमुख विशेषताओं की ओर यत्किंचित् संकेत करने के बाद अब विचार किया जा सकता है कि आज की परिस्थिति में भारतीय सस्कृति की क्या मोई प्रासंगिकता हो सकती है। स्व० लोहिया का विचार था कि पश्चिम की भौतिकवादी संस्कृति ने संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर और पूर्व की आध्यात्मिक संस्कृति ने प्रत्यक्ष जीवन की अवहेलना कर मनुष्य को मृत्यु के द्वार पर ले जाकर छोड़ दिया है किन्तु हमारा विचार है कि यह दृष्टि संस्कृति के अतिवादी स्वरूप को ग्रहण करने का ही परिणाम थी। आज समस्त विश्व में जो आपा-धापी मची हुई है; सर्वत्र असन्तोष का बोलबाला है; हत्या, लूटखसोट, धोखा-धड़ी, षड़यन्त्र और छीना-झपटी का साम्राज्य है, मनुष्य कुण्ठा और संत्रास में जी रहा है और सबसे बढ़कर आज उसकी मानसिक शान्ति छिन गई है और वह तनाव-जीवी बनकर रह गया है, ऐसी स्थिति में भारतीय तपोवनों की शान्ति में पली एवं ढली सस्कृति की आध्यात्मिकता दिग्भ्रमित मनुष्यों को अब भी शान्ति प्रदान करने में समर्थ सिद्ध हो सकती है। अकारण नहीं है कि पश्चिम का मानसिक तनावों से युक्त युवा-वर्ग आज भारतीय तपोवनों एवं आश्रमों की ओर आकृष्ट हो रहा है। भौतिक ऐश्वर्य की चकाचौंध अब उसे बिरमा नहीं पाती। उसके मन एवं मस्तिष्क को विश्राम नहीं मिल पाता। यह विश्राम उसे भारतीय आध्यात्मिकता की क्रोड़ में मिलता दिखलाई पड़ता है। हमारा आशय यह कदापि नहीं है कि पश्चिम की विज्ञान-जनित सारी उपलब्धियाँ मानव के लिये निरर्थक सिद्ध हो चूकी हैं कि विश्व-मानवता को विज्ञान की आज कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई है। हमारा अभिप्राय केवल यह है कि विज्ञान के बल पर प्राप्त केवल भौतिक-ऐश्वर्य मानव के सुख का स्थायी कारण नहीं बन सकता और आज तो विज्ञान भी इस निष्कर्ष पर पहुँच रहा है कि अनेक प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर विज्ञान के पास भी नहीं हैं। दिनकर जी के शब्दों में—"विज्ञान जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, अभिनव चिन्तन का भी गहराई की दिशा में उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है और ऐसा लगता है कि हम सचमुच ही उस बिन्दु के पास पहुंचते जा रहे हैं, जहाँ द्रव्य को समझने के लिये हमें आत्मा की आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ यांत्रिक और आध्यात्मिक तत्वों के बीच हमें सामंजस्य लाना पड़ेगा।" प्रतिष्ठित वैज्ञानिक दौलत सिंह कोठारी, 'ज्ञान एवं राम' के समन्वय पर इसी कारण बल देते हैं।

४. विश्व को सन्देश

कहने का अभिप्राय यह हुआ कि यदि भारतीय आध्यात्मिकता को पाश्चात्य

वैज्ञानिकता से जोड़ दिया जाय तो यह भारतीय दृष्टि विश्व-मानवता के लिये एक वरदान सिद्ध हो सकती है। आज विश्व सिमटकर छोटा होता जा रहा है। आवागमन एवं संसार के विविध साधनों ने इसे और भी छोटा बना दिया है किन्तु उसमें मनभेद एवं मतभेद भी उसी अनुपात में बढ़ते जा रहे हैं। भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक दृष्टि एक अनूठी विश्व-मानवता एवं संस्कृति का निर्माण कर सकने में समर्थ हो सकती है। अणु-विकास अहिंसा से जुड़कर मानवीजगत् के सुख-ऐश्वर्यों की काया पलट कर सकता है।

आज पश्चिम के अनेक विद्वान इस बात को महसूस करने लगे हैं कि पश्चिम के बढ़ते हुये भौतिक त्रास की औषधि भारतीय अध्यात्म में विद्यमान है। भारतीय संस्कृति के पास आज के विश्व को जोड़ने के लिये समन्वयशीलता की अद्भुत दृष्टि है, जिसके आधार पर आज के पूंजीवाद और साम्यवाद को, दक्षिण पंथ एवं वामपंथ को, विकसित एवं विकासशील को, अमीर एवं गरीब को, छोटे एवं बड़े को, नास्तिक और आस्तिक को तथा पूरब एवं पश्चिम को किसी एक बिन्दु पर लाकर खड़ा किया जा सकता है और कामना प्रकट की जा सकती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।
भर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत॥

---

२८ 'हानि-लाभ, जीवन-मरन, जस-अपजस, विधि हाथ'

१. प्रस्तावना : उक्ति का विशेष संदर्भ

उक्त उक्ति बाबा तुलसी की है। राम बनवास एवं दशरथ की मृत्यु से उत्पन्न विषाद एवं आत्म-ग्लानि से भरत का हृदय दग्ध है। कुल गुरु वसिष्ठ भरत के मन से इस गहरे विषाद और ग्लानि को निकालना चाहते हैं। भरत की ग्लानि कहाँ तक पहुँच चुकी है, इसकी झलक निम्नलिखित पक्तियों में देख लीजिए। भरत कौसल्या से कहते हैं—

> जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं।।
> ते पातक मोहि होहुँ विधाता। जौं यहु होई मोर मत माता।।

अर्थात्–हे माता! कर्म-वचन और मन से जितने छोटे-बड़े पापों का वर्णन कवियों ने किया है, वे सब पाप मुझे लगें, यदि राम-बनवास में मेरा मत हो। इस सीमा तक पहुँची हुई ग्लानि और शोक के निरसन के लिए राम बनवास और दशरथ की मृत्यु से स्वयं दुःखी मुनि वसिष्ठ बिलखकर—'बिलखि कहेउ मुनिनाथ'— कहते हैं कि हे भरत! हानि-लाभ, जीवन-मृत्यु, यश-अपयश–ये सब विधाता के अधिकार की चीजें हैं, इन पर अपना कोई वश नहीं है, अतः शोक मत करो। वस्तुत ये दोनों घटनाएँ असाधारण हैं, इतनी असाधारण कि वसिष्ठ से मुनि का धैर्य भी छूट जाता है और भावना के आवेग में डूबकर वे भरत से ऐसा कहते हैं। एक मध्यकालीन संस्कारिता वाले कवि के लिए ऐसा अ-साधारण शोक के निवारण हेतु किसी अ-साधारण युक्ति का आश्रय लेना आवश्यक था—जो किसी लोकोत्तर शक्ति के अधिकार की चीज है, उसके लिए इस लोक का साधारण व्यक्ति शोक क्यों करे? यह भी बाबा ने असाधारण व्यक्तित्व वाले मुनि श्रेष्ठ के मुख से कहलवाया है। अतः हमारी धारणा है कि अ-साधारण शोक के निवारणार्थ, असाधारण व्यक्ति के आवेग-मय क्षणों में कहलवाई गई उस उक्ति को परिस्थिति विशेष एवं काल विशेष की उक्ति के रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए, बाबा के शाश्वत कथन के रूप में नहीं। किसी अलौकिक शक्ति में विश्वास रखने वाले तुलसीदास इस उक्ति को शाश्वत कथन के रूप में स्वीकार कर लेने के खतरों के प्रति सावधान थे। आकस्मिक नहीं है कि ठीक इससे अगले दोहे में ही वे वसिष्ठ से कहलवा देते हैं—

'सोचिअ गृही जो मोह बस, करइ करम पथ त्याग ।'

—उस गृहस्थ का सोच करना चाहिए जो मोह-वश कर्म पथ का त्याग कर देता है। यदि हानि-लाभ, जीवन-मृत्यु और यश-अपयश सभी विधाता–किसी अलौकिक शक्ति–के अधिकार की चीजें हैं तो तुलसीदास कर्म पथ का त्याग करने वाले गृहस्थ के प्रति इतने चिन्तित क्यों होते ?

२. भाग्यवादी का लोकोत्तर शक्ति में विश्वास :

किन्तु समस्या इतनी आसान नहीं है, जितनी आसानी से उसका समाधान प्रस्तुत कर दिया गया। सवाल केवल बाबा की इस उक्ति की छान-बीन का नहीं बल्कि उस सम्पूर्ण चिन्ता-धारा से टकराने का है; जो एक लम्बे काल से अपने सुख-दुःख, उत्थान-पतन, सफलता-असफलता, हानि लाभ एवं यश-अपयश जैसी छोटी चीजों से लेकर जीवन और मृत्यु जैसे बड़े प्रश्नों को भी किसी लोकोत्तर सत्ता के हाथ में सौंप एक सुविधाजनक जिन्दगी जीती रही है। हमारे पुराण, काव्य और इतिहास ऐसी अनेक उक्तियों से भरे पड़े हैं, जिनमें मानवी शक्ति को नगण्य ठहराया गया है और उसे किसी लोकोत्तर शक्ति के हाथ की कठपुतली मात्र माना गया है। वैसे तो इस प्रकार की विचारधारा का नितान्त अभाव कभी भी नहीं रहा किन्तु मध्यकाल में तो यह सर्वाधिक फूलती फलती दिखलाई पड़ती है। यहाँ कुछ उक्तियाँ प्रस्तुत हैं, जिनमें मानव-जीवन को किसी मानवोपरि शक्ति के हाथों संचालित होते देखा गया है—

(१) 'लिखतमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः'

—जो ललाट में लिखा है उसे कौन मिटाने में समर्थ है ?

(२) यद्भावी न तद् भावी, भावी चेन्न तदन्यथा,
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किन्न पीयते।

—जो नहीं होने वाला है, वह कभी नहीं होगा और जो होने वाला है, उसे कोई रोक नहीं सकता। इसलिए चिंता के विष को मारने वाली इस विचार रूपी औषधि को क्यों नहीं पीते ?

(३) अनुकूलतामुपगते हि विधौ सफलत्वमेति लघुसाधनता।
प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहु साधनता॥

—यदि विधाता अनुकूल है तो थोड़े से साधनों से ही महान् सफलता मिल जाती है और यदि विधाता प्रतिकूल है तो साधनों की बहुलता भी विफलता का ही कारण बनती है।

(४) तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलइ सहाइ।
आपुनु आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥

—जैसी होनहार होती है, वैसी ही सहायता मिल जाती है। या तो वह आप ही उसके पास आती है, या उसको वहां ले जाती है।

इसी प्रकार की अन्य अनेक उक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इन उक्तियों

के समर्थन में पुराण, इतिहास तथा आज के जीवन से भी ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जब व्यक्ति अपने पूरे प्रयत्न के बावजूद भी मनोवांछित फल की प्राप्ति नहीं कर पाता और ऐसी विषम स्थिति में पड़ जाता है कि स्वयं को किसी अदृश्य सत्ता के द्वारा अनुशासित मान लेने पर ही उसे सन्तोष मिलता है। राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज एवं नल आदि से सम्बन्धित पौराणिक आख्यान तो उस अदृश्य सत्ता की सर्वशक्तिमत्ता और मानव की असहायता के जीते जागते प्रमाण माने जाते हैं। काव्य तथा अन्य कलाओं के क्षेत्र में भी यह शक्ति प्रबल प्रेरणा के रूप में कलाकार की प्रतिभा पर हावी दिखलाई पडती है। सरस्वती अथवा अन्य कोई देवी कलाकार की जिह्वा एवं कण्ठ आदि में विद्यमान हो जाती है और कला का सृजन होने लगता है। ऐसी स्थिति में कलाकार माध्यम मात्र होता है, कला का सृजन करने वाली शक्ति कोई अन्य ही होती है। उदाहरण के लिये—'शैवों की यह कल्पना कि समस्त शब्द और ध्वनियाँ अन्ततोगत्वा शिव के डमरू से उत्पन्न हुई हैं, तांत्रिकों की यह कल्पना कि समस्त अक्षर बीजाक्षर हैं और दैवी शक्तियों से सम्पन्न हैं वैष्णवों की यह कल्पना कि प्रभु की लीला का गायन करने वाला प्रत्येक कवि किसी न किसी अंश में उनकी वंशी का अवतार है जिसमें फूँक या अन्त: प्रेरणा दैवी शक्ति से जाग्रत होती है। यहाँ तक कि जयदेव का अधूरा श्लोक स्वत कृष्ण आकर पूरा कर देते हैं।'—इन सब कल्पनाओं एवं विश्वासों को प्रस्तुत किया जा सकता है। आदि काल और मध्यकाल में ही ऐसी धारणाओं एवं विचारों का अन्त हो गया हो, ऐसा नहीं है। आज भी बड़ी संख्या में इस प्रकार की धारणा के दर्शन होते हैं। आधुनिक महर्षि अरविन्द ने लिखा है—"कवि उच्चतम या सर्वाधिक मुक्त क्षणों में, अपने बाह्य सचेत मानस द्वारा नहीं लिखता, वरन् अन्त: प्रेरणा से देवताओं के प्रवक्ता की भाँति लिखता है।"—इन सबसे स्पष्ट है कि विश्वासों और विचारों की एक ऐसी सशक्त परम्परा है, जो मानव की नियति को पूर्व निर्धारित और उसे किसी अदृश्य शक्ति से अनुशासित मानती है।

३. कर्मवाद या मानवी शक्ति में विश्वास :

ठीक इस विचारधारा के विपरीत दूसरी विचारधारा के दर्शन भी हमें प्राचीन वाङ्मय में होते हैं, जहाँ मनुष्य को ही सर्वोपरि शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है और कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने का संकल्प प्रकट किया गया है, यानी किसी सीमा तक जीवन-शक्ति की वृद्धि एवं मृत्यु पर भी मानव के अधिकार को आत्यन्तिक रूप में असम्भव नहीं माना गया। 'इच्छा-मृत्यु' की चर्चा यहाँ बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। जब 'यजुर्वेद' का ऋषि कहता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात्—'मनुष्य को चाहिये कि वह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ ही पूर्ण आयु-पर्यन्त जीने की इच्छा करे। उसका कल्याण इसी में है, कर्त्तव्य कर्म को

छोड़कर भागने में नहीं। कर्म-बन्धन से बचने का यही उपाय है।' अथवा जब 'अथर्व-वेद' में घोषणा की जाती है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्

अर्थात्—'जो मानवता में ब्रह्म के दर्शन करते हैं, वास्तव में वे ही परमेश्वर को समझते हैं।' अथवा 'महाभारतकार' कहता है—'मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।' तो निश्चय ही इन सब कथनों में मानव को ही अपनी नियति का नियन्ता स्वीकार किया जाता है। लाभ-हानि, यश-अपयश एवं जीवन-मरण का दायित्व उसी का बतलाकार उसी की गरिमा प्रतिष्ठित की जाती है। आज के वैज्ञानिक मानव ने प्रकृति के बहुत बड़े अंश पर अपना अधिकार कर ही लिया है। उसने जल, थल आकाश अग्नि एवं पवन सभी को अपनी मुट्ठी में बन्द कर लिया है। कितनी ही महामारियों एवं सर्वथा असाध्य समझे जाने वाले रोगों पर उसने विजय प्राप्त कर ली है। 'परिवार-नियोजन' के अनेक साधनों एवं उपकरणों के माध्यम से उसने जन्म को भी किसी सीमा तक अपने वश में कर लिया है। अभी बहुत कुछ उसकी शक्ति से बाहर भी है किन्तु उस सब पर विजय प्राप्ति का विश्वास उसने खोया नहीं है। इस प्रकार आधुनिक चिन्तन मानवोपरि किसी शक्ति में विश्वास नहीं कर पाता। वह मानव को और केवल मानव को ही सर्वस्व समझता है। मम से भिन्न कोई ममेतर नहीं है, यह आज के कवि चिंतक की स्पष्ट घोषणा है—

मैंने छुआ है, और मैं छुआ गया हूँ,
मैंने चूमा है और मैं चूमा गया हूँ,
मैं विजेता हूँ, और मुझे जीत लिया गया है;
मैं हूँ और मैं दे दिया गया हूँ;
मैं जिया हूँ; और मेरे भीतर से जी लिया गया है;
मैं मिटा हूँ, मैं पराभूत हूँ मैं तिरोहित हूँ,
मैं अवतरित हुआ हूँ, मैं आत्मसात् हूँ,
अमर्त्य, कालजित हूँ।

—'अज्ञेय'

इस विचारधारा के आधार पर कहा जा सकता है कि हानि-लाभ, यश-अपयश एवं जीवन और मृत्यु आदि किसी विधाता के हाथ की चीज नहीं, बल्कि इन सबका दायित्व मानव पर ही है, वही इनका नियन्ता है और वही भोक्ता।

४. मानवोपरि शक्ति में विश्वास : मानवी गरिमा का ह्रास

उक्त दोनों विचारधाराओं के पक्ष-विपक्ष में तर्क दिये जा सकते हैं किन्तु मूल प्रश्न यह है कि यदि हम मानव की नियति को किसी मानवोपरि शक्ति के हाथों सौंप देते हैं और यह स्वीकार कर लेते हैं कि जो होना है, वही होगा तो हम मानव की सारी गरिमा, उसकी सारी स्वतन्त्रता एवं उसकी विकल्प क्षमता को उससे छीन लेते हैं। इस स्थिति में वह 'कम्प्यूटर' मात्र रह जाता है, जो किसी पूर्व दिशा-निर्देश पर कार्य करते रहने को बाध्य है और तब उसकी सारी संस्कृति और सभ्यता, उत्थान,

और पतन, सुख और दुःख, सफलता और असफलता, कर्मठता अकर्मठता और ईमानदारी-बेईमानी तथा सज्जनता और दुष्टता आदि के सारे झमेले निरर्थक और बेमानी सिद्ध हो जाते हैं और यदि इसी चिन्तन-दिशा को आगे तक बढ़ाते जायें तो कहा जा सकता है कि तब उसका होना न होना भी निरर्थक हो उठता है।

५. स्वयं मानव ही अपनी नियति का नियंता :

मानव एक विवेकशील प्राणी है। उसकी गरिमा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हित-अनहित, अच्छाई-बुराई एवं पाप-पुण्य आदि में विवेक कर सकने के कारण ही है। विवेक के द्वारा वह अपनी प्रवृत्तियों का विकास करने में स्वतन्त्र है। ऊँचा उठने अथवा नीचे गिरने का अधिकार उसका अपना है। इसलिये वह देवता एवं राक्षस दोनों से विशिष्ट भी है—

देव देव तथा दनुज दनुज है।
जा सकता ओर केवल किन्तु मनुज है।

—'मैथिलीशरण गुप्त'

जीवन के विविध संघर्ष उसे शक्ति देते हैं, हर असफलता उसके अनुभव में कुछ नया जोड जाती है, हर दुःख उसे माँज जाता है, हर दृश्य उसकी आँख को आँज जाता है और इस प्रकार उसकी चेतना परिष्कृत एवं विकसित होती रहती है। कर्म करते हुए कर्म से परे जाना, सांसारिकता का भोग करते हुए भी केवल भोग का होकर ही न रह जाना तथा भावनाओं और विचारों की दुनिया में डूबे रहकर भी कभी तमाम भावनाओं और विचारों के कूड़े को मन के महल से कुछ क्षण के लिये बुहारने में समर्थ होना आदि स्थितियों में उसकी चेतना के विकास की चरम स्थिति स्वीकार की जा सकती है। धर्म-ग्रन्थों ने मानव की इस स्थिति को 'अनासक्त' की स्थिति कहा गया है। वस्तुतः अनासक्ति की स्थिति यों तो शक्ति से परे की स्थिति है किन्तु मानव इस स्थिति को प्राप्त कर असीम शक्ति से युक्त हो जाता है और इस स्थिति में वह अपनी नियति का स्वयं नियन्ता होता है, विधि का विधाता होता है और नक्षत्रों की पूर्व निर्धारित दिशा को भी बदल देता है। अपने 'अन्धा-युग' काव्य नाटक में धर्मवीर भारती ने इस अनासक्त मानव की दुर्जेय शक्ति का बहुत ही अच्छा चित्रण किया है। याचक के रूप मे भविष्य धृतराष्ट्र को विश्वास दिला जाता है कि कौरव एवं पांडवों में द्वन्द्व तो अनियार्यतः होगा किन्तु अन्ततः विजय कौरव-दल की ही होगी, किन्तु जब ऐसा नहीं होता और याचक धृतराष्ट्र के पास जाता है तो वह कहता है कि 'आज मेरा विज्ञान सब मिथ्या ही सिद्ध हुआ। सहसा एक व्यक्ति ऐसा आया जो सारे नक्षत्रों की गति से भी ज्यादा शक्तिशाली था।' विदुर उस व्यक्ति को प्रभु बतलाते हैं किन्तु याचक कहता है—

पता नहीं
प्रभु हैं या नहीं।
किन्तु उस दिन यह सिद्ध हुआ

जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।
नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है।

जगदीशचन्द्र माथुर का एक नाटक है—'पहला राजा'। इस नाटक में भी नाटककार ने प्रकारान्तर से यह प्रश्न उठाया है। नाटक के प्रारम्भ में ही सूत्रधार वैज्ञानिकों, कवियों और दार्शनिकों का आह्वान करता है, यह जानने के लिये कि अपने-अपने क्षेत्र में उन्हें जो शक्ति प्राप्त होती है, उसका आधार क्या है? क्या वह शक्ति किसी देवता से प्राप्त होती है अथवा किसी अन्य अ-लौकिक शक्ति से। देवताओं को नाटककार गन्धहीन स्वादहीन निर्जीव पर मनोरम प्रवंचनायें तथा ऐसे फूल जो न झरते हैं और न फल बनते हैं, न सूखते हैं और न बीज ही देते हैं।' बतलाता है। नाटक का नायक पृथु देवता एवं किसी परमब्रह्म की मनोरम प्रवंचनाओं में भटकता है किन्तु वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है, वह ध्यान देने योग्य है। पृथु कहता है—"ओ दुविधाओं के देवता, तू जिसे यज्ञ-पुरुष कहा जाता है—तू जिसे जगत् का विधाता कहते हैं—तू परमब्रह्म! मैं जानता हूँ कि शक्ति तेरी नहीं मेरी है! फिर भी तेरे आगे हाथ फैलाता हूँ। हजारों टहनियाँ और शाखायें किसी आकाश वृक्ष पर फैली हैं। मेरी निगाह अन्तरिक्ष के उस अनन्त फल-फूल वाले वृक्ष से हटा दे। पृथ्वी पर जो जीर्ण-शीर्ण पत्ते बिखरे हैं, उन्हीं में खोजने दे उसे, जो मेरी सहचरी थी, मेरी प्राण थी।"

५. निष्कर्ष :

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि यदि हानि-लाभ, जीवन-मरण और यश-अपयश आदि विधाता के हाथ में हैं तो वह विधाता कोई अ-लौकिक शक्ति नहीं वरन् मानव स्वयं ही है। मानव के अतिरिक्त किसी अन्य विधाता की कल्पना मानव की गरिमा को कम ही करती है, उसके अस्तित्व को निरर्थक ही बनाती है और उसे मात्र यन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करती है। तभी तो 'रिल्क' स्पष्ट चुनौती के स्वर में यह घोषणा करता है कि प्रभु की सार्थकता भी मनुष्य ही है, क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभु मानवीय मूल्यों की ही समग्रता का परम रूप है—

What will you do, God, when I die?
When I your pitcher, broken, lie?
I am your garb, the trade you ply
You lose your meaning, losing me.

ब्रह्म, ईश्वर, अल्लाह कुछ भी कहिए, हमारे सम्मुख केवल उसका मानवी रूप ही है। इसलिये शक्ति की प्राप्ति किसी प्रभु की चरण-वन्दना से नहीं होगी, वरन्

उसे तो स्वयं ही मरकर, बिखकर अर्जित करना होगा और 'सर्वेश्वर दयाल सक्सेना' की भाँति यह कहना होगा—

वज्र गिराओ जब जब तुम
मैं खड़ा रहूँ, यदि सीना ताने,
नर्क अग्नि में मुझे डाल दो
फिर भी जिऊँ स्वर्ग-सुख माने,
मेरे शौर्य और साहस को
करुणामय हों तो सराहिए,
चरणों पर गिरने से मिलता है
जो सुख, वह नहीं चाहिए।

—(गर्म हवाएँ, प्रार्थना—४)

———

२६ 'मन के जीते जीत'

१. मन का केन्द्रीय महत्व :

'कठोपनिषद्' में एक रूपक आता है, जिसके अन्तर्गत मानव के शरीर को रथ और आत्मा को रथी कहा गया है। बुद्धि को इस रथ का सारथि बतलाया गया है, इन्द्रियों को घोड़े तथा मन को घोड़ों की लगाम कहा गया है। सांसारिक विषय वासनाओं को ही इन्द्रिय रूपी घोड़ों का मार्ग बतलाया है। पूरा रूपक इस प्रकार है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणी हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

अर्थात्—'तू आत्मा को रथी और शरीर को रथ समझ। बुद्धि को सारथि जान और मन को लगाम समझ। मनीषी लोग इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को उनका मार्ग कहते हैं। वे इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।'

रूपक से स्पष्ट है कि मानव-शरीर में आत्मा, बुद्धि एवं मन का विशिष्ट महत्त्व है। इनमें आत्मा तो शरीर के रथ का स्वामी है, अतः शरीर में स्थित होते हुए भी वह शरीर से अपेक्षाकृत अधिक निरपेक्ष है। शरीर के रथ को इन्द्रियों के घोड़े खींचते है। बिना लगाम के ये घोड़े रथ को खाई-गड्ढों में गिरा सकते हैं, बीहड़ों में उलझा सकते हैं, दलदल में फँसा सकते हैं। सारथि बुद्धि भी लगाम के अभाव में इन इन्द्रियों के घोड़ों को नियन्त्रित नहीं कर सकती। यानी शरीर के संचालन में, आचार-व्यवहार में मन का केन्द्रीय महत्त्व है। 'भगवद्गीता' में भी श्रीकृष्ण ने मन को चंचल बताकर उसको नियन्त्रित किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया है और उसे मानव के बन्धन और मोक्ष का एक मात्र कारण ठहराया है। अन्य शास्त्रों में मन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

२. उक्ति का आशय :

मन के महत्व पर विचार करने के बाद अब जरा उक्ति के आशय को भी समझ लिया जाय।

पूरी उक्ति इस प्रकार है—'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। अर्थात् मन के द्वारा हार स्वीकार कर लिये जाने पर व्यक्ति की हार सुनिश्चित है और यदि व्यक्ति का मन हार स्वीकार नहीं करता तो विपरीत परिस्थितियों में भी उसे विजय-

श्री प्राप्त होती हैं। शास्त्रों में जो मन को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, कदाचित् इसी कारण। सांसारिक जीवन की सफलता-असफलता मन की दृढ़ता पर निर्भर करती है। जिसका मन टूट चुका है, हार मान चुका है, दुर्बल हो चुका है, सम्पन्नता और विलास के लाख-लाख साधन भी उसे प्रसन्नता प्रदान नहीं कर सकते। शरीर से दारासिंह होते हुए भी वह स्वयं को अत्यन्त क्षीण एवं दुर्बल महसूस करता रहेगा किन्तु जिसका मन दृढ़ है, पुष्ट है, वह साधनों के अभाव में भी कभी टूटेगा नहीं, हार नहीं मानेगा। प्रायः देखने में आता है कि बहुत से व्यक्ति अत्यधिक उम्र होने पर भी स्वयं को वृद्ध नहीं महसूस करते। उनमें युवकों जैसी फुर्ती और संजीदगी बनी रहती है, जबकि अनेक युवा होते हुए भी असमय ही बुढ़ापे का शिकार हो जाते हैं। अनेक व्यक्तियों के पास अंधाधुंध धन होता है किन्तु वे सदैव निर्धन बने रहते हैं, जबकि दूसरे भूखों मरने की भी परवाह नहीं करते और फटेहाल रहकर भी मस्त रहते हैं। जिस व्यक्ति के पास ऊँचे से ऊँचा पद है, मोटर है, बंगला है, नौकर हैं, चाकर है, रूपवती पत्नी है, आज्ञाकारी सुत है, स्वस्थ शरीर है और न जाने क्या-क्या है, उसे भी प्रायः दुखी देखा जा सकता है और जिसके पास सिर ढकने को छप्पर, पहिनने को कपड़े एवं खाने को रोटी तक नहीं है, उसको भी सुखी देखा जा सकता है। कहने का आशय यह है कि जय-पराजय, हानि-लाभ, यश-अपयश और सुख-दुःख सब मन की खेती है। आप मन से जैसा महसूस करेंगे, वैसा ही बनेंगे।

३. मन की दृढ़ता के कतिपय उदाहरण :

उक्त कथन की पुष्टि में इतिहास, पुराण एवं आज के जीवन से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। महाभारत के युद्ध में कौरवों एवं पांडवों की साधन-सम्पन्नता में जमीन आसमान का अन्तर था। कौरव संख्या में तो अधिक थे ही, शस्त्र एवं धन-बल भी उनके पास अधिक था किन्तु विजयश्री पांडवों के हाथ लगी। कारण, श्री कृष्ण ने अर्जुन एवं अन्य पांडवों के मनोबल को दृढ़ कर दिया था। सावित्री के मन ने साक्षात् यम के सम्मुख भी हार नहीं मानी और अन्ततः अपने पति सत्यवान को मृत्यु के मुख से निकाल लेने में सफलता प्राप्त की। 'कठोपनिषद्' के नचिकेता ने न केवल मृत्यु को पराजित किया, बल्कि अपने मनोनुकूल वदरान भी उससे प्राप्त किए। अल्प साधनों किन्तु दृढ़ मन वाले कहाँ राणा-प्रताप और प्रचुर साधनों से युक्त कहाँ मुगल-सिरमौर अकबर। शिवाजी ने बहुत थोड़ी सी सेना से औरंगजेब के दांत खट्टे कर दिए। द्वितीय विश्व-युद्ध में मित्र राष्ट्रों ने जापान को नष्ट भ्रष्ट करने में कोई कसर नहीं उठा रखी किन्तु आज अपने मनोबल की दृढ़ता के कारण छोटा सा देश जापान विश्व के गिने-चुने शक्ति-सम्पन्न देशों में से एक है। दुबले-पतले शरीर वाले गाँधी ने एक ऐसे साम्राज्य की नींव हिला दी, जिसमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता था। १९७१ के युद्ध में भारत के दृढ़ मन को अमेरिका का सातवाँ बेडा भी टस से मस नहीं कर सका। इसी प्रकार के न जाने कितने उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें स्पष्ट होता है कि जय-पराजय साधन-सम्पन्नता पर नहीं, बल्कि मन की दृढ़ता पर निर्भर करती है।

४. मन को शक्ति सम्पन्न कैसे बनाया जाय ? :

अब सवाल पैदा होता है कि आखिर मन में यह शक्ति आती कहाँ से है ? क्या इसे इच्छा मात्र से ही प्राप्त किया जा सकता है ? निश्चय ही नहीं । यदि ऐसा होता तो शायद ही कोई दुर्बल मन वाला व्यक्ति संसार में दिखलाई पड़ता । इसके लिये साधना करनी पड़ती है, जो सरल नहीं है । इस साधना के मार्ग भी अनेक हो सकते हैं । एक मार्ग योगी का है, जो यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि के अभ्यास से मन को एकाग्र कर अद्भुत शक्ति प्राप्त कर लेता है । यह बात अब छिपी नहीं रह गई है कि संसार के प्रसिद्ध जादूगरों के करिश्मों में योग साधना का भी बड़ा भारी महत्व है, किन्तु योगी होना भी तो हरेक के बूते की बात नहीं है । यहाँ हम केवल सांसारिक एवं व्यावहारिक मनुष्य कों केन्द्र में रखकर कतिपय उन प्रमुख बातों की ओर सकेत करेंगे, जिनके द्वारा व्यक्ति अपने मन को अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ बना सकता है और जीवन में जय एवं सुख का अनुभव कर सकता है ।

मन की प्रकृति एवं शक्ति को समझा जाय—मन को शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिये सबसे पहली आवश्यकता है मन की प्रकृति को समझना । मन बड़ा चंचल है । यह बात केवल बड़े-बड़े ग्रंथों में ही नहीं लिखी गई है, परन्तु हम सब दिन-प्रतिदिन के जीवन में इसका सर्दैव अनुभव करते हैं । हम काम कोई करते रहते हैं और हमारा मन उड़कर कहीं चला जाता है । सचमुच, यह मन पवन की गति से भी अधिक वेग वाला है । क्षण में यहाँ क्षण में वहाँ । इसलिये कबीर ने इसकी उपमा कभी घोड़े से दी है—'कबीर तुरी पलाणियाँ' तो कभी इसे 'पवनाँ वेगि उतावला' कहा है । वैसे यह बड़ा सूक्ष्म है—'पाँणी ही तैं पातला' धूवाँ ही तैं झींण ।' पानी से पतला और धुएँ से भी क्षीण किन्तु अथाह शक्ति से सम्पन्न ।

मन मानव की तमाम इन्द्रियों का राजा है । इन्द्रियाँ सदैव बाहरी विषयों में लीन रहती हैं, इसलिये मन का स्वभाव है कि वह भी बाहरी संसार की ओर अधिक देखता है, अपने अंदर की ओर नहीं । 'कठोपनिषद्' में कहा गया है—

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयम्भ—
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को स्वभावतः बहिर्मुख बनाया है । इसलिये मन बाहर की ओर देखता है, अपने अन्दर की ओर नहीं ।

मन को एकाग्र किया जाय और अन्तर्मुखी बनाया जाय—मन चंचल है । चंचल रहते हुये उसमें किसी प्रकार की शक्ति का संचयन संभव नहीं । इसलिये उसके एकाग्र करने की आवश्यकता होती है । यह एकाग्र कैसे हो ? विचारों के चक्र को रोके बिना एकाग्रता संभव नहीं । विचारों का बाहरी चक्र यदि रोक भी लिया जाय तो भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है । बाहर का जो अपरंगर संसार हमारे मन में भरा रहता है, उसको निकाले बिना एकाग्रता असंभव है । यह संसार केवल आसन

लगाने से ही नहीं निकलेगा, इसके लिये जीवन की शुद्धि आवश्यक है । हमारे आचार-व्यवहार के सूत्र हमारे अन्तर्यामी के हाथों ही रहें । हम सब के अन्दर एक अन्तर्यामी निवास करता है । हमारे प्रत्येक आचार-व्यवहार में उसकी एक आवाज होती है, जिसे हम प्रायः दबा देते हैं । कहीं अन्याय हो रहा है, सरासर झूठ बोला जा रहा है, किसी को अनुचित रूप में दबाया जा रहा है, किसी का शोषण किया जा रहा है हमारा अन्तर्यामी यह सब देखकर विचलित हो उठता है । वह विद्रोह करना चाहता है किन्तु हम उसे दबा देते हैं, क्योंकि ऐसा करने से हमारी नौकरी चली जायेगी अथवा हमको किसी प्रकार की हानि होगी । इसी प्रकार हम सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं । जानते हुए भी सदैव सच्चाई का गला घोटते रहते हैं । अपने अन्तर्यामी से बाहर जाकर जब हम इतना सब करेंगे तो उसकी प्रतिक्रिया भला हमारे मन को एकाग्र होने देगी । अतः मन की एकाग्रता के लिये जीवन शुद्धि आवश्यक है । जिसमें स्वार्थ सिद्धि एवं वासना-तृप्ति आदि के लिये बहुत कम स्थान है । धीरे-धीरे करके मन में भरे अपरंपार संसार को निकालना होगा । मन के महल को बुहार कर साफ करना होगा । एकाग्रता तभी सधेगी । बाहरी विषयों से हटाकर इसे अन्तर्मुखी बनाना होगा । 'कबीर' ने तो मदमत्त मन को घट के भीतर ही घेर रखने की बात कही है और पीठ देकर विपरीत चलने पर अंकुश रखने की सलाह दी है—

मैमंता मन मारि रे, घट ही मांहैं घेरि ।
जब ही चालै पीठि दे, अंकुश दै दै फेरि ।

मन की एकाग्रता साधने से मन में विपुल शक्ति एकत्रित हो जाती है । इतनी कि मनुष्य संसार में रहकर भी संसार से अलग रह सकने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है । नेपोलियन के लिये कहा जाता है कि एक बार वह युद्ध की व्यवस्था ठीक कर देता कि फिर समरभूमि में भी गणित के सिद्धान्त हल किया करता था । डेरों, तम्बुओं पर गोले बरसते, सैनिक मरते, परन्तु नेपोलियन का मन अपने गणित में ही मग्न रहता । खलीफा उमर के विषय में ऐसी ही बात कही जाती है । बीच लड़ाई में जब नमाज का वक्त हो जाता तो वह वहीं समरभूमि में चित्त एकाग्र करके घुटने टेककर नमाज पढ़ने लगता और उसका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उसे यह होश भी नहीं रहता कितने और किसके पक्ष के आदमी लड़ कट रहे हैं ।

हीनता ग्रंथि को दूर किया जाय—प्रायः मनुष्य किसी भी कठिन साधना और श्रम से बचना चाहता है । उसकी इस प्रवृत्ति में उसकी हीमता ग्रंथि बहुत सहायक होती है । मैं तो क्षुद्र सांसारिक जीव हूँ, भला मुझसे कोई कठिन साधना कैसे सधेगी ? अथवा मैं बहुत दुर्बल हूँ कि निर्धन हूँ कि अस्वस्थ हूँ, जिसके कारण मैं अमुक कार्य नहीं कर सकता अथवा अमुक वस्तु नहीं प्राप्त कर सकता । मनुष्य को इस दीन-हीन भाव से उबरना चाहिये । विनोबा तो चंडूल का उदाहरण देकर कहते हैं—"प्रातः काल सूर्य को देखकर चण्डूल कहता है कि मैं सूर्य तक उड़ जाऊँगा । वैसा ही हमें बनना चाहिये । अपने दुर्बलपंखों चंडूल बेचारा कितना ही ऊँचा उड़े, तो भी

वह सूर्य तक कैसे पहुँचेगा ? परन्तु अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा वह सूर्य को अवश्य पा सकता है। हमारा आचरण इससे उलटा होता है। हम जितने ऊँचे जा सकते थे, उतने भी न जाकर अपनी कल्पना और भावनाओं पर रुकावटें डालकर अपने आप को और नीचा गिरा लेते हैं। जो शक्ति प्राप्त है, उसे भी अपनी हीन भावना से नष्ट कर लेते हैं। जहाँ कल्पना के ही पाँव टूट गए तो फिर नीचे गिरने के सिवा क्या गति होगी ?" 'भगवद्गीता' में भी कहा गया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

अर्थात्— मनुष्य को चाहिये कि जीवन में अपने सहारे से ही अपना उद्धार करे अपने को हीन भावना से (मैं दीन हूँ, हीन हूँ, कुछ नहीं कर सकता—इस भावना से) बचाये।

इस हीन-ग्रंथि से मुक्ति पाकर मानव-मन में निश्चय ही एक विश्वास, एक आस्था एवं निष्ठा का जन्म लेगी, जो कभी उसे पराजित नहीं होने देगी।

५. निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मानव-शरीर में मन का केन्द्रीय महत्व है। वह इहलोक और परलोक के बीच की कड़ी है। उसमें अनन्त शक्ति छिपी है। सांसारिक कर्मों में हार-जीत, सफलता-असफलता हमारे मन पर निर्भर करती है। यदि हमारा मन दुर्बल है तो सब कुछ प्राप्त होते हुये भी हम स्वयं को पराजित एवं असंतुष्ट अनुभव करेंगे और यदि मन सबल होगा तो हमें जीवन में कभी पराजय और असफलता का अनुभव नहीं करना पड़ेगा। मन की यह सबलता उसकी एकाग्रता पर निर्भर करती है और एकाग्रता के लिए हमें अपने जीवन-व्यवहार को शुद्ध बनाना अपेक्षित होगा। इन्द्रियों पर पहरा बिठाना होगा। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय नपा-तुला ही काम करेगी। हमारा आहार परिमित होगा, हमारी निद्रा परिमित होगी, हमारी वाणी नियंत्रित होगी, हमें व्यर्थ की बातें सुनना एवं कहना बंद करना होगा। मन की दौड़ निरन्तर बाहर ही होते रहने से मनुष्य की सारी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है, अतः उसे अन्दर की ओर उन्मुख करना पड़ेगा। हमें उपनिषद् की इस शिक्षा को ध्यान में रखना होगा कि जिसका मन अशान्त है, वह प्रज्ञान से केवल बुद्धि से— आत्मतत्व को नहीं पा सकता—'नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'। एक बार मन सबल बन जाये, उसमें आत्म-विश्वास जग जाये, फिर आँधी और भयंकर भूचाल भी मानव को पराजित नहीं कर सकते। वह कठोर से कठोर परिस्थितियों में से गुजरकर भी शिवमंगल सिंह 'सुमन' की भाँति यही कहेगा—

आँधी आई, तूफान उठा
काँपे दिग्गज, दहला अम्बर
मेरे तरु के तिनके गये बिखर
खूब तपा जब तक यह नील नभ
अब तक मेरे डैनों में बल
फिर भी मेरा विश्वास अटल।

३० ७७ का लोकसभा चुनाव और जनता सरकार

१. चुनाव नहीं महाचुनाव :

मार्च, १९७७ के लोक-सभा चुनाव का भारतीय प्रजातंत्र के इतिहास में विशिष्ट महत्व रहेगा, जिसमें सत्तारूढ़ कांग्रेस दल की विगत ३० वर्षों से की गई दृढ़ किलेबन्दी भरभराकर ढह गई और सम्पूर्ण उत्तरी भारत से उसका लगभग सफाया हो गया। ३० वर्षों तक निरन्तर एक ही दल का सत्तारूढ़ रहना भी यों तो विश्व के प्रजातन्त्र के लिये कम आश्चर्यजनक बात नहीं थी, किन्तु उसका एक ही झटके में इतनी बुरी तरह धराशायी होना और भी अधिक विस्मयकारी घटना सिद्ध हुआ। इस घटना ने देश-विदेश का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया, क्योंकि उनके भी तमाम अनुमान निष्फल हो गये। गुप्तचरों की गुप्त रिपोर्ट निरर्थक सिद्ध हुयीं। ज्योतिष की भविष्यवाणियाँ झूठी पड़ गयीं। आम जनता की दृष्टि में जनता पार्टी की यह विजय अप्रत्याशित थी और सच तो यह है कि स्वयं जनता पार्टी को भी इतनी बड़ी विजय की आशा नहीं थी। कांग्रेस दल की पराजय तो हुई ही उस प्रधानमन्त्री की पराजय कोई अर्थ रखती है, जिसने अपने लगभग ११ वर्ष ५६ दिन के शासन-काल में देश-विदेश की अनेक चुनौतियों से टक्कर ली हो, जिसने अपने प्रबलतम एवं शक्तिशाली विरोधियों को नाकों चने चबा दिए हों और जो विश्व की सबसे सशक्त प्रधानमन्त्रियों में से रही हो और व्यक्तिगत चुनाव जीतना जिसके लिये कोई समस्या न हो। इन्हीं सब दृष्टियों से यह चुनाव साधारण चुनाव न रहकर वस्तुतः महाचुनाव बन गया। कुछ लोग इसे जन-क्रान्ति की संज्ञा देते हैं किन्तु जन-क्रान्ति केवल किसी एक दल के चुनाव जीत जाने से ही नहीं होती, उसके लिए तो राजनीति के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी आमूल चूल परिवर्तन की अपेक्षा होती है। हमारी दृष्टि में इस घटना को जनक्रान्ति तो नहीं, हाँ एक बड़ा परिवर्तन अवश्य कहा जा सकता है।

२. द्रुत घटनाचक्र :

इस चुनाव की विशेषता यह भी थी कि इसका घटना चक्र बड़ी तेजी से घूमा। १८ जनवरी, ७७ को तत्कालीन प्रधानमंत्री ने चुनाव की घोषणा की और उससे अगले दो एक दिन में ही जयप्रकाश नारायण की प्रेरणा पर जनता पार्टी का गठन हो गया। इस जनता पार्टी में भारतीय लोकदल, संगठन कांग्रेस, जनसंघ एवं

सोशलिस्ट दल सम्मिलित हुए। शीघ्र ही भारतीय राजनीतिक क्षितिज में एक धमाका और हुआ। इन्दिरा सरकार के वरिष्ठ मंत्री बाबू जगजीवन राम ने कांग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया, जो स्वयं तत्कालीन प्रधानमन्त्री के लिये अप्रत्याशित था। यही नहीं, बाबू जगजीवन राम ने उत्तर प्रदेश और उड़ीसा के दो पदच्युत कांग्रेसी मुख्य मन्त्रियों के साथ एक नये दल 'कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी' का गठन भी कर लिया और नवगठित जनता पार्टी के सहयोग से चुनाव मैदान में आ जमे। जनता पार्टी के चुनाव चिह्न आदि की वैधानिक कठिनाइयों का भी शीघ्र ही हल खोज लिया गया। इन्दिरा सरकार ने आपातकालीन स्थिति की कठोरता में ढील दी। धीरे-धीरे सभी प्रमुख विरोधी नेताओं को जेल से मुक्त कर दिया। प्रेस पर लगी सेंसरशिप में ढील दी गई और चुनाव का रंग जमने लगा। यों इस चुनाव में कांग्रेस के अतिरिक्त भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, द्रविड़ मुनेत्र कषगम, अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कषगम आदि अनेक देश-प्रदेश स्तरीय दलों ने भाग लिया किन्तु मुख्य टक्कर कांग्रेस और जनता पार्टी के मध्य ही रही। दलों के घोषणा पत्र जारी हुए। कांग्रेस ने अपनी शानदार उपलब्धियों को गिनाते हुए केन्द्र में स्थायी सरकार बनाने की आवश्यकता पर बल दिया, जो उसकी दृष्टि में केवल कांग्रेस दल ही दे सकने में समर्थ था और जनता पार्टी के मुख्य मुद्दे आपातकाल की समाप्ति, मौलिक अधिकारों की वापसी, प्रेस एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, भ्रष्टाचार का अन्त एवं देश में बढ़ते हुये तानाशाही के खतरे को समाप्त करना आदि-आदि घोषित हुये। छुटपुट घटनाओं के अतिरिक्त चुनाव-प्रचार शान्तिपूर्ण ढंग से हुए। जनता पार्टी और कांग्रेस दोनों की ही चुनाव-सभाओं में भारी भीड़ जमा होती। इतनी भीड़ इससे पूर्व के किसी चुनाव में नहीं देखी गई। विशेषता यह रही कि केवल भीड़ के आधार पर चुनाव-परिणाम के विषय में कोई भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं रह गया, क्योंकि दोनों ही प्रमुख दलों की सभाएँ भारी भीड़ एकत्रित कर लेती थीं। अन्ततः १६ मार्च से लेकर २० मार्च, ७७ तक शान्तिपूर्ण ढंग से चुनाव सम्पन्न हुये। जनता पार्टी भारी बहुमत से विजयी घोषित हुई। कांग्रेस ५८२ में से केवल १५३ सीट ही प्राप्त कर सकी, जबकि जनता पार्टी को २७१ सीटें प्राप्त हुईं। कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी को २७ सीटें प्राप्त हुयीं। २२ मार्च को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने त्याग-पत्र दे दिया और २४ मार्च को नये प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने शपथ ग्रहण की। रामलीला मैदान में हुई ऐतिहासिक सभा में नये प्रधानमन्त्री श्री मोराजी देसाई ने महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों के अनुसार, प्रजातांत्रिक ढंग से देश को स्वच्छ शासन प्रदान करने का अपना संकल्प व्यक्त किया। २४ मार्च को प्रातः जनता पार्टी के नवनिर्वाचित सदस्य राजघाट स्थित बापू की समाधि पर एकत्रित होकर बापू के सिद्धान्तों को अपनाने का संकल्प ले चुके थे, और अगले दिन ही श्री मोराजी देसाई ने अपने मंत्रिमण्डल के कुछ सदस्यों की घोषणा कर दी। बाबू जगजीवन राम और हेमवती नन्दन बहुगुणा ने भी जनता सरकार में मंत्री-पद स्वीकार किया और इस प्रकार जनता-पार्टी का नया शासन प्रारम्भ हुआ।

३. कांग्रेस की पराजय के प्रमुख कारण :

कांग्रेस की यह पराजय असाधारण थी. किन्तु अकारण नहीं थी। यों तो उसकी पराजय के अनेक कारण थे, जिनमें कुछ स्थानीय भी थे, किन्तु उनमें आपातकाल में हुई कतिपय ज्यादतियाँ एवं परिवार-नियोजन के मामले में की गई जोर जबर्दस्ती कांग्रेस के लिए सर्वाधिक घातक सिद्ध हुए। आपातकाल में जहाँ तस्कर, समाज विरोधी तत्वों एवं कुछ देश-विरोधियों को जेल में डाला गया, वहीं बड़ी संख्या में कुछ संजीदा एवं विरोधी दलों के भले नेताओं को भी जेल में डाला गया। कहीं-कहीं कुछ कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं एवं अधिकारियों को अपनी व्यक्तिगत दुश्मनी निकालने का भी मौका मिला। तत्कालीन प्रधानमन्त्री के पुत्र श्री संजय गाँधी ने जहाँ 'पाँच सूत्री कार्यक्रम' के माध्यम से परिवार-नियोजन, वृक्षारोपण, साक्षरता अभियान एवं दहेज उन्मूलन जैसे कुछ कार्यों की शुरुआत की, वहीं केन्द्र एवं राज्यों के शासन में उनके अनधिकृत दखल से जनता में नाराजगी बढ़ी। कांग्रेस के कुछ नेताओं एवं अधिकारियों ने अपनी कुर्सी बचाने एवं अगली सीढ़ी प्राप्त करने के लालच में कांग्रेस दल के नेताओं को इस प्रकार भ्रमित किया कि वे वास्तविकता से दूर होते चले गए। दल में कांग्रेस के निष्ठावान कार्यकर्त्ता अपने को उपेक्षित एवं तिरस्कृत अनुभव करने लगे। 'परिवार-नियोजन' के कार्यक्रम में बरती गई जोर-जबर्दस्ती ने तो जैसे आग में घी डालने का कार्य किया। सरकारी कर्मचारियों, अध्यापकों एवं अन्य निजी एवं अर्ध सरकारी कर्मचारियों के वेतन तक रोक दिये गए। अनेक लोगों को उनकी सेवाओं से मुक्त कर दिया गया। अपात्रों की नसबंदी कराई गई। अपने-अपने विभागों के निर्दिष्ट लक्ष्य को पूरा करने के लिए अधिकारियों ने अपने कार्यालयों में बैठे-बैठे, कार्यालयों में उपस्थित होने वाले व्यक्तियों को ही नसबंदी के केस लाने को बाध्य किया। अतिरिक्त उत्साह में ये लोग भूल गए कि इससे राष्ट्रीय महत्व के कार्यक्रम को तो क्षति पहुँचेगी ही, कांग्रेस को भी इसका भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी थे। व्यक्तिगत अभिव्यक्ति और प्रेस पर लगाई गई सेंसरशिप ने उस अंधकार को और गहरा ही बनाया, जिसके घेरे में दल के वरिष्ठ नेता आ चुके थे। आलोचना सदैव विध्वंसकारी सिद्ध हो, ऐसा नहीं है, वह भटके हुए पथिक का मार्ग भी प्रशस्त करती है। आँखो देखी का गायक कबीर पागल नहीं था कि कहता—'निंदक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।' किन्तु यहाँ तो निंदकों को चुन-चुन कर जेल की कोठरी में पहुँचा दिया था अथवा उनकी जुबान पर ताला दिया था। संविधान के ४२वें संशोधन के माध्यम से मौलिक अधिकारों पर लगा प्रतिबन्ध भी कांग्रेस की पराजय का कारण बना। इन सब कारणों ने इन्दिरा सरकार के अनेक अच्छे कार्यों—जैसे देश में तस्करों द्वारा उत्पन्न समानान्तर अर्थ-व्यवस्था की पीठ तोड़कर, उद्योगों में हड़तालों एवं तालाबन्दी पर प्रतिबन्ध लगाकर उत्पादन में वृद्धि कर अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करना; विश्वविद्यालयों एवं कालेजों में शान्तिपूर्ण वातावरण निर्मित करना, बीस सूत्रीय कार्यक्रम के माध्यम से दलित वर्ग

को सुख-सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करना, बांग्ला देश को मुक्त कराना, परमाणु शक्ति का भूमिगत विस्फोट, आर्यभट की अन्तरिक्ष में स्थापना आदि—को भी पृष्ठ-भूमि में डाल दिया। कांग्रेस कार्यकर्त्ता आपसी मनमुटाव से भी त्रस्त थे। इस चुनाव में वे उतने सक्रिय नहीं देखे गये, जितनी कि उनसे उपेक्षा थी। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष जब अपनी चुनाव-सभाओं में 'इन्दिरा ही भारत और भारत ही इन्दिरा है' के नारे लगाने लगे तो लोगों को देश में व्यक्ति पूजा पनपती हुई नजर आने लगी। श्री संजय के एकाएक राजनीतिक क्षितिज पर उभरने को अस्वाभाविक करार दिया और राज्यसत्ता को एक ही परिवार की बपौती न बनने देने की बात कही गई। कुल मिलाकर कांग्रेस की पराजय का कारण, जैसा कि चुनाव के बाद १२–१४ अप्रैल को होने वाली कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक में आत्मालोचन के दौरान भी स्वीकार किया गया, कांग्रेस की नीतियाँ नहीं, बल्कि उनके कार्यान्वयन में बरती गई सख्ती थी। विशेष रूप से आपातकाल में काफी सख्ती बरती गई और जनता द्वारा प्रतिवाद करने के सभी मार्ग बंद कर दिए गए। इन्हीं कुछ कारणों से कांग्रेस को अभूतपूर्व पराजय का मुँह देखना पड़ा। जनता ने प्रजातांत्रिक ढंग से ही एक महान् परिवर्तन उपस्थित कर दिया और एक बार पुनः सिद्ध कर दिया कि भारत वर्ष में प्रजातंत्र की जड़ें बहुत गहरी हैं। उन जड़ों के काटने का अधिकार वह किसी एक व्यक्ति अथवा दल को नहीं दे सकती, फिर चाहे वह व्यक्ति अथवा दल कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो।

४. जनता सरकार : वादे एवं उपलब्धियां

चुनाव के बाद केन्द्र में एवं उत्तर भारत के अधिकांश राज्यों में जनता सरकारें बनीं। चुनाव से पूर्व जनता-पार्टी ने अपने चुनाव-घोषणा-पत्र में जनता से अनेक वादे किए थे, जिनमें प्रमुख थे—जनता को तानाशाही शिकंजे से मुक्त कर लोकतंत्र को पुनः बहाल करना, उसके मौलिक अधिकारों की वापिसी, आपातकाल में हुई ज्यादतियों की न्यायिक जाँच कराना एवं दोषियों के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था करना, विदेश नीति को सही रूप से गुट-निरपेक्ष बनाना, गरीबी को दूर करना, बेरोजगारी मिटाना, आर्थिक विकास नीति को ग्रामोन्मुख बनाना, लघु-कुटीर उद्योग-धन्धों को बढ़ावा देना, समाज को भ्रष्टाचार, जातिवाद एवं भाई-भतीजावाद से मुक्त करना, परिवार-कल्याण के लिये कुछ नए मार्ग खोजना एवं शिक्षा-प्रणाली में आमूल चूल परिवर्तन कर एक सुदृढ़ राष्ट्रीय-शिक्षा नीति का निर्माण करना आदि-आदि। यानी मोटे तौर पर जनता पार्टी ने देश को स्वच्छ प्रशासन देने एवं लोक-कल्याणकारी राज्य बनाने का संकल्प देश की जनता के सामने प्रकट किया था। जनता सरकार को सत्ता में लाए अब इतना समय अवश्य बीत गया है कि उसकी उपलब्धियों एवं कमियों पर विचार किया जा सके। जनता सरकार ने लोकतंत्र को को बहाल कर दिया है। ४४वें एवं ४५वें संविधान संशोधन के माध्यम से जनता के मौलिक अधिकार भी उसे लौटा दिये हैं, यद्यपि अभी राज्य सभा में कांग्रेस (इ) का

बहुमत होने के कारण ४५वें संविधान संशोधन को वह उस रूप में पास न करा सकी, जिसमें वह चाहती थी। शाह-आयोग, रेड्डी-आयोग जैसे विभिन्न आयोग बिठाकर आपातकाल की उच्छृंखलताओं का खुला चिट्ठा देश के सामने रखने की कोशिश की। प्रधानमंत्री ने एक ओर अमेरिका की यात्रा कर और दूसरी ओर चीन की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाकर, साथ ही रूस की दोस्ती को बरकरार रखने की बात कहकर सच्ची गुटनिरपेक्ष विदेश-नीति की ओर कदम बढ़ाए हैं। विदेश-मन्त्री ने पड़ोसी देशों की यात्रा कर भारतीय सम्बन्धों को और घनिष्ट बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु ये सब तो उसकी राजनैतिक उपलब्धियाँ कही जा सकती हैं, यदि उनको उपलब्धि हीं माना जाय। आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक क्षेत्रों में वह ऐसा अभी कुछ नहीं कर पाई है, जिसे उसकी विशेष उपलब्धि कहा जा सके। आर्थिक विकास नीति को ग्रामोन्मुख बनाने का लक्ष्य अवश्य ही निर्धारित किया है किन्तु उसके लिये अभी किसी ठोस कार्यक्रम पर कार्य शुरू नहीं हो पाया। भूमि-विकास एवं भूमि-वितरण का कार्य भी अधूरा ही पड़ा है। ग्रामों के विद्युतीकरण और उन्हें सड़कों से जोड़ने की भी कठिन समस्या सामने है। अधिकांश गाँवों में पेय-जल व्यवस्था के लिये भी कुछ विशेष नहीं हो पाया है। ऐसी स्थिति में जनता सरकार द्वारा भावी दस वर्षों में गरीबी-उन्मूलन एवं बेरोजगारी की समस्या को हल करने के संकल्प के प्रति भी आश्वस्त हो पाना कठिन है। परिवार-नियोजन का कार्यक्रम भी लगभग ठप्प पड़ गया है। हरिजनों पर किये जाने वाले अत्याचारों में कोई कमी नहीं आई। नारी-उद्धार का भी कोई ठोस कार्यक्रम नहीं बन पाया है। हाँ, विवाह आयु अवश्य बढ़ा दी गई है। बिहार एवं उत्तर प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में पिछड़े वर्गों के लिये नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था अवश्य की गई है, जिसने एक विवाद का रूप धारण कर लिया है। परमाणु-बम न बनाने का संकल्प किया गया है, किन्तु यह संकल्प देश के लिये कितना हितकर सिद्ध हो सकेगा, यह भविष्य ही बतलायेगा। चार वर्ष में शराबबंदी का लक्ष्य भी रखा गया है, जिसका अंशतः ही पालन हो रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा-नीति अधर में ही लटकी है। '१०+२+३' वाली शिक्षा-नीति भी विवादों के घेरे में जा फँसी है। विश्वविद्यालय एवं कालेज अराजकता के शिकार बन गये हैं। व्यवस्था एवं अनुशासन की भावना समाप्त प्रायः है। इन सबके अतिरिक्त कानून और व्यवस्था की स्थिति में गिरावट आई है। असुरक्षा की भावना बढ़ी है। प्रधानमंत्री के निर्भय बनने के आह्वान ने समाज-विरोधी तत्वों को ही निर्भय बनाया है। भ्रष्टाचार में कोई कमी नहीं आई। कुल मिलाकर जनता सरकार भी लगभग सत्ता-संघर्ष के उसी दुष्चक्र में फँसी हुई दिखलाई पड़ती है, जिसमें पिछले तीस वर्षों तक कांग्रेस फँसी रही।

५. निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यदि अब तक की जनता सरकार की कार्यप्रणाली पूर्णतः निराश करने वाली न भी हो तो उदास करने वाली तो अवश्य ही

है। इससे आम जनता के विश्वास को ही धक्का नहीं लगा है, बल्कि जनता पार्टी के कर्णधारों, जयप्रकाश बाबू एवं कृपलानी जैसे वयोवृद्ध नेताओं को भी उसके कार्य-कलाप से संतोष नहीं मिला। इसके कारण भी स्पष्ट हैं। जनता पार्टी क्षुद्र सत्ता-लिप्सा, घटकवाद, आपसी तनाव एवं खींचातान में इतनी उलझ गई है कि शासन को अफसरशाही पर छोड़ने के अलावा उसके पास जैसे कोई रास्ता नहीं बचा है। असल में जनता पार्टी ने भूतपूर्व राजनीतिक दलों के आधार को मान्यता देकर शुरू में ही गलती की। चुनावों में टिकिटों का बँटवारा तथा बाद में मन्त्रियों की नियुक्ति में भी 'कोटा सिस्टम' अपनाकर एक दल के रूप में परिवर्तित होने की आशा को धूमिल-सा कर दिया। अब वह घटकवाद ही अपना रंग दिखा रहा है। मन्त्रियों को अपने-अपने मंत्रालयों की समस्याओं को समझने एवं उनसे निपटने की अपेक्षा अपने घटक को पुष्ट करने तथा अपनी कुर्सी बचाने की ही अधिक चिन्ता है। चुनाव के बाद जब जनता पार्टी के नेता गांधी जी की समाधि के समक्ष शपथ ग्रहण करने गये तो कुछ आशा बंधी थी कि यह सरकार ऐसा कुछ अवश्य करेगी, जिससे जन-शक्ति की आकांक्षाओं को सम्मान मिलेगा, गाँधी की मुराद पूरी होगी और जयप्रकाश बाबू की समग्र क्रान्ति का स्वप्न साकार होगा, किन्तु अभी तक ऐसा कुछ नहीं हो पाया है। अभी भी समय है। यदि जनता पार्टी अपने पुराने घटकवाद का मोह छोड़कर एक-जुट होकर देश की आवश्यकतानुसार सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में विकास के ठोस कार्यक्रम बनाए और उन्हें अमलोजामा पहिनाने के लिये कृतसंकल्प हो उठे तो कोई कारण नहीं है कि उसे सफलता न मिले। इसके विपरीत यदि वह इसी प्रकार अपनी कलह में उलझी रही तो इसका भी वही हाल होगा, जो ७७ के चुनाव में कांग्रेस पार्टी का हुआ। क्या जनता सरकार ७७ के चुनाव से कोई सबक सीखेगी?

———

२१ राष्ट्र-भाषा हिन्दी : समस्याएँ एवं समाधान

१. प्रस्तावना : राष्ट्र भाषा की आवश्यकता :

भारतेन्दु जी ने कभी बड़ी गहराई में उतरकर यह लिखा था—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
पै निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को सूल ।।

किसी देश और जाति के विकास का मूल आधार उसकी निजी भाषा की सम्पन्नता में निहित होता है । विदेशा भाषा 'हिय के सूल' की अभिव्यक्ति में कहाँ सफल हो सकती है ? वस्तुतः किसी देश और जाति की निजी संस्कृति, निजी विचारणा; उसका निजी दर्द, निजी उल्लास तथा कुल मिलाकर उसकी अस्मिता की पहिचान उसकी निजी भाषा के माध्यम से ही हो सकती है । जिस प्रकार किसी राष्ट्र के लिये निश्चित भू भाग, उसके निजी राष्ट्र-ध्वज, निजी राष्ट्र गीत एवं निजी संविधान आदि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार एक निजी राष्ट्र-भाषा का होना भी उसके लिये अत्यन्त आवश्यक है । वस्तुतः भारत जैसे विशाल और बहु-भाषी देश के लिए तो एक ऐसी राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ जाती है, जो उसके विभिन्न भाषा-भाषी राज्यों को एक सूत्रता में बाँध सके । वह सम्पर्क भाषा बनकर एक राज्य की समस्याओं, कठिनाइयों और कार्यक्रमों को दूसरे राज्यों तथा केन्द्र तक संप्रेषित कर सकने में समर्थ हो । यदि देश की एक राष्ट्र भाषा न होगी तो देश की एकता को तो आघात पहुँचेगा ही, साथ ही अन्तर राष्ट्रीय क्षेत्र में भी न तो हम अपनी संस्कृति का ही सही ढंग से प्रचार-प्रसार कर सकेंगे और न ही निजी राष्ट्र भाषा वाले देश की गरिमा ही प्राप्त कर सकेंगे ।

२. हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा क्यों ?

स्वतन्त्र भारत के संविधान-निर्माताओं ने धारा ३४३ के अनुसार हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार किया है, जिसका प्रमुख कारण रहा है—हिन्दी भाषियों की संख्या का आधिक्य । भारत ने जनतांत्रिक शासन पद्धति अपनाई है, अतः बहुमत की भाषा को राष्ट्र-भाषा का गौरव प्रदान करना उपयुक्त ही था । प्रमुखतः भारत के हिन्दी-भाषी प्रदेशों की लगभग ३२ करोड़ जनसंख्या की मातृ-भाषा हिन्दी है एवं इसके साथ हिन्दी-प्रदेशों के सीमावर्ती प्रदेशों एवं भारत के कोने-कोने में बिखरी काफी संख्या उन लोगों की है, जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी भले

ही न हो, वे हिन्दी भली-भाँति समझते एवं बोलते हैं। यही नहीं, अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी अंग्रेजी एवं चीनी भाषा के बाद हिन्दी बोलने वालों की संख्या सर्वाधिक है। लगभग छः करोड़ विदेशी हिन्दी बोलते अथवा समझते हैं। मारीशस में पैंसठ प्रतिशत, गुयाना में पैंतालीस प्रतिशत, सूरीनाम में चार लाख, फीजी में इक्यावन प्रतिशत प्रवासी भारतीय, दक्षिण अफ्रीका में बत्तीस प्रतिशत, थाइलैंड में पच्चीस हजार तथा बर्मा में पौने तीन लाख लोग हिन्दी बोलते हैं। नेपाल में २८ प्रतिशत लोगों की भाषा हिन्दी है और शेष आधे लोग भी हिन्दी अच्छी तरह समझ लेते हैं। अन्य यूरोपीय देशों में भी लाखों लोग हिन्दी बोलते हैं और हिन्दी के पठन-पाठन के कार्य में संलग्न हैं। सम्पन्नता की दृष्टि से भी अब हिन्दी-भाषा का साहित्य भारत की अन्य किसी भाषा के साहित्य की अपेक्षा कम सम्पन्न नहीं है। इसके साथ ही हिन्दी लगभग हजार वर्षों से इस देश की संस्कृति की वाहिका रही है। गाँधी जी ने तो इसे स्वाधीनता आन्दोलन की भाषा बनाया ही था, स्वामी दयानन्द ने केवल इसे अपने समाज-सुधार आन्दोलन की भाषा ही नहीं बनाया, वरन् इसके विकास के लिये भी कार्य किया। मध्यकालीन 'भक्ति-आन्दोलन' की भाषा हिन्दी ही थी, जिसने तत्कालीन समाज में न केवल इस देश की जनता के आत्म-विश्वास को जाग्रत किया था, बल्कि कबीर, दादू, नानक, जायसी, सूर एवं तुलसी आदि की अमृत-वाणी ने सांस्कृतिक विष को पचाने का भी सराहनीय कार्य किया था।

भारत जैसे विशाल देश के लिये भावात्मक एकता स्थापित करने के प्रयास की बड़ी आवश्यकता है। हिन्दी ने यह प्रयास सदैव किया है। यह केवल हिन्दुओं की भाषा नहीं, मुसलमानों की भी भाषा रही है। मुसलमान कवियों ने इसकी श्री-वृद्धि की है। अमीर खुसरों को खड़ी बोली का प्रथम कवि स्वीकार किया जाता है। 'पद्मावत' के रचयिता जायसी भी मुसलमान थे। रसखान और अब्दुर्रहीम खानखाना की हिन्दी-सेवा तो अत्यधिक लोकप्रिय है ही, खड़ी बोली के प्रारम्भिक गद्य की रचना करने वाले इंशाअल्लाह खाँ भी मुसलमान थे। इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक मनीषियों एवं साहित्यकारों के नाम लिये जा सकते हैं, जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं थी किन्तु उन्होंने हिन्दी की सेवा की। रांगेयराघव तमिल भाषा-भाषी थे, जिन्होंने हिन्दी के कथा-क्षेत्र में विशेष गौरव प्राप्त किया। आंचलिक उपन्यासकार एवं प्रगतिशील कवि नागार्जुन मैथिली भाषी हैं। दयानन्द गुजराती-भाषी थे। पराड़कर जी ने हिन्दी-पत्रकारिता हेतु जो सेवा की, क्या वह भुलायी जा सकती है? प्रभाकर माचवे भी मराठी भाषी हैं। तमिल-भाषी राजा जी कभी हिन्दी के बहुत बड़े समर्थक रह चुके हैं। निबन्धों के क्षेत्र में विनोबा एवं काका-कालेलकर की हिन्दी-सेवा से कौन अपरिचित होगा?

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी सब प्रकार से राष्ट्र-भाषा के गौरव के सर्वथा अनुकूल है।

३. राष्ट्र-भाषा के सम्मुख समस्याएँ :

फिर भी हिन्दी के सामने कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण हिन्दी, संविधान लागू होने के २८ वर्ष बाद भी, व्यावहारिक रूप में राष्ट्र-भाषा का गौरव प्राप्त नहीं कर सकी। इनमें सबसे पहली कठिनाइ संवैधानिक है। संविधान के अनुसार हिन्दी को १९६५ के बाद पूरी तरह राज-कार्य की भाषा बन जाना था किन्तु राष्ट्र-भाषा के संदर्भ में गठित खेर आयोग (१९५५) और पंत समिति (१९५७) के प्रतिवेदनों पर विचार करने के बाद १९६३ ई० में बनाये गये राज-भाषा अधिनियम के अनुसार ऐसी व्यवस्था कर दी गई कि २६ जनवरी, ६५ ई० के पश्चात् भी अंग्रेजी राज-काज की भाषा बनी रहेगी। १९६७ ई० मे इसे संशोधित किया गया और कहा गया कि हिन्दी ही संघ की राज-भाषा होगी किन्तु अंग्रेजी के प्रयोग की छूट तब तक बनी रहेगी, जब तक हिन्दी को राज-भाषा के रूप में न अपनाने वाले सभी राज्यों के विधान-मडल अंग्रेजी का प्रयोग समाप्त करने के लिये संकल्प न पारित करें। स्पष्ट है कि विधेयक के अनुसार अंग्रेजी का प्रयोग अनंतकाल तक किया जा सकेगा, किसी निश्चित अवधि का उल्लेख वहाँ नहीं है। यदि एक भी राज्य हिन्दी का प्रयोग न चाहे तब भी हिन्दी राज-काज की अनिवार्य भाषा नही हो सकेगी। दूसरी कठिनाई हिन्दी के विकास से सम्बन्धित है। कहा जाता है कि अभी हिन्दी अन्तरराष्ट्रीय ज्ञान की खिड़की' अंग्रेजी का स्थान लेने में समर्थ नहीं है। उसमें ज्ञान-विज्ञान व तकनीकी शब्दावली का अभाव है। तीसरी कठिनाई अहिन्दी राज्यों के हिन्दी-विरोध से सम्बन्धित है, जो हिन्दी के पदासीन होने पर हिन्दी साम्राज्यवाद का खतरा देखते हैं और अपने हितों को असुरक्षित समझते हैं। वस्तुतः इनमें से कुछ ने हिन्दी-विरोध को अपना एक राजनीतिक अस्त्र बना लिया है।

४. समस्याओं के समाधान के लिए किए गए प्रयत्न :

पहले बाद की दोनों कठिनाइयों पर विचार किया जाये। जहाँ तक हिन्दी में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली तथा अन्य प्रकार के शब्द-दारिद्रय का प्रश्न है, उसे दूर करने के लिये अब तक काफी कार्य किया जा चुका है। केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के अन्तर्गतगठित 'वैज्ञानिक तथा तकनीकि शब्दावली आयोग' के प्रयत्नों से विज्ञान, मानविकी समाज-विज्ञान, आयुर्विज्ञान, कृषि आदि के सभी विषयों और इंजीनियरी के प्रमुख तीन विषयों – सिविल, यांत्रिकी और विद्युत इंजीनियरी में स्नातक स्तर की और कुछ विषयों में स्नातकोत्तर की शब्दावलियाँ प्रकाशित कर दी गई हैं, जिनमें लगभग चार लाख से ऊपर शब्द हैं। इसके अतिरिक्त प्रशासन, डाक-तार, रेल, रक्षा तथा अन्य विभागों से सम्बन्धित शब्दावलियाँ भी प्रकाशित की जा चुकी हैं, जिनमें लगभग पचास हजार शब्द होंगे। हिन्दी की बढती शब्द-सम्पदा का अनुमान केवल एक इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा १९७५ ई० में प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' कोष में शब्दों

की संख्या ढाई लाख से अधिक हो गई है, जबकि इससे पूर्व के संस्करण में यह संख्या अट्ठानवें हजार थी। अनेक द्विभाषी (जैसे हिन्दी-तमिल, तमिल-हिन्दी) एवं त्रिभाषी (हिन्दी-बंगला-अंग्रेजी, बंगला-हिन्दी-अंग्रेजी) कोषों की रचना भी इस दारिद्रय को ही दूर करने का प्रयत्न है। किन्तु इस सबसे यह समझ लेना ठीक न होगा कि इस सम्बन्ध में जो कुछ किया जा चुका है, वह पर्याप्त है कि अब हमें कुछ करना ही नहीं है। यह भविष्य के लिये केवल एक दिशा मात्र है और विश्वास दिलाता है कि विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी का प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। अब अहिन्दी भाषियों के विरोध को लें। तमिलनाडु जैसे राज्यों में हिन्दी का विरोध देखने को मिलता है, यदि उसकी तह में जाया जाये तो स्पष्ट होगा कि यह विरोध वास्तविक कम, कृत्रिम एवं राजनीतिक ज्यादा है। यदि ऐसे लोगों को यह विश्वास दिला दिया जाय कि हिन्दी-प्रयोग से उनके मूल हितों पर कोई आघात नहीं पहुँचेगा, कि अखिल भारतीय सेवाओं में हिन्दी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषायें भी माध्यम होंगी, कि हिन्दी केवल सम्पर्क-भाषा का कार्य करेगी, अहिन्दी भाषियों के लिये सरकार की ओर से हिन्दी सीखने, सिखाने की समुचित व्यवस्था होगी और अंग्रेजी के प्रयोग की छूट एक निश्चित अवधि तक ही दी जा सकेगी, तो आशा की जाती है कि यह विरोध भी स्वतः समाप्त हो जायेगा। इन कठिनाइयों के निराकरण का प्रश्न पहली संवैधानिक कठिनाई से भी जुडा है। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहना चाहेंगे कि एक तो सरकार द्वारा अग्रेजी प्रयोग की छूट की अवधि निश्चित की जानी चाहिये, दूसरे, यदि राज्यों का बहुमत हिन्दी को स्वीकार कर लेता है तो सम्पूर्ण देश के लिये हिन्दी-प्रयोग को अनिवार्य कर दिया जाना चाहिये। ऐसा करने के लिये सरकार के दृढ़-सकल्प की आवश्यकता होगी।

हिन्दी के विकास से सम्बन्धित कुछ और भी प्रयास हुए हैं। सरकार के एक सचिव के अधीन स्थापित "राज-भाषा विभाग" के गठन से हिन्दी के हितों की सुरक्षा की आशा बलवती हुई है। अब तक लगभग तीन लाख कर्मचारी हिन्दी में कार्य करने के लिये प्रशिक्षित किये जा चुके हैं। हिन्दी टंकण-यन्त्र के कुंजी पटल का मानकीकरण कर दिया गया है। कुछ केन्द्रीय विभागों एवं मन्त्रालयों ने हिन्दी-प्रयोग में रुचि ली है। बैंकों में भी हिन्दी का प्रयोग होने लगा है। यत्र-तत्र न्याय भी हिन्दी-भाषा में मिलने लगा है। देश-विदेश के अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद की योजना भी बड़े पैमाने पर बनाई जा रही हैं। विदेशों में हिन्दी प्रचार-प्रसार के लिये भी सरकार का ध्यान गया है। सरकार ने विदेशी विद्वानों को आमन्त्रित करने, हिन्दी अध्ययन-अध्यापन के लिये छात्रवृत्ति देने, हिन्दी प्रकाशनों को सहायता देने तथा हिन्दी-अधिकारियों की नियुक्ति करने आदि की अनेक योजनायें हाथ में ली हैं। प्रतिवर्ष विश्व के पुस्तकालयों को लगभग १ लाख रुपये के मूल्य के हिन्दी ग्रन्थ भेंट किये जाते हैं। मारीशस को एक प्रेस भी भेंट किया गया है। इस समय संसार के लगभग ९५ विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग कार्यशील हैं। रूस, इंगलैंड, जर्मन

जनवादी गणतंत्र, यूगोस्लाविया, रूमानिया, मैक्सिको आदि अनेक देशों में हिन्दी के विशिष्ट साहित्यकारों की विशिष्ट कृतियों का अनुवाद किया जा रहा है।

५. अन्तरराष्ट्रीय भाषा बनाने की ओर उठे कदम :

हिन्दी को अन्तरराष्ट्रीय राष्ट्र-भाषा बनाने की ओर भी कदम उठ चुके हैं। इस दृष्टि से हिन्दी के दो विश्व-सम्मेलनों का आयोजन किया जा चुका है। प्रथम हिन्दी विश्व-सम्मेलन जनवरी, ७५ में इसी देश की भूमि नागपुर में श्री अनंत गोपाल शेवड़े के संयोजन में आयोजित किया गया तो दूसरा भारत की धरती से लगभग तीन हजार मील दूर हिन्द महासागर में स्थित, १२ मार्च, १९६८ को ही ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्र हुए मॉरिशस में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का विशिष्ट महत्त्व जहाँ इस कारण था कि यह भारत से पृथक् देश में आयोजित हुआ, वहीं इसका महत्व और भी बढ़ गया है कि इसमें २५ देशों से आए हुए ४०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इससे विदेशों में बढ़ती हिन्दी की लोकप्रियता का आभास होता है। इस सम्मेलन में भारत से सम्मिलित होने वाले आचार्य ह० प्र० द्विवेदी, डॉ० शिवमंगलसिंह सुमन, शंकर दयाल सिंह, श्री अनन्त गोपाल शेवड़े, केरल के प्रसिद्ध हिन्दी विद्वान् मलिक मौहम्मद, साहित्यकार विष्णु प्रभाकर, राम काव्य के विद्वान् फादर कामिल बुल्के, श्री चन्दूलाल चन्द्राकार और धर्मयुग के यशस्वी सम्पादक डॉ० धर्मवीर भारती आदि विद्वानों के प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व तत्कालीन केन्द्रीय मन्त्री डॉ० कर्णसिंह ने किया था। मॉरिशस के क्रीड़ा मन्त्री श्री दयानन्द लाल वसन्तराय के संयोजन में हुए इस सम्मेलन में देश-विदेश के सभी विद्वानों ने एक स्वर से हिन्दी को राष्ट्रसंघ की भाषा घोषित किए जाने की आवश्यकता पर बल देते हुए विश्व में एकता स्थापित करने की हिन्दी की सामर्थ्य का प्रतिपादन किया। वस्तुतः हिन्दी को राष्ट्र संघ की काम-काज की भाषा घोषित न करना इस बात का द्योतक है कि राष्ट्रसंघ में भाषाओं की स्वीकृति किसी भाषा के बोलने वालों की संख्या और उसकी सामर्थ्य पर आधारित न होकर, राजनीति पर आधृत है। इस समय राष्ट्र-संघ में जिन छः भाषाओं को काम-काज की भाषा के रूप में स्वीकृति प्राप्त है; उनमें पहली चीनी भाषा, जिस बोलने वालों की संख्या ६० करोड़ बतायी जाती है, दूसरी ३२ करोड़ लोगों की भाषा अंग्रेजी, तीसरी साढ़े उनतीस करोड़ लोगों की भाषा रूसी, चौथी १८ करोड़ जनों की भाषा स्पेनिश, पाँचवीं १० करोड़ लोगों की भाषा फ्रांसीसी है। संयुक्त राष्ट्र-सघ ने अब अरबी भाषा को भी छठी भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की है। जिसके बोलने वालों की संख्या १० करोड़ बतलाई गई है। ऐसी स्थिति में आश्चर्य का विषय है कि लगभग ३६ करोड़ भारतीय एवं ६ करोड़ विदेशियों की भाषा हिन्दी को राष्ट्र-संघ की भाषा के रूप में अभी मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी है। जनता सरकार के विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने पिछले दिनों राष्ट्र-संघ में पहली बार हिन्दी में भाषण देकर इस निराशा को तोड़ने का सत्साहस अवश्य किया है। इससे आशा बँधी है कि शीघ्र ही राष्ट्र-संघ हिन्दी को मान्यता दे सकेगा।

६. उपसंहार :

यह सब कुछ प्रसन्नता का विषय अवश्य है किन्तु सन्तोष का नहीं। अभी हिन्दी को ऐसे कर्मठ, निस्वार्थ एवं सन्तुलित विवेक वाले कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है जो न केवल श्रम में एवं निष्ठा से आयुर्विज्ञान, कानून आदि तथा इसी प्रकार के अन्य तकनीकी विषयों में मौलिक एवं अनूदित साहित्य-रचना से हिन्दी की श्री-वृद्धि करें वरन् अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी को आत्मीय बना सकने में समर्थ हो सकें। यदि ऐसा हुआ तो शीघ्र ही हिन्दी भी रूसी, जापानी एवं चीनी आदि भाषाओं की भाँति विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन एवं विकास की भाषा होगी, सभी राज्य विरोध को भूलकर अपनी राष्ट्र-भाषा के प्रयोग से गौरवान्वित होंगे और देश मानसिक गुलामी तथा आत्महीनता की भावना से उभर कर जनतान्त्रिक जीवन-मूल्यों के प्रति आस्थावान एवं सचेष्ट होगा। विश्वास है, हिन्दी के प्रति राजनीतिक उदासीनता शीघ्र ही समाप्त होगी और हिन्दी एक सम्पर्क भाषा के रूप में विकसित होकर व्यावहारिक रूप में भारत की राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण करेगी। अभी तो हिन्दी भारत में ही पूर्ण रूपेण राष्ट्र-भाषा के रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है, वह अपने घर में ही प्रवासिनी बनी हुई है। हमें फादर कामिल बुल्के के इन विचारों को नहीं भूलना चाहिये, जो उन्होंने 'द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन' के अवसर पर मॉरिशस में अभिव्यक्त किए थे—"द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह होगी कि मारिशस के हिन्दी भाषी नागरिकों से भारत के नागरिक प्रेरणा लेंगे और भारत में हिन्दी को पूर्ण रूप के प्रतिष्ठित करेंगे। ऐसा हो जाने पर ही हिन्दी को विश्व-भाषा का गौरव प्राप्त होगा।" इस सम्बन्ध में वर्तमान विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी की निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं, जो उन्होंने अपने कैंदी जीवन के समय में लिखी थीं—

"बनने चली विश्व-भाषा जो, अपने घर में दासी।
सिंहासन पर अंगरेजी को, लखकर दुनिया हाँसी॥
लखकर दुनिया हाँसी, हिन्दी वाले हैं चपरासी।
अफसर सारे अंगरेजीमय, अवधी हों मद्रासी।
कह कैंदी कविराय, विश्व की चिंता छोड़ो।
पहले घर में अंगरेजी के गढ़ को तोड़ो॥"

(धर्मयुग, १७ अप्रैल, ७७)

वस्तुतः हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि हिन्दी का विरोध किसी भारतीय भाषा से नहीं है, उसका विरोध केवल अंग्रेजी से है। वह भी अंग्रेजी के पठन-पाठन से नहीं, बल्कि हिन्दी के स्थान पर उसके प्रयोग से। जहाँ दक्षिण के कुछ लोगों को, जो समय-समय पर हिन्दी का विरोध केवल एक राजनैतिक अस्त्र के रूप में करते रहते हैं, भारतीय भाषाओं और राष्ट्र के व्यापक हित में अपने संकीर्ण स्वार्थों को छोड़ना होगा, वहीं उत्तर भारत के हिन्दी भाषा-भाषियों को भी हिन्दी के लिये शोर मचाने की बजाय उसके विकास एवं प्रयोग के लिये निष्ठापूर्वक कार्य करना होगा।

३२ भारतीय फिल्म–जगत

१. फिल्मों का व्यापक प्रभाव :

आज भारतीय जन-जीवन पर सिनेमा का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। यों तो आज यह बाल-वृद्ध एवं युवा-वर्ग सभी के मनोरंजन का प्रमुख साधन बना हुआ है किन्तु किशोर एव युवा वर्ग पर तो यह पूरी तरह छा गया है। फिल्म की कहानी से लेकर उसका सगीत, उसकी अभिनेयता, उसकी फोटोग्राफी एवं संवाद-मयता आदि सभी तत्वों पर ये युवक-युवतियाँ चर्चा करते देखे जा सकते हैं। विद्यालय-विश्वविद्यालय आदि का परिसर हो अथवा काफी हाउस, घर हो अथवा बस स्टैन्ड, पान की दूकान हो अथवा सड़क कोई भी स्थान इस चर्चा से अछूता नहीं मिलेगा। और तो और अब तो गांवों के लोगों में भी सिनेमा लोकप्रिय होता जा रहा है। जब से टेलीविजन आया है, तब से तो बिना सिनेमा घर जाये भी सप्ताह में कम से कम दो या तीन फिल्में घर बैठे देखी जा सकती हैं। रेडियो एवं ट्रांजिस्टर से फिल्मी गीत एवं फिल्मी कहानियाँ जितनी मात्रा में सुनी जाती हैं, उतनी मात्रा में उनसे प्रसारित होने वाले अन्य कार्यक्रम नहीं। किशोरों में तो फिल्मों के प्रति इतना भारी आकर्षण पाया जाता है कि वे फिल्म देखने के बाद न केवल हीरो अथवा हिरोइन का अभिनय करते हैं. न केवल उन जैसी वेश-भूषा धारण करते हैं, बल्कि उन जैसा बनने के लिए बम्बई, मद्रास अथवा कलकत्ता आदि के लिये कूच भी कर जाते हैं। कभी-कभी वे फिल्मी प्रेमी, प्रेमिका, डाकू अथवा राजा-महाराजा के अनुकरण पर अपने वास्तविक जीवन में प्रेमी, डाकू अथवा राजा बनने का प्रयत्न करते देखे जाते हैं। कहने का आशय यह है कि आज के भारतीय जीवन को जितना फिल्मों ने प्रभावित किया है, उतना अन्य किसी कला ने नहीं किया।

२. भारतीय फिल्म : विकास की कहानी :

भारतीय फिल्मों के विकास की कहानी भी बड़ी रोचक है। मूक लघु चित्रों से शुरू होकर कहानी चित्रों के रूप में विकसित होते हुए किस प्रकार बोलती फिल्में बनी और आज कैसे धड़ाधड़ रंगीन फिलमें बन रही हैं, यह जानने के लिये इसके इतिहास की किंचित् जानकारी उपयोगी रहेगी। भारतीय फिल्म जगत का इतिहास लगभग ८२ वर्ष का इतिहास है। पेरिस में लूमियेर बन्धुओं द्वारा सिनेमा के अन्वेषण के कुछ सप्ताहों के भीतर ही भारत में सिनेमा का पदार्पण हो गया था और ७ जुलाई, १८९६ को बम्बई में इन्हीं लूमियेर बन्धुओं के करीब आधे दर्जन लघु चित्रों

प्रदर्शित हुए थे। १८९७ में भारत में प्रथम लघु फिल्म बनी थी, जिसका नाम था 'कोकोनट फेयर'। फिल्में बनाने वाले पहले भारतीय सम्भवतः दादा साहेब साबे थे। हीरालाल सेन ने भी १९०१ में कलकत्ता में नाटकों के मंचन का फिल्मीकरण करके फिल्म-निर्माण की पहल में अपना स्थान बनाया था। भारत में कहानी वाली प्रथम फिल्म पुंडलिक थी, जिसे दादा साहेब तारने ने बनाया था। उसके बाद प्रथम पूरी फिल्म (फीचर फिल्म) दादा साहेब फालके ने 'राजा हरिश्चन्द्र' के नाम से बनाई, जिसे मई १९१३ में सार्वजनिक प्रदर्शन के लिये जारी किया गया। इस फिल्म की प्रेरणा फालके साहब को 'लाइफ ऑफ क्राइस्ट' फिल्म देखकर मिली। 'राजा हरिश्चन्द्र' फिल्म का आधार पौराणिक था। उसके बाद पौराणिक फिल्मों का प्रचलन बढ़ता गया। बाबूराव पेंटर ने पौराणिक फिल्मों में कलात्मक सेट और साज-सज्जा चलायी तथा कुछ सामाजिक एवं ऐतिहासिक फिल्मों का निर्माण किया। पहली सामाजिक फिल्म बनाने का श्रेय धीरेन गांगुली को है, जिन्होंने १९२१ में 'इंगलेंड रिटर्न्ड' फिल्म का निर्माण कर सामाजिक फिल्मों का मार्ग प्रशस्त किया। बाबूराव पेंटर की 'सिंहगढ़ विजय' का ऐतिहासिक फिल्म-निर्माण के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्व है। फिर भी मूक चलचित्रों के इस युग में पौराणिक फिल्मों की ही प्रधानता रही, सामाजिक एवं ऐतिहासिक फिल्में कम ही बनायी जाती थी। १९३१ में आर्देशर एम० ईरानी की फिल्म 'आलम आरा' ने भारत में पहली बार बोलती फिल्मों का श्री गणेश किया। इस समय भी पौराणिक एवं काल्पनिक फिल्मों का ही बोल बाला रहा। १९३३ में शान्ताराम ने देश की प्रथम रंगीन फिल्म 'सैरंध्रो' का निर्माण किया।

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक को सामाजिक फिल्मों का दशक कहा जा सकता है। इस काल में भारतीय समाज में व्याप्त अनेक कुप्रथाओं और अंधविश्वासों पर फिल्मों के माध्यम से चोट की गई। महिलाओं तथा समाज के कमजोर वर्ग की पीड़ाओं को फिल्मों में स्थान मिला। इस दृष्टि से बम्बई टाकीज, न्यू थियेटर और प्रभात ने महत्वपूर्ण कार्य किया। इस काल की महत्वपूर्ण फिल्मों में उल्लेखनीय हैं— विनायक की 'छाया', 'धर्मवीर' और 'ब्रह्मचारी'; शान्ताराम की 'धर्मात्मा', 'दुनिया न माने' और 'आदमी और पडोसी'; महबूब की 'एक रास्ता' और 'औरत' तथा हिमांशु राय की 'अछूत कन्या' आदि। इनमें शांताराम ने 'धर्मात्मा' में सर्वप्रथम हरिजन समस्या को समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया। हिमांशु राय की 'अछूत कन्या' की नायिका देविका रानी को तो पं० जवाहर लाल नेहरू से प्रशंसा-पत्र पाने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। न्यू थियेटर्स ने शरत बाबू की 'देवदास', 'गृहदाह' एवं 'बड़ी दीदी' आदि कृतियों पर फिल्में बनायी। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद भारतीय फिल्म जगत में भी एक मोड़ आया। देश को साम्प्रदायिक दंगों, विभाजन और शरणार्थियों के आवागमन जैसी समस्याओं से टकराना पड़ा। फलस्वरूप के० ए० अब्बास की धरती के फूल' उदयशंकर की 'कल्पना' और चेतन आनन्द की 'नीचा नगर' जैसी कलात्मक फिल्में

प्रकाश में आयीं। छठे दशक में भारतीय फिल्मों का झुकाव यथार्थवाद की ओर हुआ। इन यथार्थवादी फिल्मों में विमलराय की 'दो बीघा जमीन', राजकपूर की 'बूट पालिस' और 'जागते रहो', सत्यजितराय की 'पांथेर पांचाली' और वी० शान्ताराम की 'दो आँखें बारह हाथ' ने अन्तरराष्ट्रीय फिल्म समारोहों में पुरस्कार जीते। इनमें से भी सत्यजित राय की 'पांथेर पांचाली' फिल्म को विश्वभर में मान्यता मिली और यह प्रथम भारतीय फिल्म थी जो न्यूयार्क के आर्ट थियेटर में में छह माह चली। आगे अनेक अच्छी उद्देश्य पूर्ण फिल्मों का निर्माण हुआ, जिसमें वी० आर० चोपड़ा की 'कानून', गुरुदत्त की 'प्यासा' और 'साहिब बीवी और गुलाम', राजकपूर की 'आवारा' तथा 'जिस देश में गंगा बहती है' आदि उल्लेखनीय हैं। विमलराय ने 'देवदास' फिल्म पुनः बनायी। इनकी 'वन्दिनी', 'मधुमती' एवं 'सुजाता' को काफी लोकप्रियता मिली। ऋषिकेश मुखर्जी की 'मुसाफिर', 'अनाड़ी' एवं 'अनुराधा' को भी काफी प्रशंसा मिली। 'अनुराधा' को राष्ट्रीय मान्यता भी प्राप्त हुई। अब तो व्यावसायिक सफलता के लिए भारत में रंगीन फिल्मों का जबर्दस्त दौर चल रहा है, जिनमें प्रायः संगीतमय प्रणय गाथा प्रदर्शित की जाती है। इनके अतिरिक्त समान्तर सिनेमा के प्रवेश ने साहित्यिक एवं कलात्मक मूल्यों के विकास में विशेष योगदान मिला है। मृणाल सेन की 'भुवन शोम' ने समान्तर फिल्मों का मार्ग प्रशस्त किया। कुछ उल्लेखनीय अन्य फिल्में हैं—मणि कौल की 'आषाढ़ का एक दिन' राजेन्द्र सिंह बेदी की 'माया दर्पण', बासु चटर्जी की 'सारा आकाश' एवं एम० एस० साथ्यू की 'गरम हवा' आदि। श्याम बेनेगल की 'अंकुर' तथा 'निशांत' भी काफी चर्चित रहीं। अब कुछ कम लागत पर अच्छी फिल्मों का भी निर्माण हो रहा है। ऋषिकेश मुखर्जी और गुलजार ने 'आनन्द', 'नमक हराम', 'अचानक' एवं 'मौसम' आदि कुछ महत्त्वपूर्ण फिल्में प्रदर्शित की हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि भारतीय 'फिल्म-जगत' का इतिहास अनेक जोखिम भरे नये प्रयोगों का इतिहास है। भारतीय फिल्म जगत ने केवल अपने इस ८२ वर्ष के इतिहास में काफी प्रगति की है। फिल्म-निर्माण और संख्या की दृष्टि से तो अमेरिका और जापान का स्थान भी भारत के बाद आता है। इस समय भारत में सबसे अधिक फिल्में बन रही हैं, जिनकी संख्या १५००० से ऊपर पहुँच चुकी है। आज यह भारत के बड़े उद्योगों में से एक है।

३. फिल्म विकास के लिये किये गये प्रयत्न :

भारत सरकार की ओर से फिल्म विकास के लिये अनेक प्रयत्न किये जाते रहे हैं, जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

भारतीय फिल्म संस्थान की स्थापना—बहुत दिनों तक भारत में ऐसा कोई प्रशिक्षण केन्द्र नहीं रहा, जहाँ फिल्म-निर्माण कला और तकनीक सम्बन्धी व्यावसायिक प्रशिक्षण की सुविधा उपलब्ध की जा सके। १९६१ में पूना में 'फिल्म इन्स्टीट्यूट' की स्थापना कर इस अभाव की पूर्ति की गयी। १९७१ में 'टेलीविजन ट्रेनिंग सेंटर'

के गठन से संस्थान का नया नाम 'फिल्म एण्ड टेलीविजन ट्रेनिंग सेंटर' रख दिया गया। प्रारम्भ में सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के एक विभाग के तौर पर कायम इस संस्थान को अक्टूबर ७४ में एक स्वात्तशासी सोसायटी में बदल दिया गया। गत वर्षों में संस्थान ने फिल्म क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये हैं। संस्थान अब निदेशन, पटकथा-लेखन, छायांकन, साउंड रिकार्डिंग, संपादन तथा फिल्म अभिनय आदि के विभिन्न पाठ्यक्रमों में प्रशिक्षण देता है। संस्थान से निकले अनेक विद्यार्थी आज फिल्म जगत में प्रसिद्धि पा चुके हैं।

'दी चिल्ड्रन फिल्म सोसायटी' की स्थापना—स्व० नेहरू जी के प्रयास से सन् १९५५ में 'दी चिल्ड्रन फिल्म सोसायटी' की स्थापना से भारतीय फिल्म जगत की एक बड़ी कमी पूरी हुई। फिल्में केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं हैं वे अनौपचारिक शिक्षा का भी सशक्त माध्यम हो सकती हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही सोसायटी ने बच्चों के लिये अनेक शिक्षा, निर्देश एवं प्रेरक फिल्मों का निर्माण किया। अब तक सोसायटी स्वयं तथा सुविख्यात फिल्म निर्माताओं के द्वारा ९० से अधिक फिल्में बाल-जगत के लिए दे चुकी है। इसके संग्रह में अन्य स्रोतों से प्राप्त लगभग ५० फिल्में और हैं। इसकी कुछ फिल्मों ने देश तथा विदेशों में पुरस्कार प्राप्त किये हैं। सोसायटी प्रतिवर्ष बच्चों की फिल्मों में समारोह का भी आयोजन करती है। यह अपने पुस्तकालय से साल भर भारत के शैक्षणिक तथा अन्य संस्थानों को फिल्म देती रहती है। फिल्म-निर्माण के समय न केवल बच्चों की रूचि को ध्यान में रखा जाता है, बकि उनके सर्वांगीण विकास पर भी ध्यान दिया जाता है। आशा की जाती है कि यह सोसायटी भविष्य में बच्चों के लिये और अधिक उपयोगी फिल्म दे सकेगी।

अन्तरराष्ट्रीय फिल्म समारोह का आयोजन—फिल्मों के विकास में अन्तरराष्ट्रीय फिल्म समारोह की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। इन समारोहों के माध्यम से जहाँ दुनिया के फिल्म निर्माता अपनी फिल्म कला की विशिष्टता और उत्कृष्टता के प्रदर्शन का मच प्राप्त करते हैं, जिससे भारतीय फिल्म निर्माताओं और दर्शकों को भी विश्व सिनेमा की उत्कृष्ट टैक्नोलॉजी एवं कृतियों को निरखने-परखने तथा उसी परिप्रेक्ष्य में अपनी उपलब्धियों को आँकने का अवसर प्राप्त होता है, वहीं इनसे अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में सौहार्द एवं मेल-मिलाप को भी बढ़ावा मिलता है। इसी दृष्टि से भारत अब तक छः अन्तरराष्ट्रीय फिल्म समारोहों का आयोजन कर चुका है। उसने पहला फिल्म समारोह १९५२ में आयोजित किया था और उसके बाद १९६१, ६७, ६९, ७४ एवं ७६ में विभिन्न समारोह आयोजित किए।

इन प्रयत्नों के अतिरिक्त भारतीय फिल्म विकास के लिये कुछ अन्य प्रयत्न भी हुये हैं। जैसे—'भारतीय फिल्म वित्त निगम' की स्थापना। निगम ने फिल्म क्षेत्रों की वित्तीय सहायता उपलब्ध कर कलात्मक फिल्मों के निर्माण को प्रोत्साहन

दिया है। सेंसरशिप को भी अपेक्षाकृत उदार बनाया जा रहा है। चुम्बन की भी छूट दी जा रही है, यदि वह फिल्म-कथा का आवश्यक अंग हो।

४. फिल्म-विकास में बाधायें :

इतना सब कुछ होते हुए भी भारतीय फ़िल्मों के विकास में अभी अनेक बाधायें हैं। फिल्म के अत्यधिक व्यावसायीकरण ने फिल्मों के कलात्मक स्तर को खतरा उत्पन्न कर दिया है। निर्माता का ध्यान बॉक्स आफिस फिल्म बनाने की ओर अधिक रहता है, कलात्मक सुरूचि उत्पन्न करने की ओर कम। अतः फिल्मों में फार्मूला-बद्धता की प्रवृत्ति पनप रही है। सेक्स, मारधाड़, एवं अनावश्यक उछलकूद को बढ़ावा मिल रहा है। कारण स्पष्ट है कि दर्शकों की माँग इसी प्रकार की है। वस्तुतः अभी भारतीय दर्शक की रुचि भी इतनी परिष्कृत नहीं हो पाई है कि वह कलात्मक फिल्मों की सराहना कर सके। जो निर्माता कभी-कभी कोई कलात्मक फिल्म बना भी लेते हैं, वे घाटे में रह जाते हैं। यही कारण है कि भारतीय फिल्मों में यथार्थ के दर्शन कम ही और कभी-कभी ही होते हैं। अधिकांश फिल्में वास्तविक जीवन से काफी दूर होती हैं। अभी भारत में अन्य कुछ देशों की भाँति सिनेमा स्कोप, सिनेड्रामा एवं विस्टाविजन की तकनीकें विकसित नहीं हो पाई हैं। अतः फिल्मों का स्तर भी वांछित ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाया है। यद्यपि १९६५ के बाद से भारत में सिनेमा घरों की संख्या में वृद्धि हुई है, फिर भी जनसंख्या के अनुपात में यह संख्या काफी कम है। भारतीय फिल्म-जगत की एक बड़ी बाधा भाषा से सम्बन्धित है। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली एवं जापान आदि देशों में केवल एक ही भाषा में फिल्में बनती हैं, जबकि भारत में विभिन्न भाषाओं में। फिल्म उद्योग को इन विभिन्न भाषा-भाषियों की विभिन्न रूचियों का ध्यान रखना पड़ता है। जहाँ इन क्षेत्रीय स्तर की फिल्मों के निर्माण से फिल्मों में विविधता बनी रहती है, वहीं इनके प्रभाव-क्षेत्र के कम हो जाने के कारण निर्माताओं को काफी घाटा उठाना पड़ता है। इनके अतिरिक्त फिल्म के निर्देशन एवं प्रयोजन से सम्बन्धित सरकार की किसी निश्चित नीति का अभाव, सरकारी अधिकारियों एवं मन्त्रियों का इस उद्योग के प्रति दुराग्रह और निर्माताओं के पास वांछित पूँजी का अभाव किन्तु फिल्मों में अत्यधिक ग्लेमर से युक्त भारी एवं कीमती सेटों के निर्माण की उनकी इच्छा आदि भी भारतीय फिल्मों के सम्यक् विकास में बाधक सिद्ध हो रही है।

५. निष्कर्ष :

वस्तुतः सिनेमा टैक्नोलॉजी एवं मानव-कल्पना की अभूत-पूर्व देन है। यह संगीत, छायांकन, अभिनय एवं साहित्य आदि विविध कलाओं का समुच्चय ही नहीं, अपितु एक स्वतन्त्र कला भी है। यह न केवल अब मनोरंजन का साधन रह गया है, बल्कि जन-सम्पर्क और सृजन का भी अपूर्व माध्यम बन गया है। दुर्भाग्य से अभी हमारे देश ने सिनेमा की इस क्षमता को पहचाना नहीं है। भारतीय फिल्म निर्माताओं को चाहिये कि वे ऐसी फिल्मों का निर्माण करें, जिससे भारतीय जन-मानस का

स्वस्थ विकास हो सके। उन्हें अतिरंजना की प्रवृत्ति को तिलांजलि देकर फिल्मों को जीवन के अधिक से अधिक से निकट लाने का प्रयास करना चाहिये। फिल्मों में समसामयिक जीवन की समस्याओं, पीड़ाओं और संघर्षों को जितनी स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया जायेगा, दर्शक सिनेमा के प्रति उतना ही अधिक आकृष्ट होगा। साथ ही दर्शक की रुचि का भी परिष्कार होगा। बड़ी-बड़ी पूंजी वाली फिल्मी की अपेक्षा थोड़ी पूँजी से बनने वाली कलात्मक तथा प्रेरणादायक फिल्मों को अधिक प्रोत्साहन देना चाहिये। विदेशों में दिखाई जाने वाली फिल्मों में भारत की सही तस्वीर पेश की जानी चाहिये। जहाँ तक हो सके, नयी प्रतिभाओं को उनके विकास के लिये अधिक से अधिक अवसर दिया जाना चाहिये। कला की दृष्टि से किसी अन्य देश की फिल्मों से कुछ ग्रहण करना गलत नहीं है, किन्तु ऐसा अंधानुकरण नहीं होना चाहिये, जिसमें भारतीयता बिल्कुल गायब हो जाय। आज जबकि देश में सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में एक जबर्दस्त जनक्रांति की आवश्यकता महसूस की जा रही है, अनेक सामाजिक एवं आर्थिक मूल्यों में परिवर्तन हो रहा है, भारतीय फिल्में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं, किन्तु इसके लिये फिल्म निर्माताओं को अपनी व्यावसायिक दृष्टि में अन्तर करना पड़ेगा।

कतिपय निबंधों की विस्तृत रूप-रेखा

३३ भारत में पर्यटन उद्योग

१. पर्यटन विश्व का सबसे विकसित होता हुआ उद्योग :

पर्यटन आज विश्व का सबसे तेजी से विकसित होता हुआ उद्योग बन गया है। यों तो दूसरे देशों को देखने एवं उनकी सैर करने की मनुष्य की इच्छा प्राचीन काल से रही है किन्तु आधुनिक काल में आवागमन और संचार के साधनों ने दुनिया के विभिन्न देशों की दूरी को बहुत कम कर दिया है। जहाँ देशों को इस उद्योग से प्रचुर विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है, वहीं एक दूसरे देश की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक निधि की भी जानकारी होती है, जिससे विश्व-मैत्री में सहायता मिलती है। ऐसा लगता है, अब पर्यटन का स्वर्ण युग आ पहुँचा है। विश्व के सभी देश पर्यटन के विकास के लिये अत्यधिक उत्सुक दिखाई पड़ते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार १९७६ में विश्व में २१ करोड़ ९० लाख पर्यटक एक देश से दूसरे में गये।

२. पर्यटन : भारत के लिये बढ़ता आकर्षण :

भारत में विदेशी मुद्रा कमाने वाले संसाधनों में आज पर्यटन का छठा स्थान है। पर्यटन के प्रति भारत निरन्तर आकृष्ट हो रहा है। १९५१ में जहाँ भारत में विदेशी पर्यटकों की संख्या कुल १७ हजार थी, १९७२ में तीन लाख ४२ हजार नौ सौ पचास तक पहुँची, वहीं १९७६ में यह ५ लाख ३३ हजार ९५९ तक पहुँच गई। १९७७ में इसमें और भी वृद्धि हुई, उसके पहले ग्यारह महीनों में ही पर्यटकों की संख्या ५,६९,१७१ तक पहुँच गई और ७८ के पहले सात महीनों में यह संख्या तीन लाख ९४ हजार ६९४ थी, जो पिछले वर्ष की इसी अवधि की तुलना में १७ प्रतिशत अधिक थी। १९७६ में अर्जित पर्यटन राजस्व राशि २२५ करोड़ रुपये तथा ७७ में यह २८३ करोड़ तक पहुँच गई। १९८० तक पर्यटकों की संख्या १० लाख तक पहुँचा देने की योजना है।

३. भारत में पर्यटन की सम्भावनायें :

भारत में पर्यटन की अनन्त सम्भावनायें हैं। भारत सांस्कृतिक पर्यटन के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ ऐतिहासिक, धार्मिक एवं प्राकृतिक स्थलों की प्रचुरता है। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और राजस्थान, गुजरात से लेकर असम तक सैकड़ों

रमणीक एवं महत्त्वपूर्ण स्थल विद्यमान हैं। उदाहरण के लिये—आन्ध्र में हैदराबाद में गोलकुंडा का किला, चारमिनार; बिहार में नालन्दा वि० वि० के अवशेष, बोधगया का महाबोधि मन्दिर, गुजरात में द्वारका और सोमनाथ के मन्दिर; काश्मीर तो पर्यटकों का स्वर्ग है ही, मध्य प्रदेश में खजुराहो के मन्दिर, राजस्थान में गुलाबी शहर जयपुर, प्रकृति की गोद में बसा उदयपुर, माउण्ट आबू, देलवाड़े एव राणकपुर के मन्दिर, महाराष्ट्र में अजन्ता और एलोरा की विश्व प्रसिद्ध गुफायें, तमिलनाडु में अनेक प्राचीन मन्दिर और नीलगिरि की पहाड़ियाँ तथा उत्तर प्रदेश में आगरा का ताजमहल, मंसूरी की पहाड़ियाँ, नैनीताल, बद्रीनाथ, ऋषिकेश, हरिद्वार एवं वाराणसी आदि अनेक धार्मिक स्थल आदि-आदि अनेक रमणीक एवं दर्शनीय स्थल विद्यमान हैं।

४. पर्यटन विकास के लिये किये गये प्रयत्न :

भारत सरकार का पर्यटन विभाग उन सब बातों के लिये जागरूक है, जिनसे विदेशी पर्यटकों को आकृष्ट किया जा सके। इसी बात को ध्यान में रखकर उसने लगभग दस वर्ष पूर्व 'भारतीय पर्यटन विकास निगम' की स्थापना की थी, जिसने विदेशों में अनेक क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित किये हैं। उसका जिनेवा स्थित कार्यालय यूरोप में पर्यटन सम्बन्धी प्रचार करता है। निगम के पास २,२०० कमरे हैं, १४ होटल, समुद्री किनारों पर दो पर्यटक स्थल, दो होटल, १५ पर्यटन लॉज, ११ रेस्तराँ, १५ विभिन्न केन्द्रों में २०० पर्यटन कारें तथा बस हैं। चार सीमा शुल्क मुक्त दुकानें तथा तीन स्थलों पर ध्वनि तथा प्रकाश कार्यक्रमों के आयोजन हैं। इसके अतिरिक्त एयर इण्डिया, इण्डियन एयर लाइन्स तथा भारतीय रेलवे अधिकारियों ने भी विदेशी पर्यटकों को सब सुविधायें प्रदान करने के प्रबन्ध किये हैं। ११४ सुगठित यात्रा एजेन्सियाँ भी कार्यरत हैं। प्रशिक्षित गाइड तथा गाइड पुस्तिकाओं का भी प्रबन्ध किया गया है। बड़े पैमाने पर जनता होटल बनाने की भी योजना है। इसके अतिरिक्त भारत 'प्रशान्त क्षेत्रीय यात्रा संगठन' (पाटा) का १९५७ से आंशिक एवं १९६४ से पूर्ण सदस्य है, जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण पर्यटन उद्योग की मिल जुलकर उन्नति करना है।

५. निष्कर्ष : अभी भी पिछड़ा हुआ देश :

इतना सब कुछ होने पर भी भारत पर्यटन उद्योग में अभी भी बहुत पिछड़ा है। उदाहरण के लिये—श्रावस्ती, सारनाथ, कुशीनगर और कौशाम्बी जैसे बौद्ध तीर्थ देखने के लिये जापान, थाइदेश, कोरिया और श्रीलंका जैसे बौद्ध बहुल देशों के पर्यटकों को हम अभी भी आकृष्ट नहीं कर पाये हैं। लंका जैसे छोटे देश में भी जिसका क्षेत्रफल १२ लाख वर्ग मील की तुलना में केवल २५ हजार वर्ग मील है, ७७ में सवा लाख सैलानी पहुँचे थे। अभी भी हमारे तीर्थ स्थलों की पवित्रता गन्दगी, उपेक्षा और भिखारियों के जमघट से दूषित हो रही है। हमारे मकबरे पुरावशेष और स्मारक सदियों से मौसम के थपेड़े खाते हुए कहीं काई और घास से घिरते जा रहे हैं तो कहीं बन्दरों और साँपों के अड्डे बने हुए हैं। हमारे यहाँ के रिक्शा, टैक्सी वाले

तथा दूकानदार विदेशियों से अत्यधिक पैसे वसूल करने से नहीं चूकते। उनकी सुख-सुविधाओं का भी हम पूरा प्रबन्ध नहीं कर पाये हैं। यदि इन सब बातों पर तत्काल दिया जाय तो भारत का यह उद्योग और भी अधिक चमक सकता है।

---

३४ भारत की परमाणु नीति

१. भारत की परमाणु नीति पुनः विचार का केन्द्र :

अमेरिकी राष्ट्रपति श्री जिमी कार्टर की भारत यात्रा के दौरान श्री मोरारजी द्वारा दिये गये इस आश्वासन ने—"जब तक मैं प्रधानमन्त्री हूँ शान्तिपूर्ण कामों के लिये भी विस्फोट नहीं किया जायगा।" भारत की परमाणु नीति को पुनः विचार-विमर्श का केन्द्र बना दिया गया है। प्रधानमन्त्री के इस कथन से देश की बहुत सी जनता और अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक भी सहमत नहीं हैं।

अणु वैज्ञानिक आर० रमण्णा ने तो प्रधान मंत्री के इस विचार से अपनी असहमति सार्वजनिक रूप से प्रकट भी की थी।

२. भारत की अणुशक्ति का विकास और अणु नीति :

१९४८ में अणुशक्ति आयोग की स्थापना हुई, तब से लेकर अब तक भारत की नीति यही रही है कि अणुशक्ति का उपयोग अस्त्र बनाने के लिए नहीं, शान्तिपूर्ण कामों के लिए ही किया जाय। १९५७ में ट्राम्बे में अणुशक्ति संवर्धन केन्द्र स्थापित हुआ, जिसे बाद में भारत के प्रथम महान् अणु वैज्ञानिक भाभा का नाम दिया गया। भारत में अणुशक्ति पर आधारित चार बिजलीघर हैं—अमेरिकी मदद से बना तारापुर बिजलीघर, राजस्थान कोटा में कनाडा की मदद से बना बिजलीघर, पूर्णतः भारतीय इंजीनियरों द्वारा बनाया जाने वाला मद्रास बिजलीघर एवं उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर जिले में नरौरा बिजलीघर—जो पूर्णतः भारतीयों द्वारा बनाया जा रहा है और जिसमें दुनिया की अणुशक्ति की प्रगति का उपयोग किया जायेगा। अणुशक्ति के विकास के लिए आवश्यक भारी पानी के चार कारखाने—बड़ौदा, तूतीकोरन, तालचेर और कोटा में निर्माणाधीन हैं। अणु विकास की चरम उपलब्धि पोखरन के भूमिगत अणु विस्फोट के रूप में दृष्टिगत हुई है।

अणु शक्ति का शान्तिपूर्ण कामों के लिए ही उपयोग हो, यह नीति नेहरु की रही, इन्दिरा गाँधी ने भी इसे स्वीकार किया किन्तु शान्तिपूर्ण कार्यों के लिये भूमिगत विस्फोट भी होने दिया। मोरार जी की नीति भी यही है किन्तु वे शांतिपूर्ण कार्यों के लिए भी अपने प्रधानमत्रित्व काल में अणु-विस्फोट करने के लिए तैयार नही हैं,

किन्तु इनमें से किसी ने भी अणु-अस्त्रों के विस्तार को रोकने के लिए परमाणु बम न बनाने की किसी सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं।

३. अणु-अस्त्र बनाने एवं न बनाने के सम्बन्ध में दिए गए तर्क :

(अ) न बनाने के सम्बन्ध में—

(१) भारत सदैव से एक शान्ति-प्रिय देश रहा है। अणु अस्त्र बनाना उसकी संस्कृति एवं घोषित नीति के विरुद्ध होगा। यह शुद्ध नैतिकता पर आधारित तर्क है।

(२) भारत एक गरीब देश है। एक बम बनाने में लगभग २५ लाख रुपये लागत आयेगी और बम तैयार करने का निर्णय करने के बाद दो चार बमों से काम चलेगा नहीं। फिर उन्हें ले जा सकने योग्य यान भी बनाने होंगे। इस पर करोड़ों के खर्च को विकासशील देश भारत की अर्थ व्यवस्था बर्दाश्त नहीं कर सकती और यह सब कुछ कर लेने के बाद भी भारत अणु-शक्तियों की कभी समानता नहीं कर पायेगा।

(आ) बनाने के सम्बन्ध में—

(१) जो राष्ट्र भारत पर अणु-अस्त्र न बनाने के लिए दबाव डाल रहे हैं, वे स्वयं परमाणु बम क्यों बना रहे हैं? यदि उनका परमाणु बम बनाना अनैतिक नहीं है तो भारत का अनैतिक कैसे होगा? क्या १९६८ में 'आणविक अप्रसार सन्धि' पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने धड़ाधड़ अणु-विस्फोट नहीं किये?

(२) देश की सुरक्षा के लिए परम्परागत अस्त्र-शस्त्र तो बनाने होंगे ही। एक टैंक पर ८–१० लाख रुपये का व्यय आता है। तब क्या एक बम दो-तीन टैंकों का काम भी नहीं कर सकता? तब गरीबी को बीच में लाने से लाभ।

(३) भारत के पड़ोसी चीन और पाकिस्तान जैसे देश हैं। चीन अणु-शक्ति सम्पन्न राष्ट्र है और १९६४ से अणु-विस्फोट प्रारम्भ करके १७ सितम्बर '७७ तक २२ बार वह अणु-विस्फोट कर चुका है। क्या वह भविष्य में भारत के विरुद्ध इनका उपयोग नहीं कर सकेगा? यदि कर सकता है तब उसके प्रत्युत्तर के लिए भारत को परमाणु बम अवश्य बनाना चाहिए। पाकिस्तान अभी तो अणु-सम्पन्न राष्ट्र नहीं है किन्तु संभावना यह है कि वह १९८५ तक परमाणु बम बना सकता है। उस समय भारत के लिए शक्ति-संतुलन का उपाय क्या होगा?

(४) भारत तीन ओर से हिन्द महासागर से घिरा है। अपनी सुरक्षा के लिये हिन्द महासागर की सुरक्षा उसके लिये अपेक्षित होगी। क्या बिना अणु शक्ति सम्पन्न हुए वह हिन्द महासागर को शान्ति-क्षेत्र घोषित कराने में सफल हो सकेगा?

४. निष्कर्ष :

विश्व में शांति की स्थापना के लिए प्रयत्न करना बड़ा ऊंचा एवं अच्छा लक्ष्य है। भारत ने सदैव उसके लिए प्रयास किए हैं और भविष्य में भी करता रहेगा, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह सब अपनी सीमाओं की सुरक्षा की बलि देकर

भी करना उचित होगा ? क्या भारत के परमाणु बम न बनाने से विश्व में मारक शस्त्रों के निर्माण की होड़ रुक सकेगी ? पड़ोसी देश चीन ने विश्व-जनमत की परवाह न करके अणु-शस्त्रों का निर्माण किया और अब धीरे-धीरे विश्व का जनमत उसकी ओर क्यों देखने लगा है ? स्वयं अमेरिका भी चीन की ओर मित्रता का हाथ क्यों बढ़ाना चाहता है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि भारत को शांतिपूर्ण कार्यों के लिए भी अणु-विस्फोट न करने की अपनी नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए, क्योंकि शांति-स्थापना का कार्य निर्बल राष्ट्र नहीं कर समता। 'दिनकर जी' ने उचित ही लिखा है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल है।
उसका क्या जो दंतहीन, विषहीन, विनीत सरल है।

---

३५ भारत में लघु कुटीर उद्योग

१. लघु कुटीर उद्योग से अभिप्राय :

लघु कुटीर उद्योग का अभिप्राय है, ऐसे-ऐसे छोटे-मोटे उद्योग धन्धे, जिन्हें थोड़ी से थोड़ी पूँजी लगाकर, कम से कम श्रमिकों द्वारा घर अथवा कुटीर जैसे सीमित स्थानों में भी चालू किया जा सके। एक मान्य परिभाषा के अनुसार जिस उद्योग को शुरू करने के लिए मशीन आदि पर १० लाख रुपये से अधिक खर्च नहीं आता, उसे लघु कुटीर उद्योग कहा जा सकता है, किन्तु इस समय जबकि सरकार के सामने समाज के सबसे अंत में खड़े आदमी को इन लघु उद्योगों से जोड़ने की समस्या है, दस साल में गरीबी दूर करने का लक्ष्य है, बेरोजगारी मिटाने का प्रश्न सामने है, लाख-लाख ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति सुधारने का लक्ष्य है, तब दस लाख की अधिकतम पूंजी की संख्या को काफी नीचे लाना होगा, अन्यथा इस योजना का लाभ भी प्रकारान्तर से बड़े-बड़े पूंजीपति ही उठा जायेंगे। हमारे विचार से यह पूँजी लाखों में नहीं, केवल कुछ हजारों तक सीमित होनी चाहिए। श्री चरणसिंह तो शक्ति-चालित उद्योगों को भी कुटीर उद्योगों की श्रेणी में रखने के पक्ष में नहीं हैं, किन्तु स्व० लोहिया ने आज से लगभग पच्चीस वर्ष पहले छोटी मशीन की उत्पादन प्रणाली का सुझाव दिया था। हमारी दृष्टि में भी यदि लघु उद्योगों को आधुनिक तकनीक से एकदम अलग कर दिया जाय तो ये लाभकर सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

२. लघु कुटीर उद्योगों की आवश्यकता :

भारत एक गरीब किन्तु अधिक जनसंख्या वाला देश है। अतः यहां पूंजी की अपेक्षा श्रम की प्रधानता है। बड़े-बड़े उद्योगों में श्रमिक का स्थान बड़ी-बड़ी मशीनें

ले लेती हैं, अतः उनसे बड़े-बड़े पूँजीपतियों को ही अधिक लाभ होता है। उनमें अपेक्षाकृत कम आदमियों को ही रोजगार प्राप्त होता है। आज की स्थिति में भारत के बेरोजगारों को उत्पादक रोजगार देना अधिक आवश्यक हो गया है। अतः भारत के आर्थिक विकास के लिए ऐसे छोटे-छोटे उद्योगों को प्राथमिकता देना अनिवार्य हो गया है, जिनमें अधिक से अधिक रोजगार देने की क्षमता हो और कम से कम पूंजी लगाने की आवश्यकता हो। आज जनता सरकार की यह घोषित नीति है कि देश के आर्थिक विकास के लिए उसे प्राथमिकताओं का क्रम बदलना होगा। शहर की बजाय ग्राम, मशीन की बजाय मनुष्य और महत्तम की बजाय लघुतम की ओर अधिक ध्यान देना होगा। लघु कुटीर उद्योगों से बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसरों में वृद्धि, राष्ट्रीय आय का समान वितरण एवं पूंजी तथा कौशल का अधिक प्रभावी उपयोग किया जा सकेगा। ग्रामों के विकास के लिए भी आवश्यक है, भूमि पर बढ़ते हुए दबाव को रोकना और अधिक से अधिक आबादी को गैर-कृषि व्यवसायों की ओर मोड़ना।

३. लघु कुटीर उद्योगों की संक्षिप्त सूची :

लघु उद्योग स्थापित करते समय स्थानीय प्राप्त कच्चे माल को ध्यान में रखना होगा। कच्चे माल, श्रमिक तथा कारीगर एवं पूंजी लगाने की क्षमता के अनुसार अनेक लघु-उद्योग खड़े किये जा सकते हैं। जैसे—खादी उद्योग, चमड़ा उद्योग, प्लास्टिक उद्योग, गन्ने की खोई से कागज बनाने का उद्योग, कुक्कुट, सुअर पालन उद्योग, चटाई उद्योग, मिट्टी के बर्तन बनाने, कागज के लिफाफे तैयार करने, पापड़ बनाने, सिलाई करने, कढ़ाई एवं बुनाई का काम करने, रबड़ की चप्पल बनाने, ऊनी वस्त्र बुनने तथा वनस्पतियों, खेती एवं बागानों से उत्पन्न होने वाले कच्चे माल के प्रयोग से अनेक धंधे शुरू किये जा सकते हैं। कुछ और जानकारियाँ—

छह-सात हजार की लागत वाली मशीनों से केले और अनानास के पौधों से रेशे तैयार किए जा सकते हैं। २० हजार मूल्य की मशीनें लगाकर वनस्पतियों और जड़ी-बूटियों को साफ करने का कारखाना शुरु किया जा सकता है। दो हजार रुपये का आधुनिक चाक लगाकर कुम्हार अपनी दैनिक आय में वृद्धि कर सकता है। ७ हजार रुपये की लागत से फलों को साफ करने का छोटा कारखाना लगाया जा सकता है। इसी प्रकार केवल कुछ ही हजार की पूंजी से वॉलीवॉल, फुटबाल, क्रिकेट गेंदें एवं हॉकी आदि खेल के सामान बनाने के उद्योग खड़े किये जा सकते हैं।

४. भारत के परम्परागत लघु उद्योग :

प्राचीन काल से ही भारत में परम्परागत रूप से अनेक लघु उद्योग प्रचलित रहे हैं। ढाके की मलमल की बात आज भी लोगों की जुबान पर है, जो इतनी बारीक होती थी कि उसका कई सौ गज कपड़ा एक अँगूठी के छेद में से निकल सकता था। आज भी अलग-अलग स्थानों एवं प्रदेशों में अनेक परम्परागत उद्योग-धंधे प्रचलित

हैं—जैसे आगरा, कानपुर, रोहतक एवं पटियाला का जूता उद्योग, पंजाब में दरियों, जुराबों का उद्योग, मेरठ में कैंची और खेल के सामान बनाने के उद्योग, दिल्ली में प्लास्टिक एवं रबड़ से विभिन्न वस्तुएँ तैयार करने के उद्योग तथा राजस्थान में साड़ियों एवं धोतियों को रंगने एवं उन पर बेलबूटियाँ बनाने के उद्योगों का प्रचलन है।

५. लघु उद्योगों के विकास के लिए कुछ सुझाव :

प्रचलित उद्योग-धंधों को उत्पादन की साधारण श्रम-बहुल तकनीक से जोड़ने की आवश्यकता है। बैंकों से उचित दर पर आसानी से एवं शीघ्र ऋण उपलब्ध कराया जाना चाहिये। उद्योगों से उपलब्ध तैयार माल के लिए हाट की व्यवस्था की जानी चाहिए। सर्वेक्षण द्वारा उपलब्ध हो सकने वाले स्थानीय कच्चे माल को ही उद्योगों का आधार बनाना चाहिए। इनके द्रुत विकास के लिए सरकार, अर्थशास्त्रियों और विकास से सम्बद्ध विभिन्न संस्थाओं को एक साथ मिल बैठकर ठोस, कालबद्ध एवं व्यवस्थित योजनाएँ तैयार करना चाहिए। लघु उद्योगों को सरकारी संरक्षण तो मिलना ही चाहिए और उनके उत्पादन को जन-सुलभ बनाना चाहिए, यानी श्रमिक और उत्पादक का हिस्सा घटाए बिना उनकी उत्पादन लागत को कम करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। इन उद्योगों को बड़े उद्योगों के अतिक्रमण से बचाने का भी कोई कारगर उपाय सोचना चाहिये, यानी भविष्य में ऐसे किसी बड़े उद्योग के लिए अनुमति नहीं दी जानी चाहिए जो लघु और और कुटीर उद्योगों में बनने वाली वस्तुओं का उत्पादन करना चाहें।

---

३६ आरक्षण की नीति

१. आरक्षण नीति : विवाद के घेरे में :

यों तो आरक्षण के विषय में छुटपुट विवाद पहले भी होते रहे हैं किन्तु जब से बिहार सरकार ने पिछड़ी जातियों के लिये नौकरियों एवं सरकारी पदों पर आरक्षण की घोषणा की है, तब से इसने विवाद का रूप ले लिया है। बिहार और उत्तरप्रदेश में सरकारी आरक्षण की नीति के विरोध में आन्दोलन भी हुए और देश में अन्यत्र भी यह विवाद का प्रश्न बन गई।

२. विवाद का मुख्य मुद्दा :

भारत के संविधान में जहाँ एक ओर संविधान के अनुच्छेद १४ से १८

तक में समानता के अधिकारों की विशद चर्चा है। वहीं संविधान की धारा–१५, उपधारा–४ में अनुसूचित एवं पिछड़े वर्ग के लिए जातिगत आधार पर कुछ विशेष सुविधाओं और अधिकारों की व्यवस्था की गई है। इन विशेषाधिकारों के लिए प्रथमतः दस वर्ष की अवधि रखी गई, पर आवश्यकतानुसार १०–१० वर्ष बढ़ाते हुए संप्रति आरक्षण की अवधि १९८० तक कर दी गई है। जनता पार्टी ने भी अपने चुनाव घोषणा-पत्र में स्पष्ट तौर पर वायदा किया था कि पंडित काका कालेलकर आयोग की सिफारिशों के आधार पर सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ी जातियों को २५% से ३३% तक सरकारी नौकरियों में आरक्षण दिया जायेगा। जनता सरकार बनने पर बिहार ने जब इस प्रकार के आरक्षण की घोषणा की तो विवाद खड़ा हो गया। क्या अब ३० वर्ष बाद भी इन विशेष सुविधाओं और विशेषाधिकारों की आवश्यकता है? यदि है तो क्या इसका आधार सामाजिक (जातिगत) एवं शैक्षणिक के स्थान पर आर्थिक नहीं होना चाहिए? यह भली-भाँति अनुभव किया जा रहा है कि जब तक देश में विषमताएँ विद्यमान हैं, तब तक आरक्षण तो आवश्यक होगा किन्तु उसका आधार क्या हो, यही विवाद का प्रमुख मुद्दा है।

३. सामाजिक (जातिगत) एवं शैक्षणिक आधार कुछ तर्क :

(१) सामाजिक एवं शैक्षणिक पिछड़ेपन के आधार पर नौकरियों आदि में आरक्षण संविधान सम्मत है।

(२) पिछड़ेपन का वास्तविक अर्थ सामाजिक दृष्टि से ही पिछड़ा होना है। आज भी पिछडी जाति के शिक्षित, सम्पन्न तथा सुन्दर लड़के के साथ कोई ऊँची जातिवाला अशिक्षित एवं निर्धन होकर भी अपनी लड़की की शादी नहीं करना चाहता। मंदिर, मठ, महंतगिरी, यज्ञ, हवन आदि में आज भी पंडित को ही बुलाया जाता है, किसी हरिजन को नहीं। मैला ढ़ोने का काम आज भी भंगी ही कर रहा है। पिछड़ेपन का आधार सामाजिक है तो आरक्षण का आधार भी सामाजिक होना चाहिये।

(३) आज अधिकांश पदों पर ऊँची जाति वाले विद्यमान हैं। अगर कहीं आरक्षण का आधार आर्थिक तय हो गया तो शत-प्रतिशत सीटों पर इनका ही साम्राज्य हो जायेगा। कारण कि आर्थिक आधार का फैसला भी तो ये ही लोग करेंगे।

(४) योग्यता किसी जाति विशेष, कुल विशेष की मुखापेक्षी नहीं होती। अवसर मिलने पर वह विकसित भी की जा सकती है।

(५) इस देश में सदियों से जितनी दलित एवं शोषित कुछ जातियाँ रही हैं, उतना गरीब व्यक्ति नहीं। गरीब ब्राह्मण को यहाँ पूजने का विधान रहा है और धनी शूद्र की भी यहाँ ताड़ना की जाती रही है। पददलित लोग यहाँ कभी इतिहास के अंग नहीं रहे। वैसे भी गुलामी आर्थिक नहीं, मानसिक ही होती है। मानसिक रूप से स्वतंत्र समाज आर्थिक रूप से गुलाम नहीं रह सकता।

(६) पिछड़ी जातियों एवं सवर्ण आर्थिक पिछड़ेपन की कोई समाजशास्त्रीय समानता नहीं है। अतः सवर्ण आर्थिक पिछड़ेपन को सुविधाएँ देने की बात ठीक नहीं है।

४. आर्थिक आधार : प्रमुख तर्क

(१) आज का युग अर्थ प्रधान युग है। आज अर्थ ही प्रतिष्ठा एवं अप्रतिष्ठा तथा विकसित एवं पिछड़ेपन का कारण बन गया है। अतः आरक्षण का आधार भी आर्थिक पिछड़ापन ही होना चाहिए। आज कितनी ही जातियाँ तथा जातियों के कितने ही लोग जो मात्र कहने को ही उस विशेष सूची में अंकित हैं, जबकि वे कई ऊँची जाति वालों से अधिक सम्पन्न एवं खुशहाल हैं, तब उनके लिये आरक्षण की क्या आवश्यकता है। इन जातियों में भी अच्छे व्यापारी, उद्योग कर्मी, सरकारी नौकर एवं बड़े कृषक हैं, जिन्हें विशेष सुविधाओं की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी ओर क्या गरीब सवर्ण भिक्षाटन को मजबूर नहीं। क्या वे समाज से तिरस्कृत नहीं ?

(२) एक ओर हम जाति तोड़ो आन्दोलन चला रहे हैं, दूसरी ओर जातियों को आधार बनाकर उन्हें विशेष सुविधाएँ दे रहे हैं। क्या यह अन्तर्विरोध जाति व्यवस्था को ही प्रोत्साहन नहीं देता ? इमसे वर्ग-संघर्ष ही नहीं पनपेगा ?

(३) जातिगत आधार पर आरक्षण देने से इन जातियों के ऐसे अयोग्य व्यक्ति भी सरकारी सेवाओं अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण पदों पर स्थान पा जाते हैं, जिनकी उनमें योग्यता नहीं होती। इससे प्रशासन तथा अन्य सेवाओं का स्तर गिरता है। शिक्षा क्षेत्र में भी आरक्षण की माँग विषमता को ही जन्म देती है।

(४) आरक्षण और विशेष सुविधाओं के आधार पर हरिजनों एवं पिछड़ी जाति के लोगों का उद्धार नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता के बाद का इतिहास इसका साक्षी है। आरक्षण का लाभ इन जातियों में से भी जो इसके वास्तविक अधिकारी हैं, उन्हें नहीं मिला पाता। इन जातियों में भी एक विशेष वर्ग ही इन सुविधाओं का लाभ उठाता रहा है। अन्यथा इतने दिनों बाद भी आज तक ये लोग राष्ट्रीय धारा का अंग क्यों नहीं बन पाए ?

५. निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आरक्षण का आधार जातिगत हो अथवा आर्थिक, दोनों के लिये ही कुछ तर्क प्रस्तुत किए जा रहे हैं और दोनों में ही कुछ न कुछ तत्त्व भी है। वस्तुतः पिछड़ेपन का कारण विचार और अर्थ दोनों ही हैं। अतः कोई ऐसा बीच का मार्ग निकालना चाहिए, जिससे पिछड़ापन दूर हो। यह समाजशास्त्रीय विषय भी है और अर्थशास्त्रीय भी। प्रायः यहाँ के अधिकांश ग्रामीण, चाहे वे किसी भी जाति के हों, पिछड़े हुए ही हैं। यह भी सोचा जा सकता है कि आरक्षण के बजाय पिछड़े लोगों के बच्चों को मुफ्त शिक्षा, छात्रावास, कपड़ा, भोजन आदि की व्यवस्था की जाय। उन्हें लघु कुटीर उद्योग चालू करने के लिए प्रेरित किया जाय। इनके पिछड़ेपन की मानसिकता के विकास के लिए बौद्धिक आन्दोलन

चलाया जाय। आरक्षण की नीति को अनिश्चित काल तक जारी रखने से इन जातियों को भी विशेष लाभ नहीं पहुँचेगा और उनमें आत्म-विश्वास की कमी तो बनी ही रहेगी।

---

३७ अन्त्योदय योजना

१. अन्त्योदय योजना क्या है ?

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है—जो व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से सबसे अन्त में हो, उसका उदय, उसका विकास करना ही 'अन्त्योदय' है। इसके श्री गणेश का श्रेय राजस्थान को है, जिसने २ अक्टूबर ७७ से यह संकल्प लिया है कि आर्थिक विकास का कार्य समाज के निम्नतम व्यक्तियों से शुरू किया जाय। योजना के द्वारा अब तक की खींची हुई गरीबी की रेखा को बदलना है। इसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष प्रत्येक गाँव से पाँच गरीब से गरीब परिवारों का चयन कर उन्हें आर्थिक उत्थान हेतु विभिन्न साधन सुविधाएँ उपलब्ध कराई जायेंगी। राजस्थान में लगभग ३३ हजार गाँव हैं, परिणामस्वरूप १ लाख ६५ हजार परिवार प्रति वर्ष इसके अन्तर्गत लिये जाते रहेंगे।

२. अन्त्योदय और सर्वोदय :

यहाँ यह भी विचारणीय है कि यह 'अन्त्योदय' योजना गांधी, विनोबा और कुछ काल तक जयप्रकाश के भी 'सर्वोदय' से किस प्रकार भिन्न है ? 'सर्वोदय' का लक्ष्य सबका उदय था, जबकि 'अन्त्योदय' समाज के निम्नतम व्यक्ति के विकास को लक्ष्य मानकर चलता है। अन्ततः अन्त्योदय का लक्ष्य भी सर्वोदय ही होगा किन्तु अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिकता के साथ, क्योंकि इसमें समाज के निम्नतम व्यक्ति के उत्थान को केन्द्र बनाकर अपने लक्ष्य को अधिक स्पष्टता के साथ रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है।

३. अन्त्योदय परिवारों के चयन का आधार :

परिवारों के चयन में पक्षपात हो सकता है, अतः उसके चयन का स्पष्ट आधार बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसके लिए प्रत्येक ग्राम में ग्राम-सभा बुलाई जाती है और उसके सरकारी गैर सरकारी कार्यकर्त्ताओं की सहमति से पांच परिवारों का चयन किया जाता है। परिवार-चयन का आधार इस प्रकार है—

(१) वे परिवार जिनकी अपनी सम्पत्ति भूमि, पशु या अन्य किसी भी रूप में नहीं है और जिनका कोई भी सदस्य १५-५९ वर्ष की आयु का नहीं है, जो कुछ कमा सके।

(२) वे परिवार जिनकी कोई सम्पत्ति नहीं है, किन्तु जिनका एक या इससे अधिक सदस्य मेहनत मजदूरी कर सकते हैं, फिर भी जिनकी आय ५ सदस्यों के परिवार के लिए १२०० रुपये से अधिक नहीं हो।

(३) भूमिहीन और कारीगरों के परिवार, जिनकी वार्षिक आय १२०० से १८०० रुपये के बीच है।

(४) वे परिवार जिनके पास कुछ भूमि और कुछ अन्य सम्पत्ति है किन्तु जिनकी आय ५५ रुपये प्रति माह से कम है।

४. अन्त्योदय परिवार के लिए स्वीकृत परियोजनाएँ :

(१) भूमि आवंटन : जहाँ कहीं कृषि योग्य भूमि उपलब्ध होगी। वह सिर्फ अन्त्योदय परिवारों को ही दी जायेगी।

(२) दुधारू पशु : दुधारू पशु जैसे गाय, भैंस एवं भेड़, बकरी आदि प्रदान किए जायेंगे।

(३) मुर्गी एवं सुअर पालन की सुविधाएँ दी जायेंगी।

(४) कुटीर उद्योग—चर्खा, करघा, बैलों द्वारा चालित तेल घानी, चमड़े की वस्तुएँ बनाने आदि के कुटीर उद्योगों को प्रात्साहित किया जायेगा।

(५) कारखानों, खानों, सार्वजनिक निर्माण विभाग, राजस्थान नहर परियोजना आदि में अन्त्योदय परिवारों के सदस्यों को नौकरी देने में प्राथमिकता दी जायेगी।

(६) बैल गाड़ी, ऊँट गाड़ी एवं हाथ गाड़ी दिलवाई जायेंगी।

(७) वृद्धावस्था पेंशन—जिन अन्त्योदय परिवारों में १५ से ५९ वर्ष के बीच की आयु का मेहनत मजदूरी करने योग्य सदस्य नहीं होगा, उन्हें ४० रुपये प्रतिमाह पेंशन दी जायेगी।

(८) सस्ती दर पर ऋण उपलब्ध कराया जायेगा, जिसकी दर ४% होगी। ऋण की राशि पैसे में नहीं अपितु वस्तुओं के रूप में जैसे भैंस, गाय या ऊँट गाड़ी आदि के रूप में दी जायेगी। इसमें से भी लघु कृषक विकास प्राधिकरण के द्वारा ३३% का दानानुदान दिलाया जायेगा।

५. उपसंहार :

वस्तुतः 'अन्त्योदय' योजना अपने देश की एक विशेष योजना है। राजस्थान में इसके सुखद परिणाम सामने आने लगे हैं। वस्तुतः यह जनता पार्टी की आर्थिक विकास नीति का एक ठोस कार्यक्रम है और गरीबी दूर करने का एक व्यावहारिक कदम। यों इन्दिरा सरकार ने भी अपने बीस-सूत्रीय कार्यक्रम में लक्ष्य यही रखा था किन्तु वह उसका कोई ठोस और व्यवस्थित कार्यक्रम सामने नहीं रख सकी। राजस्थान ने न केवल एक ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत किया है, वरन् बडे उत्साह के साथ उसको व्यावहारिक रूप भी दिया जा रहा है। उत्तर प्रदेश ने इसे अपनाने का संकल्प लिया है। आशा है. यह शीघ्र ही देश के प्रत्येक राज्य में अपना ली जायेगी।

———

३८ प्रौढ़-शिक्षा अभियान

१. वर्तमान व्यापक अभियान :

भारत सरकार छठी योजना के अन्तर्गत १० करोड़ लोगों को साक्षर बनाने का संकल्प ले चुकी है, जिसके लिये केन्द्रीय बजट में अरबों रुपये मंजूर किये गये हैं। अभियान का मूल उद्देश्य अनौपचारिक शिक्षा-पद्धति द्वारा १५ से ३५ वर्ष तक के आयु-वर्ग के निरक्षर लोगों को कामचलाऊ लिखना-पढ़ना सिखाना है। २ अक्टूबर ७८ से प्रारम्भ हुए इस अभियान में ३० हजार केन्द्र स्थापित किये गये हैं तथा समाज सेवी संस्थाओं, राज्य सरकारों, नेहरू युवक केन्द्र तथा शिक्षण संस्थाओं द्वारा ७०० से अधिक परियोजनाएँ हाथ में ली गई हैं। अभियान मुख्य रूप से राज्य सरकारों के अधीन चलेगा, लेकिन कुल व्यय का ५०% केन्द्रीय सरकार वहन करेगी। योजना के प्रथम वर्ष में ४५ लाख लोगों को साक्षर बनाने का लक्ष्य है। प्रारम्भ में प्रत्येक जिले के एक ब्लाक में यह परियोजना चालू की जायेगी। इसके बाद अन्य क्षेत्रों में विस्तार किया जायेगा।

२. प्रौढ़ शिक्षा : अर्थ तथा परिभाषा :

यों तो प्रौढ़ शिक्षा का मोटा अर्थ प्रौढ़ों को साक्षर बनाना ही है। स्वतंत्रता से पूर्व प्रौढ़ शिक्षा का यही अर्थ लिया जाता था। १९४८ में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने प्रौढ़ शिक्षा की प्रगति हेतु सारे देश के लिए एक रूपरेखा बनाने हेतु एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने १९४९ में प्रौढ़-शिक्षा को समाज शिक्षा की संज्ञा दी और इसके अर्थ को व्यापक बना दिया। अब प्रौढ़-शिक्षा का अर्थ केवल प्रौढ़ों को साक्षर बनाना नहीं अपितु उनके वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक व नैतिक जीवन को अधिक उन्नत बनाने का प्रयास करना है।

कुछ परिभाषाएँ—"प्रौढ़ शिक्षा में राजनैतिक, नागरिक तथा नैतिक शिक्षाएँ भी सम्मिलित हैं।"

—के० जी० सैयदन

"समाज शिक्षा निरक्षर वयस्कों में साक्षरता का प्रसार करके ही संतुष्ट नहीं होती अपितु जनसाधारण में शिक्षित मस्तिष्क को अपना लक्ष्य बनाती है। स्वाभाविक उपलक्ष्य के रूप में समाज-शिक्षा व्यक्तियों में व्यक्तिगत तथा समाज के सदस्यों के रूप में नागरिकता के अधिकार तथा कर्त्तव्यों की तीव्र भावना का समावेश करने का प्रयास करती है।"

—हुमायूँ कबीर

"The function of adult education in democracy is to provide every adult citizen with an apportunity for education.........for his personal enrichment, professional advancement and effective participation in social and political life." —कोठारी कमीशन, पृ० ४२२

३. प्रौढ़-शिक्षा की आवश्यकता :

शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक नागरिक का अधिकार है। प्रौढ़ों को भी वह

अधिकार मिलना ही चाहिये। अज्ञान के अंधकार में भटकने वाले ज्ञान की ज्योति से वंचित रहते हैं। वे जीवन का सर्वांगीण विकास नहीं कर पाते। अपने व्यवसाय में उन्हें वांछित सफलता नहीं मिलती। उनका विविध रूपों में साक्षर लोग, अधिकारी एवं वकील आदि शोषण करते हैं। वे प्रजातांत्रिक जीवन-मूल्यों को अपने जीवन में नहीं उतार सकते। उनका दृष्टिकोण संकीर्ण ही रहता है। दैनिक अखबार तक न पढ़ सकने वाले से कैसे आशा की जाय कि वह सरकार में अपना प्रतिनिधि चुनकर भेज सकेगा अथवा वह अपना समुचित आयकर चुका सकेगा। कुल मिलाकर व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास, व्यावसायिक दक्षता, प्रजातांत्रिक जीवन-मूल्यों को ग्रहण करने की क्षमता, चारित्रिक निर्माण, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय भावनाओं के विकास के लिये प्रौढ़-शिक्षा की आवश्यकता है।

४. प्रौढ़-शिक्षा के लिए किए गए कुछ प्रयत्न :

१९४९ में केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की ओर से राज्य के मन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें प्रौढ़ शिक्षा की एक निर्देशिका योजना प्रस्तुत की गई।

१९५० में 'शैक्षणिक कारवाँ' योजना के अन्तर्गत गाँव-गांव में प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार किया गया।

१९५१ में भारत में प्रथम जनता कालेज अलीपुर गाँव में खोला गया। जामिया मिलिया व दिल्ली जनता पुस्तकालय ने भी कुछ प्रयत्न किये।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सामुदायिक केन्द्रों के विकास की योजना के लिये ७·५ करोड़ रुपये, दूसरी योजना में इसके लिये १० करोड़ रुपये, तीसरी में १२ करोड़ रुपये और अब छठी योजना में इसके लिए अरबों रुपये की धनराशि स्वीकृत की गई है।

५ दिसम्बर, १९६९ को 'प्रौढ़ साक्षरता मंडल' की स्थापना से भी इस कार्यक्रम को बल मिला।

५. प्रौढ़-शिक्षा : कुछ समस्याएँ :

(१) निरक्षरों की बढ़ती हुई संख्या, (२) उपयुक्त पाठ्यक्रम का अभाव, (३) उपयुक्त प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव, (४) प्रौढ़ों के लिए उपयुक्त साहित्य का अभाव (५) प्रौढ़-शिक्षा अभियान के लिए समर्पित कार्यकर्ताओं का अभाव।

६. निष्कर्ष :

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब भारत अभी तक ६ वर्ष से १४ वर्ष के बालक-बालिकाओं के लिए ही अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर पाया है, तब प्रौढ़-शिक्षा पर इतनी बड़ी धनराशि खर्च करने का औचित्य? इस अभियान का परिणाम भी अन्य सरकारी अभियानों जैसा न होगा, इस सम्बन्ध में सरकार ने क्या कदम उठाए हैं? आवश्यकता इस बात की है कि इतनी बड़ी राशि के सदुपयोग के लिए मिशनरी भावना वाले कार्यकर्त्ता तैयार किए जाएँ जो न केवल प्रौढ़ों को साक्षर बनाएँ, अपितु लोकगीतों, लोकनाट्यों, लोकोत्सवों आदि के माध्यम से प्रौढ़ों के सर्वांगीण विकास में रुचि ले सकें।

खण्ड–ख

साहित्यिक निबन्ध

३९ साहित्यकार का दायित्व

१. चिरन्तन प्रश्न :

कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जिन्हें प्रत्येक युग एवं काल में उठाया जाता है, उनके उत्तर भी खोजे जाते हैं किन्तु प्रश्न फिर भी प्रश्न ही बना रहता है। साहित्यकार का अपने समाज, अपने राष्ट्र एवं स्वयं अपनी कला के प्रति क्या कोई दायित्व है, प्रश्न भी ऐसे ही चिरन्तन प्रश्नों में से है। आज भी इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है किन्तु प्रश्न है कि वह सुलझने के बजाय और अधिक उलझता जाता है और अतिवादी दृष्टिकोणों के भँवर में चक्कर काट रहा है। आज भी आए दिन साहित्यकार की प्रतिबद्धता पर विचार-गोष्ठियाँ होती हैं, पत्र-पत्रिकाओं में परिचर्चाओं का आयोजन किया जाता है। कभी 'निरंकुशाः हि कवयः' कहकर उसे समाज से सर्वथा अप्रतिबद्ध सिद्ध करने की कोशिश की जाती है तो कभी साहित्यकार को समाज का एक आवश्यक अंग बतलाकर उस पर समाज एवं देश-निर्माण का गम्भीर दायित्व डाल दिया जाता है।

२. परस्पर विरोधी विचारधाराएँ :

साहित्यकार के दायित्व के सन्दर्भ में प्रायः दो प्रकार की विचारधाराएँ सम्मुख आती हैं। एक विचारधारा है, जिसके अनुसार साहित्यकार का अपने समाज अथवा राष्ट्र के प्रति कोई दायित्व नहीं है। वह पूर्णतः स्वतन्त्र चेता होता है। उसकी कला का कोई प्रयोजन नहीं होता। वह शुद्ध आनंदोदगार तक सीमित होती है कि वह सिर्फ सौन्दर्य की सृष्टि करके चुक जाती है कि नैतिकता और सदाचार काव्येतर मूल्य हैं और उनसे साहित्यकार को कुछ लेना देना नहीं है, क्योंकि साहित्यकार आचार-शास्त्री नहीं है, नीति-नियमक नहीं है। इन विचारकों के अनुसार कला का जीवन के लिये कोई उपयोग नहीं है। साहित्यकार युग-बोध से नहीं बँधता। उसकी कृति देश और काल दोनों से परे जाकर प्रतिष्ठा पाती है। इन विचारकों को कभी 'कलावादी' और कभी 'सौन्दर्यवादी' कहकर पुकारा गया है। यूरोपीय विचारकों में प्लेटो से ही इस विचारधारा का प्रारम्भ हो जाता है, जिसकी दृष्टि में कविता नितान्त अनुपयोगी वस्तु है। इसी कारण वह जिस रिपब्लिक' की कल्पना करता था उसमें कवियों के लिये कोई स्थान नहीं था। कारण, क्योंकि कवि आवेगों और रागों से परिचालित होते हैं, जो सुयोग्य नागरिक के गुण नहीं। आगे चलकर फ्रांस में बोदलेयर एवं मॉरिस आदि ने कला का अपने से भिन्न अन्य कोई प्रयोजन मानने से इनकार किया। इंगलैण्ड में वाल्टर पेटर, क्लाइव बैल, आस्कर वाइल्ड एवं ब्रेडले

आदि ने तथा अमेरिका में स्पिनगार्न एवं इलियट आदि ने भी साहित्य को इसी दृष्टि से देखा है। भारतीय विचारकों का भी एक वर्ग-विशेष इस विचारधारा से प्रभावित रहा है।

विचारकों का दूसरा वर्ग है, जो साहित्य को जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति मानता है। इनकी दृष्टि में कला अथवा साहित्य न अनुपयोगी है, न केवल कला की सृष्टि मात्र उसका लक्ष्य है और न ही वह केवल एकान्त सौन्दर्य-बोध की अभिव्यक्ति अथवा शुद्ध आनंदोदगार की वस्तु है। उसका लक्ष्य तो जीवन की अभिव्यक्ति है। जीवन को कल्याणकारी, सुखमय एवं अधिकाधिक नैतिक मूल्यों से युक्त बनाने में उसकी सफलता है। वह न केवल अपने काल की सामाजिक अथवा राजनैतिक चेतना की अभिव्यक्ति करता है, बल्कि उसका मार्ग-दर्शक भी होता है और कभी उस चेतना का प्रेरक अथवा विधायक भी होता है। इन विचारकों में मैथ्यू आर्नाल्ड, कार्लाइल, शैली, वर्ड्सवर्थ एवं टालस्टाय आदि पाश्चात्य विचारकों के साथ अनेक भारतीयों के नाम भी गिनाये जा सकते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि विचारधाराओं का उक्त वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल स्तर पर है। कलावादियों की शुद्ध कविता और जीवनवादियों की नैतिक कविता के बीच अनेक स्तर हो सकते हैं, किन्तु यहाँ केवल सुविधा के लिये ही इन दोनों का उल्लेख हुआ है। साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न उक्त विचारधाराओं से जुड़ा हुआ है। केवल कला की उपासना करने वाले विचारक साहित्यकार की समाज अथवा राष्ट्र के प्रति किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता स्वीकार नहीं करते, जबकि जीवन की अभिव्यक्ति को साहित्य का प्रयोजन स्वीकार करने वाले विचारक साहित्यकार को समाज, राष्ट्र, युग एवं काल के प्रति प्रतिबद्ध स्वीकारते हैं।

३. साहित्यकार का दायित्व :

जहाँ तक साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न है, वहाँ यह स्वीकार करने में शायद ही किसी को संकोच हो कि साहित्यकार भी अंततः मानव है। वह असाधारण केवल इसी अर्थ में है कि वह साधारण जन से कुछ अधिक सवेदनशील होता है और संवेदनशील व्यक्ति अपने दायित्व से विमुख नहीं हो सकता। सोचना अब केवल यह है कि उसका यह दायित्व किसके प्रति है और इसका प्रकार क्या है ? क्या यह दायित्व केवल व्यक्ति तक ही सीमित है अथवा राष्ट्र एवं समाज भी उसकी परिधि में समा जाते हैं ? अथवा वह अपनी कला के प्रति है और इन तीनों में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिये कि तीनों परस्पराश्रित हैं।

कला के प्रति, साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न तो सीधा उसके अस्तित्व से ही जुड़ा है, क्योंकि कलात्मकता के अभाव में साहित्य-साहित्य नहीं रह जाता, इसलिये साहित्य में कलात्मकता का निर्वहण तो आवश्यक ही होता है। यह कलात्मकता कवि की प्रतिभा, उसके स्वभाव एवं उसकी कल्पनाशीलता से उत्पन्न होती है। प्रतिभा के विकास और साहित्यकार के स्वभाव-निर्माण में परिवेश

की महत्वपूर्ण भूमिका से भी इनकार किया जा सकना कठिन है। निराधार कल्पना त्रिशंकु को जन्म दे तो दे, धरती पर रहने वाले साहित्यकार के लिये तो उसका साधार होना भी नितान्त अपेक्षित है। अतः साहित्यकार का कला के प्रति दायित्व भी उसे जीवन और जगत् से जोड़ता ही है। रही बात साहित्यकार के व्यक्ति एवं एवं समाज के प्रति दायित्व की। यह मानना गलत नहीं होगा कि सामाजिक जीवन के साथ-साथ साहित्यकार का एक व्यक्तिगत जीवन भी होता है कि अपनी व्यक्ति-चेतना के आधार पर ही वह मौलिक सृजन में सफल होता है और अपनी अस्मिता का निर्माण करता है। इसी आधार पर बाल्मीकि व्यास न होकर बाल्मीकि हैं और तुलसी अज्ञेय न होकर तुलसी हैं किन्तु क्या बाल्मीकि, व्यास, तुलसी और अज्ञेय किसी स्तर पर एक नहीं हैं ? हमें लगता है कि साहित्यकार का एक ही साथ व्यक्ति, युग एवं युगों-युगों के स्तर से सम्बन्ध होता है। वह जहाँ अपने व्यक्ति के प्रति उत्तर-दायित्व को निभाता है, वहीं वह अपने युग के प्रति भी सचेष्ट होता है और व्यक्ति एव अपने युग की सीमा को लाँघकर युगों-युगों के प्रति भी स्वयं को उत्तरदायी बना सकने में समर्थ होता है। वस्तुतः समर्थ एवं सच्चा साहित्यकार उसे ही कहा जा सकता है। वह अपनी गरज को, अपनी अभिव्यक्ति को; लोक की, एवं पाठक की गरज एवं अभिव्यक्ति बना पाने में सफल होता है। वह भीड़ बनने से इनकार कर सकता है किन्तु 'मानव-मात्र में व्याप्त विशद् अभिप्राय' से टूट नहीं सकता। तभी तो कभी वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति के लिए बदनाम हिन्दी नई कविता के प्रमुख कवि अज्ञेय को कहना पड़ा था—

> तू उसे ओढ़े न ओढ़े
> व्याप्त मानव-मात्र में है जो विशद अभिप्राय
> तू न उसे टूटः
> भीड़ का मत हो, डटा रह, मगर
> दिग्विद पान्थ के समुदाय से तू
> अकेला मत छूट।

तथा—

> एकाकियों की राह ?
> वह भी है
> मगर तब जबकि वह
> सबके लिये तोड़ी गई हो।

(अरी, ओ करुणा प्रभामय)

४. स्वान्तः सुखाय, परजनहिताय :

विवेचन का सार यही है कि साहित्यकार का दायित्व अपने प्रति भी है किन्तु उसका यही दायित्व उसे समाज अथवा राष्ट्र के प्रति भी उत्तरदायी बनाता है। तुलसी की भाँति वह 'स्वान्तः सुखाय' रचना कर सकता है किन्तु उसका 'स्वान्तः सुखाय' 'परजनहिताय' का विरोध नहीं करता। उस पर अपने युग का प्रभाव पड़ता है और इसी प्रभाव के कारण 'साहित्य को समाज का दर्पण' कह दिया जाता है किन्तु

साहित्यकार केवल अपने युग के प्रति ही उत्तरदायी नहीं है, बल्कि युगों-युगों के प्रति भी है। अतः साहित्य केवल समाज का दर्पण नहीं, वरन् समाज का विधायक एवं नियामक भी है।

५. प्रतिबद्ध पर परतन्त्र नहीं :

इस सबके बावजूद भी साहित्यकार का दायित्व किसी राजनेता, धर्मोपदेष्टा अथवा समाज्ञ-सुधारक के दायित्व की भाँति समाज अथवा राष्ट्र द्वारा आरोपित दायित्व नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार के दबाव अथवा लोभ के कारण साहित्यकार इस दायित्व को स्वीकारने के लिये विवश होता है अथवा किया जाता है, तब वह केवल सतही साहित्य की रचना कर सकने में समर्थ हो सकता है, अमर-काव्य की आशा उससे नहीं की जा सकती। वस्तुतः साहित्यकार का यह दायित्व उसकी स्वयं की चेतना से ही उद्भूत होना चाहिये, किसी वाह्य शक्ति से नियन्त्रित नहीं। जहाँ कहीं और जब कभी ऐसा हुआ है, साहित्य अपने सतही स्तर पर ही चुक गया है। इसी सन्दर्भ में साहित्यकार की स्वतन्त्रता अपना विशेष महत्व रखती है जो किसी प्रकार की उच्छृंखलता को जन्म न देकर साहित्यकार को अधिकाधिक उत्तरदायी ही बनाती है। जिसे वरण की स्वतन्त्रता नहीं होगी, उससे किसी प्रकार के दायित्व-निर्वहण की आशा करना भी मूर्खता होगी। धर्मोपदेशक की भाँति सीधे-सीधे उपदेश देना भी साहित्यकार का काम नहीं है। साहित्य निश्चय ही 'आचार-शास्त्र' अथवा 'नीति-शास्त्र' से भिन्न है। उसका उपदेश भी 'कान्ता-सम्मित' ही हो सकता है।

६. निष्कर्ष :

अंततः कहा जा सकता है कि साहित्यकार मानव होने के नाते मानवी-चेतना के प्रति प्रतिबद्ध है और साहित्यकार होने के नाते कलात्मकता के प्रति। यह मानवी-चेतना वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार की हो सकती है। समर्थ साहित्यकार वही है, जिसकी युग-परिवेष्टित चेतना युगों-युगों की चेतना बनने में समर्थ होती है और वह 'मनीषी' और 'स्वयंभू' बनने में समर्थ होता है। वह स्वतन्त्र चेता होकर ही सृष्टि का अधिक उत्तरदायी प्राणी सिद्ध होता है। वह कोरा कलावादी बनकर किसी भी दायित्व को नकार सकता है किन्तु उससे बच नहीं सकता, क्योंकि कलावादी भी अंततः जीवन का ही रचनाकार होता है, शून्य का नहीं। उसके संवेदन, उसकी सूक्ष्म अनुभूतियों का निर्माण जीवनानुभव के अभाव में सम्भव ही नहीं है और यह कैसे हो सकता है कि साहित्यकार जीवन से अनुभव तो ग्रहण करे किन्तु उससे किसी प्रकार की प्रतिबद्धता का अनुभव न करे। उसके अप्रतिबद्ध होने का आशय केवल इतना ही है कि वह किसी विशेष राजनीतिक अथवा सामाजिक मतवाद, किसी धर्म अथवा किसी व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है। वह केवल मानव के प्रति प्रतिबद्ध है और यह प्रतिबद्धता स्वप्रेरित है, ओढ़ी या थोपी हुई नहीं।

—: ० :—

४० परम्परा और प्रयोग : साहित्य के सन्दर्भ में

१. साहित्य : चिरंतन काल-यात्री

हिन्दी के एक नये कवि स्व० गजानन माधव मुक्ति बोध ने लिखा है—

नहीं होती, कहीं भी खतम कविता नहीं होती
वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है

यह बात मात्र कविता के सन्दर्भ में ही नहीं, सम्पूर्ण साहित्य के सन्दर्भ में कही जा सकती है। वस्तुतः साहित्य तो काल-यात्री है, वह कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। परिस्थितियाँ जीवन के एकदम विरुद्ध भी क्यों न हों, आदमी का सृजन कभी थकता नहीं। साहित्य की इस अमरता के मूल में जहाँ उसकी एक लम्बी पुष्ट परम्परा रहती है, वहीं नित नये प्रयोग भी उसे जीवन्त बनाये रखने के लिये आवश्यक होते हैं। परम्परा उसे पैर टेकने के लिये जमीन प्रदान करती है तो प्रयोग उसके लिये नित नये क्षितिजों का उद्घाटन करता है। इस प्रकार साहित्य के विकास में परम्परा और प्रयोग दोनों ही अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यहाँ परम्परा और प्रयोग पर थोड़े विस्तार के साथ विचार करना आवश्यक होगा।

२. परम्परा क्या है ?

'परम्परा' एक गत्यात्मक प्रक्रिया है, जिसके व्युत्पत्तिगत अर्थ में ही यह धारणा निहित है। 'परम्परा'—पर से पर तक अर्थात् पहले से दूसरे एवं दूसरे से तीसरे तक पहुँचने वाली—एक विकासात्मक श्रृंखला। एक नैरन्तर्य, एक तारतमिकता उसमें सदैव विद्यमान रहती है। जो लोग परम्परा को केवल रूढ़ि मात्र समझकर उसका विरोध करते हैं अथवा उसे परम्परा के नाम पर मात्र जड़ता की उपासना करना चाहते हैं, वे सभी बहुत बड़े भ्रम के शिकार हैं। परम्परा नित्य विकसित होती रहती है, वह युग के अनुरूप स्वयं को ढालती चलती है। परम्परा एवं युग-बोध के शाश्वत द्वन्द्व में परम्परा के जर्जर, बासी एवं रूढ़ तत्व उससे निष्क्रमित होते रहते हैं और सार्थक, उपयोगी एवं ताजे तत्व उसमें जुड़ते रहते हैं। वह अतीत की होते हुए भी नित्य नवीन बनी रहती है, वर्तमान में विकसित होती हुई भी निरन्तर भविष्योन्मुखी बनी रहती है। वह किसी देश और जाति के सहस्रों वर्षों के चिन्तन एवं संस्कारों का परिणाम होती है, जिसके निर्माण में विभिन्न विचारधाराओं का योग होता है। नयेपन से परम्परा का कोई विरोध नहीं है।

वैसे, नयापन अपने आप में कोई निरपेक्ष तत्व नहीं है। पुरातन को पचाकर ही नूतन पनपता है। इस सम्बन्ध में हम डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त के इस कथन से सहमत हैं—"भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान—इन सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक अनुशीलन से प्रमाणित हो चुका है कि सृष्टि में सभी तत्व परिवर्तनशील हैं, पर साथ ही कोई भी तत्व या तत्वों का समूह-द्रव्य–अपने आप में सर्वथा नया या पूर्ववर्ती तत्व से सर्वथा निरपेक्ष भी नहीं है। विज्ञान का यह यूनिवर्सल सिद्धान्त है कि सृष्टि में सर्वथा नूतन द्रव्य उत्पन्न नहीं किया जा सकता—जिसे हम नूतन कहते हैं, वह वस्तुत: नूतन न होकर किसी पुरातन तत्व का ही संशोधित, परिवर्तित या विकसित रूप होता है। इस प्रकार अनुपलब्ध की सत्ता के लिये उपलब्ध की सत्ता अनिवार्य ठहरती है। परम्परा इसी अर्थ में सार्थक एवं अनुपेक्षणीय सिद्ध होती है।

प्राय: परम्परा की तुलना मूँगे की चट्टान से की जाती है, जो निरन्तर विकासमान होती है और उसका हर कीट नए मूँगे का निर्माण कर उसकी वृद्धि में अपना योग देता है। पुराने और जर्जर मूँगों का स्वत: विध्वंस होता रहता है और चट्टान पुरातन होकर भी नित्य नूतन बनी रहती है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि टी० एस० इलियट ने परम्परा को 'कालातीत का बोध' (सेंस ऑव द टाइमलेस) कहा है। यद्यपि इलियट परम्परा (ट्रेडीशन) शब्द को लांछित मानता है, क्योंकि उसमें पुरानेपन की बू आती है और उससे अगतिशीलता टपकती है, परन्तु उसकी यह मान्यता भी बड़ी महत्वपूर्ण है कि काव्य के उस प्रौढ़तम मौलिक अंश में भी, जिसे हम व्यक्तिगत कहकर पुकारते हैं, अतीत के कवि और कलाकार अज्ञात रूप से अपनी अमरता प्रमाणित करते हैं। वस्तुत: परम्परा किसी भी भाषा के साहित्य का मेरुदण्ड होती है। साहित्य का पुष्ट होना इस मेरुदण्ड की पुष्टि पर ही निर्भर करता है। किसी भी समर्थ साहित्यकार के लिये परम्परा का सर्वथा नकार सम्भव ही नहीं है। नया साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती साहित्यकार से कुछ भिन्न एवं विशिष्ट अवश्य होता है और इसी कारण उसे सर्जक भी स्वीकार किया जाता है किन्तु वह अपने पूर्ववर्ती साहित्यकार का ऋणी भी अवश्य होता है। एक उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी। निश्चय ही बाल्मीकि, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त, निराला एवं नरेश मेहता आदि राम-काव्य के विभिन्न कालों के कवि अपना-अपना कुछ वैशिष्ट्य अवश्य रखते हैं, उनकी मानसिक भूमि भिन्न अवश्य है किन्तु कोई ऐसा बिन्दु भी अवश्य विद्यमान है, जहाँ पहुँचकर ये सब एक हो जाते हैं। बाल्मीकि को नरेश मेहत्ता से जोड़ने वाला वह सूत्र ही परम्परा है। अत: कहा जा सकता है कि 'परम्परा' शब्द पुरातन, रूढ़ि अथवा बासी का पर्याय नहीं है, बल्कि उसमें एक सातत्य विद्यमान है, जो उसे निरन्तर नया एवं ताजा बनाये रखता है।

३. प्रयोग की आवश्यकता :

परम्परा को रूढ़ि बनने से बचाने के लिये ही प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। प्रयोग साहित्य की अजस्र प्रवहमान धारा में नया वेग उत्पन्न करता है, उसे

नई शक्ति देता है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने प्रयोग के विषय में उचित ही लिखा है—"प्रयोग नये तथ्यों, उपकरणों एवं नई राहों का अन्वेषण है, नये युग-बोध की सम्पृक्ति है। पुनरावृत्ति और जूठन के दोष से मुक्ति है। विवेक रखते हुए भिन्नता को स्वीकार करने की क्षमता है, नए अनुभव क्षेत्रों को उद्घाटित करने की शक्ति है और सबसे बढ़कर उसके पास वह अन्तर्दृष्टि (विजन) है जो हमें जीवन को नये माध्यमों से देखने की प्रेरणा देता है।" कविता के सम्बन्ध में विचार करते हुए अज्ञेय ने प्रयोग को दुहरा साधन कहा है। उन्हीं के शब्दों में—"एक ओर तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।" उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रयोग कवि की अनुभूति तक पहुँचने के लिये ही नहीं, बल्कि उस अनुभूति की संप्रेषण-प्रक्रिया को भी जानने का साधन है।

४. परम्परा और प्रयोग का पारस्परिक सम्बन्ध

प्रयोग और परम्परा गतिशील साहित्य के अभिन्न अंग हैं। ये परस्पर अविच्छिन्न हैं। प्रयोग परम्परा के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। आज का प्रयोग कल की परम्परा बन जाता है। यदि प्रयोग में परम्परा बनने का सामर्थ्य नहीं है तो वह निष्फल ही सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में लक्ष्मीकांत वर्मा के इन शब्दों को प्रस्तुत किया जा सकता है—"प्रत्येक प्रयोग कालान्तर में परम्परा बन जाता है, इसलिये जिस परम्परा में आगे प्रयोग करने की प्रेरणा निहित नहीं होती, वह उतनी ही निरर्थक होती है, जितना कि वह प्रयोग जो नई परम्पराएँ स्थापित करने में असमर्थ होता है।" प्रयोग स्वयं में साध्य नहीं हो सकता, वह केवल साधन मात्र है। जहाँ प्रयोग केवल प्रयोग ही बनकर रह जाता है, वहाँ वह साहित्य में कुछ नया नहीं जोड़ पाता। हिन्दी के नए कवियों में ऐसे अनेक प्रयोगवादी कवि मिलेंगे, जिनके अनेक प्रयोग केवल प्रयोग ही बनकर रह गए हैं। उदाहरण के लिये नकेन वादियों की अनेक कविताओं को प्रस्तुत किया जा सकता है। जहाँ कविता को रेखागणितीय त्रिभुज एवं चतुर्भुज में ढालने का यत्न किया गया है, वहाँ वह केवल 'प्रयोग के लिये प्रयोग' ही सिद्ध हुआ है।

कभी-कभी परम्परा के नाम पर मात्र जड़ता को ही गले से चिपटाये रखने का प्रयोग किया जाता है। यह जड़ता साहित्य को क्या दे पायेगी, इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में इस प्रश्न को उठाया है। उन्होने परम्परा की जड़ता के प्रशंसकों एवं प्रयोग के निंदकों को सम्बोधित करते हुए लिखा है—"जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिये परम्परा की दुहाई देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा, कम से कम कवि के लिये, कोई ऐसी पोटली बाँधकर रखी हुई चीज नहीं है जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले। परम्परा का कवि के लिये कोई अर्थ नहीं है, जब तक वह इतना गहरा संस्कार नहीं

बन जाती कि चेष्टा-पूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना आवश्यक न हो जाये।" कहने का अभिप्राय यह है कि परम्परा ऊपर से लादी गई कोई वस्तु नहीं वरन् हमारे भीतर संस्कार रूप में रची-पची चीज है।

विरोध और प्रतिक्रिया परम्परा के सहज विकास के ही सूचक हैं। कभी-कभी तो परम्परा के विकास के लिए विरोध आवश्यक ही हो उठता है, बशर्ते विरोधकर्त्ता की दृष्टि रचनात्मक हो। विरोध के लिये विरोध और प्रतिक्रिया के लिये प्रतिक्रिया से तो परम्परा को कुछ प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु सहज रूप में उपस्थित हुई प्रतिक्रिया एवं विरोध परम्परा को जड़ होने से अवश्य ही बचाते हैं। अतः विरोध और प्रतिक्रिया द्वारा परम्परा मरती नहीं, वरन् जीवन्त भी बनती है। परम्परा के पुराने या बासी पड़े अंग के स्थान पर युग-धर्म को वाणी देने तथा परम्परा का सहज अंग बनने में समर्थ प्रयोग को यदि विद्रोह द्वारा भी प्रतिष्ठित किया जाता है तो भी वह सार्थक है, ग्राह्य है। कारण यह है कि कोई भी धारा अनिश्चितकाल तक प्रयोग अथवा विद्रोह नहीं कर सकती। डॉ० रामरतन भटनागर ने उचित ही लिखा है— "यह निश्चय है कि कोई भी कवि अथवा काव्यधारा अनिश्चित काल के लिये प्रयोग नहीं कर सकते। कहीं-न कहीं प्रयोग को समाप्त होना है और उसे प्रयोग की ड्योढ़ी लाँघकर परम्परा बनना है। परम्परा बनकर ही वह नए प्रयोगों के लिये चुनौती बन सकेगा और इस प्रकार नए विद्रोह उकसायेगा। परम्परा और प्रयोग का यही चक्र काव्य और कला के भीतर प्रगति को जन्म देता है।"

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रयोग और परम्परा शब्द और अर्थ की भाँति अविच्छिन्न हैं। प्रयोग के अभाव में परम्परा को गले लटकाये रहना किसी भी जीवन्त साहित्य के लिये श्रेयस्कर सिद्ध नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार पुष्ट परम्परा का आधार ग्रहण किये बिना प्रयोग की कोई सार्थकता नहीं है। समर्थ साहित्यकार अपने युग का होकर भी केवल अपने ही युग का होकर नहीं रह जाता, वह युगों-युगों का साहित्यकार होता है। वह वर्तमान को जीकर भी एक ही साथ अतीत एवं भविष्य को भी जीने की क्षमता रखता है। पुरखों के कन्धों पर खड़ा होकर ही वह वर्तमान विश्व जीवन को देखता है। विद्वानों का विचार है कि साहित्यकार की मौलिक से मौलिक सर्जना में भी उनकी संस्कृति एवं जाति का सहस्रों वर्षों का इतिहास साँस लेता रहता है। डॉ० रघुवंश के शब्दों में—"घोर से घोर व्यक्तिवादी अपने चिन्तन के शुद्ध क्षण, अनुभूति की असंपृक्त स्थिति या कल्पना की असंबद्ध उड़ान के निरपेक्ष से निरपेक्ष क्षण को मानव-इतिहास की चिरन्तन प्रवहमान धारा से असम्बद्ध करने का दावा नहीं कर सकता।" स्पष्ट है कि साहित्य का कुशल से कुशल प्रयोक्ता भी अपनी परम्परा को आत्यन्तिक रूप से नहीं नकार सकता। परम्परा को जीवन्त बनाने के लिये यदि प्रयोग की अपेक्षा है तो प्रयोग की सार्थकता भी परम्परा का अविच्छिन्न अंग बनने में ही है।

५. हिन्दी की प्रयोगशील कविता : कितनी परम्परा-मुक्त ?

प्रस्तुत चर्चा और भी अधिक सार्थक हो सकती है, यदि हम किसी ठोस उदाहरण को सम्मुख रखकर इस पर विचार कर सकें। यों तो प्रायः प्रत्येक युग का अच्छा साहित्यकार प्रयोगशील होता ही है, यदि किसी रचना में कोई नयापन नहीं है तो वह रचना भी है, यही संदेहास्पद हो उठता है; किन्तु हिन्दी में प्रयोगशील कवियों की एक पूरी पीढ़ी ही सामने आई। इन तथाकथित प्रयोगवादी कवियों में से कुछ ने अपनी कुछ कविताओं में परम्परा को आत्यन्तिक रूप में नकारने का प्रयत्न किया और नये प्रयोगों को साध्य रूप में स्वीकार किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे कवि तथा उन कवियों तथा अन्य कवियों की भी प्रयोग को साध्य मानकर लिखी गई कविताओं का काल की इस छोटी-सी अवधि में ही महत्व नगण्य हो गया है तो काल के सुदीर्घ और विस्तृत फलक पर उन कविताओं का नामोनिशान भी बच रहेगा, यह भी कैसे स्वीकार किया जा सकता है। जो कुछ अधिक विवेकशील कवि हैं, उन्होंने प्रयोग को साधन रूप में ही स्वीकार किया है और परम्परा की पुष्ट जमीन से अपने कदमों को नहीं हटने दिया है। अकारण नहीं है कि पिछले दिनों हिन्दी कविता में कभी परम्परा के विरोध के लिये, कभी केवल प्रतिक्रिया-स्वरूप और कभी नयेपन की झोंक में अ-कविता, सूर्योदयी कविता, अपरम्परावादी कविता, युयुत्सावादी कविता, विद्रोही कविता, बीट कविता, नवप्रगतिवादी कविता एवं ताजा कविता आदि ने जन्म लिया और पत्र-पत्रिकाओं के एक-दो अंकों की शोभा बढ़ाकर, एक सीमित दायरे में चर्चित होकर समाप्त भी हो गईं। निश्चय ही इस सबसे एक लाभ अवश्य हुआ, हिन्दी कविता की परम्परा से रूढ़ एवं जड तत्व को समाप्त करने में इन आन्दोलनों ने कुछ न कुछ योग अवश्य दिया है। अब हिन्दी की नई कविता को हिन्दी कविता की परम्परा का ही सहज विकास स्वीकार किया जाने लगा है। नयी कविता कितनी परम्परावादी कविता है, यह एक अलग किन्तु चर्चा का महत्वपूर्ण विषय है, जिसकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं। हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि नई कविता ने परम्परा में बहुत कुछ जोड़ा है और उसके बहुत कुछ रूढ़ एवं बासी तत्वों को तोड़ा है। लक्ष्मीकांत वर्मा एवं विजयदेव नारायण साही आदि कवियों ने जहाँ अपनी कुछेक कविताओं अथवा कथनों में परम्परा का विरोध किया है, वहाँ केवल वे परम्परा के निर्जीव एवं रूढ़ तत्वों का ही विरोध करते हैं, उसके जीवन्त तत्वों का नहीं। जब भी नये कवि ने परम्परा के अन्ध-विरोध का प्रयत्न किया है, वह पराजित हुआ है और स्वयं को उसने डॉ० जगदीश गुप्त की भाँति बड़े भारी द्वन्द्व में पाया है—

ढोऊँगा कहाँ तक
परम्परा व्यर्थ का बोझ है
दे दूँ उसे
किसी योग्य याचक को,
ऐसा सोच

ऊपर को उठ आया
दायाँ हाथ
पर ज्यों ही देने को हुआ दान
सहसा मुझे
याचक पहचाना लगा
रोशनी में देखा
अरे ! वह तो—
मेरा ही-बायाँ हाथ था ।

६. निष्कर्ष :

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जीवन में किसी के लिये भी अपने पूर्व संस्कारों से मुक्ति पाना कठिन है, उसी प्रकार सहस्रों वर्षों की साधना से निर्मित साहित्यिक संस्कारों से सर्वथा मुक्त हो पाना कठिन है, किन्तु जिस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण केवल उसके पूर्व अर्जित संस्कारों के बल पर ही सम्भव नहीं है, इसके लिये युग की हवा और युग का पानी भी चाहिये, उसी प्रकार साहित्य की रचना केवल परम्परा के बल पर ही सम्भव नहीं है । उसके लिये युगानुकूल नये प्रयोगों की आवश्यकता होती है । प्रयोग जहाँ तक परम्परा को जड़ होने से बचाता है, वहीं तक श्लाघनीय और आवश्यक है, प्रयोग के लिये किया गया प्रयोग चमत्कार उत्पन्न भले ही करे, सत्साहित्य का निर्माण नहीं कर सकता ।

—: ० :—

साहित्य और समाज

१. साहित्य के अर्थ एवं उसकी परिभाषाओं में झाँकता समाज :

साहित्य का समाज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसका आभास 'साहित्य' शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ एवं उसकी अधिकांश परिभाषाओं से होता है। साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति एक तो 'स + हित' के रूप में की जाती है। जिसका अर्थ है— हित सहित, अर्थात्—साहित्य में हित की भावना है। हित किसका ? निस्सन्देह पाठक का उसके रचियता का, मानव जाति का और अन्तत: सम्पूर्ण सृष्टि का। दूसरी व्युत्पत्ति 'सहितस्य भाव साहित्यम्' के रूप में की जाती है, जिसका अर्थ है—जिसमें सहित का भाव हो। समाज के सन्दर्भ में विचार करने पर यह 'सहित' शब्द बड़ा अर्थवान है, जिससे हित सहित वाला उक्त अर्थ तो प्रकट होता ही है, 'साथ के भाव वाला' अर्थ भी प्रकट होता है। साथ, यानी सम्पूर्ण कलाओं, विद्याओं और ज्ञान-विज्ञान के तमाम साधनों का साथ और सृष्टि के सम्पूर्ण जीवों, पदार्थों और उपकरणों का साथ। साहित्य तमाम कलाओं और विद्याओं को अपने अन्दर समेट लेता है और इसके घेरे में सम्पूर्ण सृष्टि भी आ जाती है। स्पष्ट है कि 'साहित्य' के व्युत्पत्तिगत अर्थ के अनुसार साहित्य का मानव-समाज से और समाज का साहित्य से असंपृक्त रहना असम्भव है। 'साहित्य' की अनेक परिभाषाएँ भी इस तथ्य की पुष्टि करती हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्य भामह ने 'शब्द और अर्थ के सम्मिलन' को काव्य कहा है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये कि यहाँ 'काव्य' शब्द का प्रयोग 'साहित्य' के संकुचित अर्थ के लिये ही हुआ है। शब्द और अर्थ के सम्मिलन पर यदि गहराई के साथ विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि यहाँ 'शब्द' का अभिप्राय अभिव्यक्ति पक्ष से है और 'अर्थ' का कथ्य अथवा अनुभूति पक्ष से। इस आधार को ग्रहण करते हुए कहा जा सकता है कि साहित्य किसी कथ्य अथवा अनुभूति की अभिव्यक्ति है। यह अनुभूति मानव के आन्तरिक भाव और बाह्य साँसारिक तथ्य के आत्मीकरण का ही नाम है। शब्द इसी अनुभूति—अर्थ—को पाकर साहित्य बनता है और उससे इस प्रकार संपृक्त हो उठता है कि दोनों का–शब्द और अर्थ–का भिन्नत्व समाप्त हो जाता है—जैसे जल और लहर का—'गिरा अरथ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न'। इन बाह्य तथ्यों के संकलन का क्षेत्र समाज ही हो सकता है। इसे अभिव्यक्ति देने वाले शब्द का संप्रेषण भी समाज में ही होता है। समाज के अभाव

में शब्द की सार्थकता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसी प्रकार मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ आदि भारतीय संस्कृत के आचार्यों की प्रसिद्ध परिभाषाओं का विश्लेषण किया जा सकता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि साहित्य और समाज एक दूसरे से अविच्छिन्न हैं। हिन्दी के आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जब जब कविता को 'हृदय की मुक्ति साधना के लिये मनुष्य की वाणी द्वारा किया गया शब्द विधान' कहते हैं, प्रसाद जी जब उसे 'श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा' मानते हैं अथवा पाश्चात्य काव्याचार्य मैथ्यू आर्नल्ड कविता को जब मूलतः 'जीवन की व्याख्या'—'पोयट्री इज एट बॉटम ए क्रिटिसिज्म ऑफ लाइव' कहते हैं तो वे साहित्य और समाज की इसी पारम्परिक संपृक्ति की ओर संकेत करते हैं।

२. साहित्य-प्रयोजन और समाज :

साहित्य का मूल प्रयोजन तो आनन्द की प्राप्ति को ही बतलाया गया है, जो पाठक या प्रमाता को समस्त सुख दु.ख, राग-द्वेष और स्व-पर के ज्ञान से परे जाकर ही प्राप्त होता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे ही 'हृदय की मुक्तावस्था' कहा है और काव्य-शास्त्र की शब्दावली में यही 'साधारणीकरण' की स्थिति है। स्पष्ट है, आनन्द के इन क्षणों में पाठक नितान्त अकेला होता है। आनन्द की अनुभूति उसे नितान्त व्यक्तिगत स्तर पर होती है। तब इस प्रयोजन की सिद्धि में समाज का क्या स्थान रह जाता है ? इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि पाठक को आनन्दावस्था तक पहुँचाने वाला साधन साहित्य है। आनन्द की यह सिद्धि योगादि की किसी वैयक्तिक साधना का परिणाम नहीं है, साहित्य का पठन अथवा श्रवण है और साहित्य में स हित' भाव अनुस्यूत है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जहाँ साहित्य केवल वैयक्तिक सुख दुःखों की अभिव्यक्ति करता है, वहाँ भी इन वैय-क्तिक अनुभूतियों के निर्माण में समष्टि अनुभूतियों का यत्किंकित् योगदान रहता ही है।

इस मूल प्रयोजन के अलावा भी आचार्यों ने काव्य के कुछ अन्य प्रयोजन स्वीकार किये हैं। साहित्य दर्पणकार ने साहित्य को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति का साधन बतलाया है। काव्यप्रकाशकार 'मम्मट' ने काव्य का प्रयोजन, पाठक को व्यक्तित्व के बन्धन से मुक्त करके नैसर्गिक आनन्द की स्थिति में पहुँचाने (सद्यः पर निर्वृत्तये) के साथ ही साथ यश देना, अर्थ की सिद्धि कराना, व्यवहार-ज्ञान कराना, अशिव की क्षति करना और कान्ता सम्मित उपदेश देना भी स्वीकार किया है। तुलसीदास ने भी कुछ इसी प्रकार की बात कही है —

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकहँ हित होई।

अर्थात्—कीर्ति, भणिति (काव्योक्ति) और ऐश्वर्य वही भला है, जो देवगंगा के समान सबका हित करने में समर्थ हो। उक्त वर्णित इन सभी प्रयोजनों में केवल मोक्ष को छोड़कर शेष किसी की भी सिद्धि समाज के अभाव में सम्भव नहीं है और न ही समाज के अभाव में उन सिद्धियों का कोई महत्व है।

साहित्य साहित्य के लिए—यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि साहित्य के उक्त प्रयोजनों को स्वीकार न करके 'कला-कला के लिये' का नारा लगाने वाले कलावादियों की भाँति यदि साहित्य का प्रयोजन भी केवल साहित्य-रचना को ही स्वीकार कर लिया जाय अथवा साहित्य को जीवन से पलायन करने का एक साधन मान लिया जाय अथवा उसे मात्र मनोरजन के साधन के रूप में स्वीकार किया जाय, जैसा कि समय-समय पर कुछ लोगों द्वारा स्वीकार किया जाता भी रहा है, तब साहित्य के संदर्भ में समाज की क्या उपयोगिता रहेगी ? इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि साहित्यकार समाज का एक संवेदनीय प्राणी होता है। उससे अनुत्तरदायी होने की आशा नहीं की जा सकती। जीवन से पलायन करने वाली किसी कला अथवा साहित्य का समर्थन जीवन जीना चाहने वाले किसी प्राणी द्वारा नहीं किया जा सकता। उसे भाटों, मदारियों और विदूषकों का वह खेल भी नहीं माना जा सकता, जो क्षणिक मनोरंजन करके चुक जाय। वस्तुतः 'साहित्य साहित्य के लिए' सिद्धांत में इतना ही बल है कि यह सिद्धान्त साहित्य पर साहित्येतर मूल्यों का लादा जाना स्वीकार नहीं करता। यह स्वीकार किया जा सकना चाहिये कि साहित्य न तो नीतिशास्त्र है, और न आचार शास्त्र और न ही कोई धर्मशास्त्र। अतः उससे नीति, आचार एवं धर्म विषयक मूल्यों की अभिव्यक्ति की माँग करना उचित न होगा किन्तु यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि साहित्यकार शून्य में रचना नहीं करता। उसके सम्मुख जीवन का व्यापक रूप रहता है। जीवन के इस व्यापक रूप में यदि अनीति, अनाचार और अधर्म के लिए स्थान है तो नीति, आचार और धर्म के लिये भी है। साहित्य में यदि उनकी अभिव्यक्ति सहज रूप में होती है तो उनसे साहित्य नीति, आचार अथवा धर्मशास्त्र नहीं बन जाता, क्योंकि साहित्य में इनकी अभिव्यक्ति भी कलात्मक ही होगी। हाँ, यदि साहित्यकार से इन मूल्यों की अभिव्यक्ति का आग्रह किया जाता है अथवा उस पर किसी प्रकार का दबाव डाला जाता है, तब वह साहित्य साहित्य ही नहीं रहेगा। साहित्य जीवन के लिए है। उसे सुन्दर, जीने योग्य एवं सार्थक बनाने के लिए है। इस सन्दर्भ में कला के सम्बन्ध में कही गई मैथिलीशरण गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियों को पुनः-पुनः स्मरण किया जा सकता है—

मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

३. साहित्य की रचना स्वान्तः सुखाय अथवा परजनहिताय :

साहित्य समाज के प्रति प्रतिबद्ध है अथवा व्यक्ति के प्रति अथवा साहित्य के प्रति अथवा किसी के प्रति भी नहीं ? हम कह चुके हैं कि साहित्यकार इतना अनुत्तरदायी व्यक्ति नहीं हो सकता कि वह किसी के प्रति भी प्रतिबद्ध नहीं हो। साहित्य के प्रति वह प्रतिबद्ध है किन्तु मात्र साहित्य के प्रति ही नहीं। वह व्यक्ति के प्रति प्रति-

बद्ध है, समाज के प्रति भी। व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्ध रहकर भी वह समाज के प्रति प्रतिबद्ध रह सकता है, रहता है। शर्त केवल यही है कि यह प्रतिबद्धता ऊपर से आरोपित नहीं होनी चाहिये। यहीं यह बात भी विचारणीय है कि क्या साहित्य की रचना स्वान्तःसुखाय ही की जाती है अथवा परजनहिताय। कभी तुलसीदास ने अपने 'मानस' की रचना को स्वान्तसुखाय कहा था—'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा'। पर क्या तुलसी का 'मानस' एक स्वान्तःसुखाय रचना ही है? निश्चय ही नहीं। तब तुलसी ने अपनी रचना को स्वान्तःसुखाय क्यों कहा? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर तत्कालीन परिस्थितियों में खोजा जा सकता है। उस समय कुछ रीतिकालान कवियों की कविता राजदरबार की स्तुति में लिखी जा रही थी। यदि तुलसी चाहते, उन्हें भी किसी न किसी बादशाह अथवा राजदरबार का संरक्षण प्राप्त हो सकता था किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। उनकी दृष्टि में केवल भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लाभ में, किसी लौकिक व्यक्ति की प्रशसा में कविता लिखना सरस्वती का अपमान करना था—

कीन्हेसि प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

अतः उन्होंने 'परान्तःसुखाय' रचना न करके 'स्वान्तःसुखाय' करने की घोषणा की, जो निश्चय ही 'परजन हिताय' का विरोध नहीं करती। कोई भी रचना साहित्यकार को तो सुख देती ही है, अन्यथा वह साहित्य-रचना में प्रवृत्त ही क्यों हो? किन्तु उसका अपना सुख परजनहिताय का साधक होता है, उसका बाधक नहीं। तुलसी का 'रामचरितमानस' इसका सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

४. समाज का साहित्य पर प्रभाव :

साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है। जिस समाज में वह रहता है, जिस युग में वह साँस लेता है, उसका प्रभाव उसके चेतन-अचेचन पर पड़ता ही है, चाहे वह इस प्रभाव से स्वयं को बचाने की कितनी भी कोशिश क्यों न करे। हर साहित्यकार अपने समाज की, अपने युग की उपज होता है। समाज और युग की हवा में व्याप्त अणु-परमाणुओं से उसकी चेतना का निर्माण होता है। साहित्यकार के साहित्य को शक्ति ही तब प्राप्त होती है, जब उसे सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है। सामाजिक स्वीकृति के अभाव में साहित्य केवल अरण्यरोदन बनकर रह जाता है। साहित्य पर समाज के इस जबर्दस्त प्रभाव का अर्थ यह कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि वह प्रभाव समाज के अनुकूल ही हो। वह सामाजिक मान्यताओं, विश्वासों और भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल भी हो सकता है। उन पर करारी चोट भी हो सकता है। कबीर ने अपने युग एवं समाज के प्रचलित विश्वासों, धारणाओं एवं रूढ़ियों पर जो करारी चोट की है, उससे हम सभी अवगत हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अपने युग की अनेक मान्यताओं के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगाया और उनका डट कर विरोध किया। इस प्रकार साहित्यकार चाहे अनुमोदन करे चाहे विरोध,

मूल बात यह है कि समाज और युग के प्रभाव से वह स्वयं को सर्वथा मुक्त नहीं रख सकता। किसी भी भाषा के साहित्य से इसकी पुष्टि की जा सकती है। उदाहरण के लिये, यदि हम हिन्दी साहित्य पर ही विचार करें तो पायेंगे कि चाहे वह वीरगाथा कालीन चारणों और भाटों का काव्य हो, चाहे जैन मुनियों और नाथ सिद्धों का। चाहे भक्तिकालीन कवियों का और चाहे रीतिकालीन अथवा आधुनिक युग के कवियों का, अपने युग और समाज का उन पर जबर्दस्त प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। इस प्रभाव के कारण ही समकालीन साहित्यकारों में वैयक्तिक विशिष्टताओं के बावजूद कुछ सामान्य विशेषतायें उभरा करती हैं। एक युग के साहित्य की प्रवृत्तियाँ कुछ एक ही प्रकार की हुआ करती हैं। इसी के आधार पर साहित्यकार और साहित्यिक वृत्ति की अपनी ऐतिहासिक अस्मिता का निर्माण होता है और इसी आधार पर साहित्य के इतिहास का काल-खंड पर आधारित वर्गीकरण सम्भव हुआ करता है।

साहित्य समाज का दर्पण—यहीं यह बात भी विचारणीय है कि क्या साहित्य समाज का दर्पणमात्र होता है? क्या किसी युग के साहित्य में तत्कालीन समाज का यथातथ्य विवरण होना आवश्यक है? हमारा उत्तर है—नहीं। साहित्यकार केवल फोटोग्राफर नहीं होता कि समाज की स्थिति का यथातथ्य चित्र खींच दे, वह उससे कुछ बढ़कर भी होता है। प्रसिद्ध रूसी आलोचक बेलिन्स्की ने एक स्थान पर लिखा है—"कला सम्भावित यथार्थ का रचनात्मक रूपान्तर है।" यानी केवल यथार्थ का रूपान्तर नहीं, वरन् सम्भव हो सकने वाले यथार्थ का चित्र भी है और केवल यथार्थ का ही क्यों, वह आदर्श की ओर भी इंगित कर सकता है। साहित्यकार अपने युग के समस्त सुख दुःख, आशा-आकांक्षाओं, मूल्य और भावनाओं का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके यह भी इंगित करता है कि उसकी भावी-दिशा क्या होनी चाहिये। उसका ईप्सित आदर्श क्या होना चाहिये। वस्तु स्थिति से अवगत कराना ही केवल साहित्य-कार का लक्ष्य नहीं होता अपितु वह उस स्थिति तक पहुँचने के कारणों की भी गह-राई में जा सकता है और उसको सुन्दरतर रूप देने के लिये भावी-दिशा का भी संकेत कर सकता है, करता है। समाज का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करने वाले साहित्य का ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से चाहे जितना महत्त्व हो, साहित्यिक दृष्टि से उसका अधिक महत्व नहीं हो सकता। कारण, साहित्य अपने युग का न होकर युगों-युगों का भी होता है। एक देश का होकर भी सर्वदेशीय होता है। उसे अपने साहित्य में केवल युगानुकूल जीवन-मूल्यों को ही वाणी देना अभीष्ट नहीं होता, बल्कि जीवन के शाश्वत मूल्यों की भी अभिव्यक्ति करना होता है। वह देश-काल के मूल्यों में ही उलझा नहीं रहता अपितु उनका अतिक्रमण करने में भी सुख की अनुभूति करता है।

५. साहित्य का समाज पर प्रभाव :

साहित्य में समाज को प्रभावित करने की अद्‌भुत शक्ति होती है। यों साहित्य-

कार न कोई उपदेशक है, न धर्म तत्ववेत्ता और न कोई नीति नियामक ही किन्तु समाज पर उसका प्रभाव निस्सन्देह, कोरे उपदेशक, कोरे धर्मवेत्ता और कोरे नीति-नयामक से कहीं बढ़कर पड़ता है, जिसका कारण उसकी साहित्य-कृति की रचनात्मकता में निहित होता है। साहित्यकार का उपदेश भी कान्तासम्मित होता है, जिसे व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर पाता। वह कुनैन को भी शर्करा में मिलाकर खिलाता है। साहित्यकार शब्दों का सम्यक् ज्ञाता और उनका सफल प्रयोक्ता होता है। शब्दों का नपा तुला एवं कलात्मक प्रयोग उसकी वाणी को प्रभावकारी एवं सार्थक बनाता है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने एक निबन्ध में उचित ही लिखा है—"साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप तलवार और बम के गोले में भी नहीं पाई जाती।" अनेक उदाहरण देकर द्विवेदी जी के इस कथन की पुष्टि की जा सकती है। रूसो और वाल्टेयर के लेखों ने फ्रांस में जनक्रान्ति को सम्भव बनाया। मार्क्स और लेनिन के साहित्य ने रूस में खूनी क्रान्ति को जन्म दिया। कबीर ने अपनी अटपटी एवं चुभती उक्तियों द्वारा समाज में व्याप्त बाह्याडम्बरों पर जिस प्रकार करारी चोट की और निम्न वर्णों के लोगों में जो नया आत्म-विश्वास फूँका, उससे कौन अवगत नहीं है ? तुलसी के 'रामचरितमानस' ने उत्तरी भारत के संस्कारों पर जो जबर्दस्त प्रभाव छोड़ा है और जो आज भी प्रभावित कर सकने में समर्थ है, निश्चय ही वह साहित्यकार की वाणी का ही प्रभाव है। बिहारी के केवल एक दोहे ने किस प्रकार अपनी नव-विवाहिता पत्नी के प्रति राजा जयसिंह के मोहाधिक्य को दूर फेंक दिया, यह हम सब लोग जानते हैं। स्व० मैथिलीशरण गुप्त जी की प्रथम कृति 'भारत-भारती' ने पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े भारतवासियों पर जो जादू किया, उसको अपने लिये अत्यधिक घातक समझकर अंग्रेजों ने उसकी प्रतियों को ही जब्त कर लिया। स्व० माखनलाल चतुर्वेदी की निम्नलिखित पंक्तियों ने न जाने मातृ-भूमि की आजादी के कितने दीवानों को मातृभूमि के चरणों में अपना शीश चढ़ाने के लिये प्रेरित किया—

मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

दिनकर जी की गर्जना को कौन भूल सकता है ? इसी प्रकार के उदाहरण अन्य साहित्यों से भी दिये जा सकते हैं। संस्कृति के निर्माण में भी साहित्य अपनी प्रमुख भूमिका निभाता है। वस्तुतः जिस जाति का अपना कोई साहित्य नहीं, विश्व में उसे हीन दृष्टि से देखा जाता है। सामाजिक और सांस्कृतिक ह्रास के दिनों में साहित्यकार जाति और देश को पतन के गर्त में गिरने से रोकता है और भविष्य दृष्टा की भाँति उसका पथ प्रदर्शन करता है।

६. निष्कर्ष : साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध :

उक्त सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि साहित्य और समाज का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। समाज के अभाव में किसी प्रकार के साहित्य की रचना सम्भव नहीं है और साहित्य के अभाव में समाज अधूरा है। उसकी स्थिति उस फूल जैसी हैं, जिसमें चमक दमक तो है किन्तु सुगन्धि नहीं है। साहित्य के व्युत्पत्तिगत अर्थ, उसकी परिभाषाओं से भी समाज के साथ उसके निकट सम्बन्ध की पुष्टि होती है। साहित्य के प्रयोजनों में भी समाज झाँकता दृष्टिगोचर होता है। साहित्य ने सदैव समाज के सुख दु:खों, राग-द्वेषों, आशा-आकाँक्षाओं और मूल्य-मर्यादाओं को वाणी दी है। पतन की ओर उन्मुख समाज को सन्मार्ग दिखाया है। सन्मार्गगामी समाज को और अधिक ऊँचा उठने की प्रेरणा दी है। सामाजिक विकृतियों को उखाड़ फेंका है और अन्ततः उसकी संस्कृति को समृद्ध करने में अपना अपूर्व योगदान किया है। समाज ने भी साहित्य-सर्जन के लिये केवल उर्वरा भूमि ही प्रदान नहीं की अपितु समर्थ साहित्यकारों को अपने मस्तक पर बिठाकर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है। उन्हें समुचित यश और अर्थ प्रदान कर सत्साहित्य के निर्माण के लिये प्रेरित किया है।

—: ० :—

४२ हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण

१. प्रकृति : मानव की चिर सहचरी :

अनादि काल से प्रकृति मानव की सहचरी रही है। सृष्टि के प्रारम्भ में मानव ने प्रकृति की खुली गोद में आँखें खोली। उसी की अंगुली पकड़कर अपनी सभ्यता का विकास किया। प्रकृति ने भी अपनी अनन्त सम्पदाओं का कोश उसके लिये खोल दिया। उसे मुक्त विचरण के लिये, विकास के लिये खुला आकाश ही प्रदान नहीं किया, बल्कि मार्ग के अंधकार को भगाने वाले सूर्य का प्रखर प्रकाश भी दिया। साँस लेने के लिये ताजा वायु भी प्रदान किया। मधुर जलकणों से उसकी शुष्कता को दूर करने का प्रयत्न किया। उसे झरने का मादक संगीत, नदी की अविरल प्रवहमानता, पक्षियों की स्वच्छन्द उड़ान, पर्वत की ऊँचाई और कठोरता, सागर की गहराई और विशालता, धरती का धैर्य, रात्रि के स्वप्न और उषाकाल की इन्द्रधनुषी कल्पनाएँ प्रदान कर उसकी जिजीविषा को अधिक व्यापक, पूर्ण और तीव्र से तीव्रतर बनाया। समय-समय पर वायुमंडल में चलने वाले भयंकर वात्याचक्रों, बादलों से होने वाली करका-वृष्टि, सागर में उपस्थित होने वाले भीषण ज्वार और धरती की पपड़ी को तोड़कर आग उगलने वाले ज्वालामुखियों को प्रकट कर, मानव को अपनी प्रतिकूल शक्तियों से निरन्तर टकराने और दुर्द्धर्ष संघर्ष कर सकने की अद्भुत क्षमता प्रदान की। पेट की भूख को शांत करने के लिये उसने धरती से फसल उगाने के लिये मनुष्य को प्रेरित किया और प्रकाश, वायु, वर्षा, आग आदि प्रदान कर फसल उगाने में उसकी भरपूर सहायता भी की। मनुष्य ने सूर्य, मरुत, इन्द्र, अग्नि एवं वरुण आदि प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर पहले इन्हें पूजना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे इन पर विजय प्राप्त करने की लालसा उसमें जगी। आज बीसवीं शताब्दी में स्थिति यह आ पहुँची है कि मानव ने धरती आकाश, समुद्र एव अन्तरिक्ष को एक सीमा तक अपनी मुट्ठी में बंद कर लिया है और वह इन प्राकृतिक शक्तियों से मनचाहा काम लेने में सफल हो गया है, किन्तु उसको यह सफलता एक सीमा तक ही मिली है। अभी वह सम्पूर्ण प्रकृति पर विजय प्राप्त करने म सफल नहीं हुआ। प्रकृति की बिल्ली ने इस नर सिंह को बहुत सारे दाँव-पेचों से अवगत करा दिया है किन्तु पेड़ पर चढ़ने वाले अपने अतिम दाँव से अभी उस को वंचित रखा है। फलस्वरूप, अभी भी प्रकृति मानव के लिये चिर विस्मय का कारण बनी हुई है, अभी भी

वह जीवन की अनेक जटिलताओं से त्राण पाने के लिये प्रकृति से सीख लेता है, अभी भी वह प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य पर मुग्ध होकर गुनगुना उठता है और काव्यों तथा महाकाव्यों की रचना कर डालता है।

२. प्रकृति : काव्य का चिरंतन प्रेरणा स्रोत

प्रकृति के कण-कण में जैसे कविता बिखरी हुई है। सौन्दर्य का सतत अन्वेषी कवि, प्रकृति के राशि-राशि सौन्दर्य पर अनन्तकाल से रीझता चला आ रहा है और उस बिखरी कविता को समेटने का प्रयत्न करता रहा है। आकस्मिक नहीं है कि विश्व का तमाम प्रारम्भिक काव्य प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को सम्बोधित करके ही लिखा गया है। अपने यहाँ वेद-सूक्तों की रचना को इस कथन के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। व्याध के द्वारा वाण से कामासक्त क्रौंच युगल में से एक का वध करना प्रकृति के क्षेत्र में अनुचित हस्तक्षेप था, जिसने आदि कवि बाल्मीकि की सुप्त कविता को जगा दिया। संसार की श्रेष्ठ कविता रचना में प्रकृति का बहुत बड़ा योगदान होता है। जैसी जहाँ की प्रकृति, वैसे वहाँ के कवि का सौन्दर्य-बोध। अरब के रेगिस्तान के कवि रेत के ऊँचे-ऊँचे टीलों, खजूरों के वृक्षों और ऊँटों की चाल में ही अप्रतिम सौन्दर्य के दर्शन करते हैं तो टुण्ड्रा निवासी बर्फ की श्वेतता, काई एवं बारहसिंगों की सुन्दरता पर ही मुग्ध होते देखे जाते हैं। कवि अनंतकाल से अपनी अमूर्त्त कल्पनाओं, अनुभूतियों और संवेदनाओं को प्रकृति के विविध उपकरणों द्वारा मूर्त करता आया है। कभी वह उससे विस्मित हुआ है, कभी उद्दीप्त हुआ है, कभी उसने प्रकृति से शिक्षा प्राप्त की है, कभी उसके अनन्त सौन्दर्य को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न किया है और कभी उसने प्रकृति के साथ अपने जीवन का अद्‌भुत तादात्म्य स्थापित किया है। इस प्रकार प्रकृति अपने विविध रूपों में काव्य का चिरंतन प्रेरणा स्रोत रही है।

३. हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण : कालगत वैशिष्ट्य :

यह कहा जा चुका है कि प्रकृति अनादि काल से कविता की मुख्य प्रेरक शक्ति रही है। हिन्दी की लगभग हजार वर्षों की कविता में वह विभिन्न रूपों में कवियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती रही है। हिन्दी का आदिकाल, जिसे वीरगाथा काल कहकर भी पुकारा गया है, वीर प्रशस्ति काव्य का युग रहा है। कवि ने कवि के साथ-साथ अपने आश्रयदाता के मार्ग-दर्शन एवं योद्धा का भी अतिरिक्त दायित्व संभाला है। इस काल में तलवारों की खनखनाहट के अतिरिक्त कवियों को पायल की झंकार भी सुनाई पड़ती थी। इन वीरगाथाकारों के अतिरिक्त इस काल में दूसरे प्रकार के कवि बौद्ध सिद्ध अथवा जैन कवि थे, जिनकी सरस्वती अपनी गूढ़ साधनाओं की सांकेतिक अभिव्यक्ति में अथवा अपने मत या सम्प्रदाय से सम्बद्ध किसी नायक के चरित्र-गान में चुक रही थी। वस्तुतः यह वातावरण प्रकृति-चित्रण के बहुत अनुकूल नहीं था, फिर भी 'रासो' परम्परा के कुछ काव्यों में प्रकृति का उद्दीपन रूप में वणन हुआ है। भक्तिकाल में प्रकृति का वर्णन शिक्षिका, उपदेशिका, सांसारिक नश्वरता

बोध की ज्ञापिका, परम शक्ति की अभिव्यक्ति एवं भावनाओं को उद्दीप्त करने वाली शक्ति के रूप में हुआ है। कबीर ने सांसारिक नश्वरता का बोध कराने के लिए प्रायः प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का उपयोग किया है। यथा—

माली आवत देखि कै, कलियन करि पुकार।
फूली-फूली चुन लई, काल्हि हमारी बार।

अथवा

काहे री नलिनी तू कुम्हलानी।
तेरे ही नाल सरोवर पानी।

जायसी और तुलसी क्योंकि प्रबन्ध के कवि हैं, अतः उनके काव्य में प्रकृति के चित्रण के लिये अपेक्षाकृत अधिक अवकाश था, फिर भी इन दोनों ही कवियों में प्रकृति का शुद्ध वर्णन प्रायः कम ही मिलता है। जायसी में सरोवर अथवा समुद्र आदि का वर्णन है किन्तु वहाँ प्रकृति के ये उपकरण किसी अलौकिक शक्ति के ही रूप हैं। 'मानसरोदक खण्ड' में कवि ने सरोवर के कमलों, नीर, हस तथा मोतियों को क्रमशः पदमावत—खुदा—के ही नयन, शरीर, मुस्कान तथा दन्तावली बतलाया है—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नग हीर।

तुलसी के 'मानस' तथा अन्य काव्यों में वर्षा तथा शरद ऋतु का, चित्रकूट पर्वत का एवं पम्पासरोवर का वर्णन प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से उल्लेखनीय बतलाए जाते हैं किन्तु इन सभी प्रसंगों में कवि यदि चौपाई की एक अर्धाली में प्रकृति के किसी रूप का वर्णन करता है तो चट दूसरी अर्धाली में उससे कोई शिक्षा अथवा उपदेश निकाल डालता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पंक्तियों को देखा जा सकता है, जिसमें कवि का आग्रह उपमा द्वारा किसी सांसारिक तथ्य के बोध कराने पर अधिक रहा है, प्रकृति वर्णन पर कम—

बरषहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये।
× × × ×
दामिनि दमकि रहनि घन माही। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।

अथवा

हरित भूमि तृण संकुलित, समुझ परै नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद ते, लुप्त होई सदग्रन्थ।

सूरदास ने प्रकृति के उद्दीपन रूप का अधिक चित्रण किया है। उदाहरण के लिये—

'पिया बिनु साँपनि कारी रात' तथा—
'बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाला ज्यों भुंजै।'
जैसे प्रसिद्ध पदों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

रीतिकालीन कविता का केन्द्र बिन्दु नारी रही है। अतः प्रकृति का स्वच्छन्द चित्रण इन कवियों में बहुत ही कम मिलता है। हाँ, प्रकृति के उद्दीपक रूप के दर्शन यहाँ भी किये जा सकते हैं। 'षट् ऋतु-वर्णन' प्रसंग में कुछ कवियों ने कुछ अच्छे चित्र प्रस्तुत अवश्य किए हैं, जिनमें 'सेनापति' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन ऋतु वर्णन प्रसंगों में भी कवियों की चमत्कारिक प्रवृत्ति के दर्शन सर्वत्र किये जा सकते हैं।' सेनापति द्वारा किया गया बसंत-वर्णन का एक अंश प्रस्तुत है—

कूकि उठीं कोकिलान, गूँजि उठी भौंर भीर,
डोलि उठे सौरभ समीर सरसावने।
फूलि उठी लतिका लवंगन की लोनी-लोनी,
झूलि उठी डालियाँ कदंब सुख पावने॥

'बिहारी' का ग्रीष्म ऋतु वर्णन देखिये, जिसमें ग्रीष्म का प्रभाव वर्णित हुआ है—

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥

'देव' के प्रसिद्ध 'डारि द्रुम पालना बिछोना नव पल्लव के' कवित्त में बसंत का सुन्दर एवं सजीव मानवीकरण हुआ है। निम्नलिखित पंक्तियों में उद्दीपन रूप में किया हुआ उनका पावस-वर्णन भी सजीव बन पड़ा है—

सुनि कै धुनि चातक मोरन की, चहुँ ओरन कोकिल कूकन सों।
अनुराग भरे वन-बागन में, हरि रागत राग अचूकन सों।
कवि देव घटा उनई जु नई, वन-भूमि भई दल दूकन सों॥
रँगराती हरी लहराती लता, झुकि जाति समीर के झूकन सों।

प्रकृति का स्वच्छन्द एवं विशद चित्रण आधुनिक काल में ही सम्भव हुआ। आधुनिक काल में भी छायावादी काल को प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से अद्वितीय ही समझा जायेगा, जिसमें 'प्रकृति के सुकुमार' कहे जाने वाले कवि सुमित्रानंदन पंत ने तो अपने कवि रूप की प्रमुख प्रेरक शक्ति प्रकृति को ही स्वीकार किया है। अपने प्रारम्भिक काव्य-चरण-पल्लव युग में तो कवि प्रकृति का जैसे दीवाना ही रहा है और उसने प्रकृति सौन्दर्य के सम्मुख मानवी सौन्दर्य की भी उपेक्षा की है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को।

पंत जी के अतिरिक्त कवि जयशंकर प्रसाद ने भी प्रकृति का विशद् एवं सजीव चित्रण किया। कवि के प्रसिद्ध महाकाव्य 'कामायनी' का तो प्रारम्भ ही प्रकृति की क्रोड़ में स्थित उत्तुंग हिमगिरि के चित्रण से हुआ है—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह ।
एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह ।

यही नहीं, कामायनी की सभी प्रमुख घटनाओं की रंग स्थली प्रकृति ही रही है। प्रलयकालीन जल का वेग घट रहा है। बीच-बीच में पृथ्वी झाँकती दिखलाई पड़ती है। कवि ने इस जल के बीच झाँकती पृथ्वी को, प्रिय समागम की निशा की स्मृति में खोई मानवती नायिका के रूप में प्रस्तुत किया है—

सिंधु सेज पर धरा-वधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी ।
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में, मान किये सी ऐंठी-सी ।

निराला और महादेवी वर्मा ने भी प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र दिये हैं। इस दृष्टि से निराला की 'जुही की कली' और 'संध्या-सुन्दरी' कविताओं को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। उनकी 'बादल राग' कविता में प्रकृति का भयानक एवं रम्य रूप साथ-साथ चित्रित हुआ है। कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

झूम झूम मृदु गरज-गरज घनघोर
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर झर झर निर्झर गिरि-सर में,
घर, मरु तरु-मर्मर, सागर में
सरित-तड़ित गति चकित पवन में
मन में विजन गहन कानन में
आनन-आनन में, रव घोर कठोर ।

महादेवी ने प्रकृति के विभिन्न रूपों में अपने जीवन में व्याप्त करुणा और पीड़ा के दर्शन किये हैं। कभी उनका जीवन 'विरह का जलजात' बन जाता है तो कभी सांध्य-गगन और कभी वे अपने अज्ञात प्रियतम की पद-चाप से उल्लसित हो 'बसंत रजनी' का आह्वान करती हैं—

धीरे-धरे उतर क्षितिज से, आ बसन्त रजनी !

वस्तुतः महादेवी का प्रकृति चित्रण, प्रकृति का चित्रण कम अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम अधिक रहा है। कुल मिलाकर इन छायावादी कवियों ने गुण एवं परिमाण दोनों ही दृष्टियों से प्रकृति का सजीव चित्रण किया है।

इन छायावादी कवियों से पूर्व भी आधुनिक काल में प्रकृति का चित्रण हुआ है। इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'यमुना तट वर्णन', श्रीधर पाठक की 'हिमालय वर्णन' एवं 'कश्मीर सुषमा', मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' तथा 'साकेत' आदि काव्य-कृतियों से चारु चन्द्रिका, रात्रि एवं प्रातः के अनेक चित्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी 'प्रिय प्रवास' काव्य कृति का प्रारंभ संध्या वर्णन से ही किया है—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

छायावाद के बाद प्रगतिवादियों को तो प्रकृति-चित्रण में बूर्जुआपन की बू आती थी। प्रयोगवादी और नये कवियों का कहना है कि जीवन की इस आपा-धापी में घंटों-घंटों नदी-सागर के तटों पर बैठने, निर्झर के संगीत को सुनने, उषा एवं संध्या के सौन्दर्य को निहारने और पक्षियों के कलरव में स्वयं को खो देने का अवकाश उनके पास कहाँ है ? और न महानगरों में रहते हुए उन्हें प्रकृति का वह खुला और स्वच्छन्द रूप ही कहीं दृष्टिगत होता है, फिर भी अनेक कवियों की कविताओं में प्रकृति के सुन्दर चित्र उभरे हैं। 'संध्या' का यह सुन्दर मानवीकरण देखिए—

पति-सेवा रत साँझ/उचकता देख पराया चाँद
ललाकर ओट हो गई

(अज्ञेय)

श्रीकांत वर्मा की बिजली का यह दुस्साहस और बूढ़े बरगद की असमर्थता भी कम मार्मिक नहीं है—

भरे ताल पर बिजली कूदी
लाज छोड़कर नंग
बरगद खड़ा असंग

४. हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण : विविध रूप

सम्पूर्ण हिन्दी कविता में प्रकृति के विविध रूप देखने को मिलते हैं। कभी उसके सुकुमार चित्र प्रस्तुत किये गये हैं तो कभी भयानक। कभी उसे चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है तो कभी उसके पीछे छिपी किसी अलौकिक शक्ति को खोजने का प्रयास लक्षित होता है। कभी वह किसी सांसारिक तथ्य को उद्-घाटित करने का माध्यम बनती दिखलाई पड़ती है तो कभी कवि की अनुभूतियों के साथ एक रूप होती हुई। कभी कवि उसके अनूठे एवं राशि-राशि सौन्दर्य पर लुब्ध होता हुआ दिखलाई पड़ता है तो कभी उससे सीख लेता हुआ भी। कुछ उदाहरण देकर हम अपने कथन की पुष्टि करेंगे।

प्रकृति का सुकुमार रूप—प्रकृति के सुकुमार कवि पंत की 'नौका-विहार' जैसी अनेक कविताओं में प्रकृति के सुकुमार चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। 'नौका-विहार' से ही एक बानगी देखिये। ग्रीष्म ऋतु में बालू की सेज पर लेटी दुबली-पतली, सुकुमार तापस बाला गंगा का चित्र है—

सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लांत निश्चल !
तापस बाला गंगा, निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल।
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर,
चंचल अंचल सा नीलांबर।

प्रकृति का भयानक रूप—'कामायनी' की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति के प्रलयंकालीन भयानक रूप के दर्शन किये जा सकते हैं—

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकंपन, झंझा के चलते झटके।
× × ×
पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ, खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
× × ×
धँसती धरा धधकती ज्वाला, ज्वाला मुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास।
(जयशंकर प्रसाद)

प्रकृति का चेतन सत्ता के रूप में चित्रण—'मानवीकरण' अलंकार द्वारा जड़ प्रकृति को भी चेतन सत्ता के रूप में चित्रित किया गया है। प्रकृति के ऐसे मानवीकृत रूप यों तो प्राचीन कविता में भी उपलब्ध हो जायेंगे किन्तु हिन्दी की छायावादी एवं नयी कविता में इनका आधिक्य है। संध्या का परी के रूप में चित्रण देखिये, कितना सजीव बन पड़ा है—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है;
वह संध्या-सुन्दरी परी सी,
धीरे, धीरे, धीरे। (निराला)

निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने बादल पर शहरी पाहुन का आरोप करके बादल के स्वागत में उपस्थित हुई बयार, पेड़, फूल, नदी, पीपल एवं लता आदि पर विभिन्न मानवी भावों का आरोपण किया है। लगता है, जैसे कोई शहरी पाहुन गाँव में पहुँचा हो। छैला बनकर, बन ठनकर—

मेघ आए बड़े बन-ठन के सँवर के।
आगे-आगे नाचती-गाती बयार चली,
दरवाजे-खिड़कियाँ खुलने लगीं गली-गली,
पाहुन ज्यों आए हों गाँव में शहर के।
मेघ आए बड़े.....................

इस नये-नये मेहमान को देखने के लिये कितने लोग उत्सुक ! और जैसे अपनी समवयस्का, प्रतीक्षा में आकुल, ललना को मेहमान के आने की दौड़कर पहले सूचना देने वाली किसी जंगली लड़की की यह बेतहाशा दौड़—

पेड़ झुक झाँकने लगे गरदन उचकाये,
आँधी चली, धूल भागी घाघरा उठाये।

और आतिथेय परिवार के बुजुर्ग द्वारा मेहमान की भाव-भीनी अगवानी तथा आकुल प्रियतमा का मीठा-कीठा उपालंभ—

बूढ़े पीपल ने आगे बढ़कर जुहार की।
'बरस बाद सुधि लीन्ही'
बोली अकुलाई लता ओट हो किवार की।
(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

सभी कुछ कितना सजीव ! कितना मार्मिक !!

प्रकृति का रहस्यात्मक रूप में चित्रण—छायावादी कवियों ने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों और लीला के पीछे झाँकती किसी अदृश्य सत्ता के दर्शन किये हैं। प्रसाद जी की इन पंक्तियों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है—

महानील इस परम व्योम में अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह नक्षत्र और तारागण किसका करते से संधान ?
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से खिंचे हुए ?
(कामायनी से)

कुछ अन्य रूप :

उद्दीपन रूप में चित्रण—

नयन-मन उन्मादिनी
आज निकली चाँदनी

× ×

टकटकी बँधती जिधर है दृष्टि जाती,
आज सब दिन से अधिक है सृष्टि भाती।
(जानकी वल्लभ शास्त्री)

आलम्बन रूप में चित्रण—

ये अनजान नदी की नावें
जादू के-से पाल
उड़ाती/आतीं/मंथर चाल।
नीलम पर किरणों की साँझी
एक न डोरी/एक न मांझी,
फिर भी लाद निरंतर लातीं/सेंदुर और प्रवाल।
(धर्मवीर भारती)

शिक्षिका रूप में चित्रण—

काश मैं इस चाँदनी-सा व्याप्त होता,
स्वच्छ, निर्मल, विश्व भर का आप्त होता
फैलता समभाव से जल और थल पर
एक सा—टूटी कुटी, ऊँचे महल पर। (जानकी वल्लभ शास्त्री)

तथ्य निरूपिका के रूप में चित्रण—

प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल।
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र, हाय, उत्सुक है उनकी धूल।

इसी प्रकार कुछ अन्य रूपों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

५. निष्कर्ष :

अंततः कहा जा सकता है कि प्रकृति मानव की चिर सहचरी रही है। उसने मानव की विभिन्न रूपों में सेवा की है। काव्य की वह प्रमुख प्रेरक शक्ति रही है। हिन्दी काव्य भी बड़ी मात्रा में उससे प्रभावित रहा है। रीतिकाल तक उसके उद्दीपक या उपदेशिका रूप की ही प्रधानता रही है। आधुनिक काल में आकर ही उसका स्वरूप निखरा है और उसके पारम्परिक उद्दीपक रूप के साथ-साथ उसे विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति मिली है। आधुनिक काल में भी छायावादी युग को प्रकृति का स्वर्ण-काल कह कर पुकारा जा सकता है जिसमें सुमित्रानन्दन पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी जैसे साहित्यकारों ने उसके प्रकृत सौन्दर्य की विभिन्न छवियों को उकेरने में सफलता प्राप्त की है। आज विज्ञान और प्रविधि के इस युग में प्रकृति का वह स्वच्छन्द रूप कुछ धूमिल पड़ता जा रहा है। वैज्ञानिक मानव धरती, आकाश, अन्तरिक्ष एवं सागर आदि प्रकृति के विभिन्न उपकरणों पर निरन्तर विजय पाने की चेष्टा में संलग्न है। जीवन की व्यस्तता ने उसके निकट सम्पर्क को मानव से छीन लेने की कोशिश की है। औद्योगिक और महानगरीय सभ्यताओं ने उसके सहज सौन्दर्य को फीका बनाया है। इसी कारण नयी कविता में उसके सुन्दर रूप के चित्रण के साथ-साथ उसकी कुरूपता को भी वाणी दी है। कमल और गुलाब का स्थान कैक्टस ने ले लिया है और कोकिल के स्थान पर अब अभागे कौआ का अड़अड़ाना सुनाई पड़ने लगा है। मानव प्रकृति से दूर जाने की लाख कोशिश करे किन्तु अब भी उसने अपने ड्राइंग रूम को प्लास्टिक अथवा कागज के फूलों से सजाना नहीं छोड़ा है। लगता है मानव को अपना सहज स्वरूप पाने के लिये प्रकृति की क्रोड़ में आना ही होगा और प्रकृति आगे भी काव्य की प्रमुख प्रेरक शक्ति बनी रहेगी।

—:०:—

४३ मध्य युगीन भक्ति-आन्दोलन का उदय

१. भक्ति आन्दोलन : महती साँस्कृतिक घटना :

चौदहवीं शताब्दी के अन्त एवं पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भक्ति का जो आन्दोलन सारे उत्तर भारत में फैला, वह न केवल धार्मिक क्षेत्र की वरन् इस देश के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक इतिहास की भी महती घटना है। इस आन्दोलन ने जहाँ धर्म के क्षेत्र में प्रविष्ट अनेक अवांछित विकृतियों को दूर किया, वहीं लोगों को अंध मजहवी चेतना से भी छुटकारा दिलाने का कार्य किया। जाति-पाँति और सम्प्रदायों की संकीर्णता की अन्ध गलियों में भटकने वाले समाज को भक्ति के सर्वजन-सुलभ विशाल राजमार्ग पर ला खड़ा किया। हिन्दी भाषा में ही नहीं अपितु मराठी, बंगाली एवं गुजराती आदि उत्तर भारत की भाषाओं के साथ-साथ दक्षिण भारत की कन्नड़, तमिल, तेलगू एवं मलयालम आदि भाषाओं को भी ऐसा अमर साहित्य प्रदान किया, जिसकी सात्विक वाणी ने जन-मन-मुकुर के मैल को दूर कर उसे भक्ति की पावन मन्दाकिनी में डुबो दिया। उस युग के कवियों ने अपने हृदय की भक्ति-भावना को कविता का ऐसा उत्कृष्ट शिल्प प्रदान किया कि उनकी कविता सहज धर्म अथवा भक्ति की अभिव्यक्ति ही नहीं रही, वरन् सरस्वती का शाश्वत शृंगार भी बन गई। यही कारण है कि आज विज्ञान और प्रविधि की इस बीसवीं शताब्दी में भी उसका महत्व अक्षुण्ण बना हुआ है। डॉ० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन की विशिष्टता एवं महत्ता को लक्षित करते हुये लिखा है—

"हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि बौद्ध धर्म आन्दोलन से भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी विद्यमान है।"

२. धर्म के क्षेत्र में भक्ति का उदय :

वस्तुतः धर्म के क्षेत्र में भक्ति-भावना का उदय मानवी-चेतना के विकास की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। धर्म के इस रचनात्मक स्वरूप तक पहुंचने के पूर्व मानवी-चेतना कर्म एवं ज्ञान मार्गी रह चुकी थी। वैदिक ब्राह्मणकालीन कर्मकाण्ड के व्यूह को भेदती हुई भारतीय मनीषा उपनिषदों तक आते-आते ज्ञान-मार्ग की ओर झुकी और ब्राह्मण-काल में सगुण ब्रह्म के रूप में जिस 'नारायण' की स्थापना हो चुकी थी, उसके तत्व विवेचन की ओर प्रवृत्त हुई। यह ज्ञान-मार्ग भी कभी मात्र

चिन्तन और मनन का विषय बनकर निवृत्ति की ओर झुका और कभी निष्काम कर्म की इच्छा लेकर कर्म-परकता की ओर। यही कारण है कि उपनिषदों में कभी ब्रह्म को सगुण कहा गया (छान्दोग्योपनिषद्), कभी निर्गुण (कठोपनिषद्) और कभी सगुण एवं निर्गुण एक साथ (वृहदारण्यक एवं ईशावाश्योपनिषद्)। इससे आगे की स्थिति ही भक्ति की स्थिति है, जिसमें ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण, मूर्त्त एवं अमूर्त्त, व्यक्त एवं अव्यक्त तथा चल एवं अचल आदि उभयात्मक रूपों को स्वीकार किया गया। इसका लक्ष्य निकट से निकट जाकर ईश्वर का सामीप्य लाभ प्राप्त करना था। महाभारत काल में विष्णु एवं शिव भक्तों की भावना के आलम्बन बन चुके थे। पुराण-काल में तो वैष्णव-भक्ति का काफी प्रचार हो ही चुका था। दक्षिण भारत में आलवार भक्तों के बीच पांचवी छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक भक्ति का पूर्ण उत्कर्ष देखने को मिला था। इन भक्तों की परम्परा में रामानुज (ई० १०३७—११३७), मध्व (तेहरवीं शती) निम्बार्क (मृत्यु ११६२ ई०) आदि अनेक आचार्यों ने भक्ति को शास्त्रीय आधार प्रदान कर उसे वेद प्रतिपादित ज्ञान और कर्म से समन्वित किया। इन आचार्यों ने शकर के अद्वैतवाद एवं मायावाद का अपने-अपने ढंग से खण्डन किया और भक्ति के मार्ग को प्रशस्त किया। रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में ही रामानन्द पैदा हुए, जिनको विद्वानों ने 'उत्तर एवं मध्य भारत के भक्ति-आन्दोलन का सबसे प्रथम एवं शक्तिशाली नेता' कहकर पुकारा है। निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि भक्त-कवि कबीर इन्हीं रामानन्द के शिष्य थे। रामानुज, मध्व एवं निम्बार्क आदि सभी आचार्य दक्षिण के थे। इन्हीं आचार्यों द्वारा विकसित भक्ति-परम्परा का उत्तर भारत में प्रचार एवं प्रसार हुआ। कहा भी गया है—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
प्रकट किया कबीर ने सात द्वीप नव खण्ड।

वल्लभाचार्य (सोलहवीं शताब्दी एवं बंगाल के चैतन्य देव ने कृष्ण-भक्ति के प्रचार के लिये प्रयत्न किये। कृष्ण-भक्ति के लिये कुछ अन्य सम्प्रदायों ने भी प्रचार-कार्य किया, जिनमें हित हरिवंश का 'राधा-वल्लभी' और हरिदास का 'सखी सम्प्रदाय' उल्लेखनीय हैं।

३. भक्ति आन्दोलन के उदय के कारण : विभिन्न मत :

इस आन्दोलन का उदय कैसे हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। यह आन्दोलन ग्रियर्सन के अनुसार 'बिजली की चमक के समान अचानक' ही प्रगट हो गया अथवा यह भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का परिणाम था, यह प्रश्न यहाँ विचारणीय है। डॉ० ग्रियर्सन जैसे अनेक पाश्चात्य विचारकों के अनुसार यह आन्दोलन ईसाई प्रभाव का परिणाम था, यह मत अब निराधार सिद्ध हो चुका है। दूसरा मत ताराचन्द का है, जिसके अनुसार यह इस्लाम के प्रारम्भिक काल में ही पश्चिमी समुद्र-तट पर आ बसे अरबों की देन है। इस मत का भी अब खण्डन करने की आवश्यकता नहीं। तीसरा मत अनेक हिन्दी इतिहास-लेखकों का है। इनके अनुसार भक्ति का उदय भारत पर मुसलमानों के आक्रमण

की प्रतिक्रिया का परिणाम था। मुसलमान आक्रमणकारियों के सम्मुख जब नष्ट-शक्ति वाले हिन्दू राजा पराजित हो गये तो भारत की जनता में निराशा छा गई और उसके लिये भगवान की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई अवलम्बन नहीं रहा। इन विचारकों में पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय एवं डॉ० रामकुमार वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। शुक्ल जी ने लिखा है —"आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छायी रहीं। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग हीं क्या था?" डॉ० श्यामसुन्दर दास का मत है—"इस समय ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जो उसका उन्नयन करने में समर्थ होता। यदि उन्हें कुछ आशा रह गई थी तो वह केवल लोक-पालक असुर-विनाशक, भक्त-भय-हारी ईश्वर की अमोघ शक्ति की थी।" बाबू गुलाबराय लिखते हैं—"मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखलाना अथवा भोग विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्ति-काल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई।" डॉ० रामकुमार वर्मा भी इसी प्रकार का मत प्रगट करते हुए लिखते हैं—"इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था।"

यह मत भी भ्रान्त अतएव, स्वीकार्य नहीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका विरोध करते हुए उचित ही लिखा है—"यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणगति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भाव-धारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिये था, पर हुई वह दक्षिण में।" द्विवेदी जी के प्रस्तुत तर्क में निस्सन्देह बल है। द्विवेदी जी भक्ति की इस भावना को एकाएक उत्पन्न हुआ नहीं मानते। वे इसे भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास के रूप में ही देखते हैं। वस्तुत: इस्लाम के आगमन के पूर्व से ही भक्ति का उर्वर क्षेत्र तैयार होने लगा था। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत का राजनैतिक क्षितिज अत्यन्त विश्रृंखलित हो उठा था। छोटे-छोटे हिन्दू राजा परस्पर झगड़ने में ही अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे थे। इधर बौद्ध-धर्म के भी चरमोत्कर्ष के दिन लद गये थे और अब वह तंत्र-मंत्रों में परिणत हो रहा था। इस प्रकार राजनैतिक एवं धार्मिक अधःपतन से भक्ति के प्रादुर्भाव के लिये अनुकूल वातावरण बन चुका था। इस्लाम के आगमन से इस प्रक्रिया में और तीव्रता और वातावरण में और पुष्टता आई। उत्तर भारत की इस लोक-भावना को दक्षिण के शास्त्र-सिद्ध आचार्यों की वाणी से पुष्टि मिली और भक्ति की भावना को फूलने-फलने का अवसर प्राप्त हुआ। उक्त विवेचन के

आधार पर कहा जा सकता है कि उत्तर भारत में उदित मध्यकालीन भक्ति का आन्दोलन न ईसाइयत से प्रभावित था, न इस्लाम से और न ही यह उत्तर भारत के निवासियों में किसी राजनैतिक निराशा का परिणाम था, यह तो भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का परिणाम था। यहाँ की परिस्थितियों ने भक्ति के लिये उर्वर क्षेत्र तैयार कर दिया था। लोक-प्रवृत्ति भक्ति की ओर उन्मुख हो चुकी थी। दक्षिण के शास्त्र-सिद्ध आचार्यों की मुहर लगते ही यही लोक-प्रवृत्ति भक्ति के उदय में सहायक सिद्ध हुई।

४. भक्ति का आदि स्रोत : दक्षिण या उत्तर ?

कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो भक्ति का मूल दक्षिण में न मानकर मोहन-जोदड़ों और हड़प्पा के द्रविड़ों में मानते हैं। उदाहरण के लिये डॉ० सत्येंद्र का नाम लिया जा सकता है। डॉ० सत्येन्द्र का कथन इस प्रकार है—"भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द,,—इस उक्ति के अनुसार भक्ति का आविर्भाव द्रविड़ में हुआ। उक्तिकर्त्ता सम्भवतः नहीं जानता था कि वह इन शब्दों के द्वारा कितने गहरे सत्य को प्रकट कर रहा है। उसका द्रविड़ से अभिप्राय सम्भवतः दक्षिण से था किन्तु नयी प्राग् ऐतिहासिक शोधों से यह सिद्ध-सा होता है कि भक्ति का मूल द्रविड़ों में है, और दक्षिण के द्रविड़ों में नहीं, उनके महान् पूर्वज मोहन जोदड़ों और हड़प्पा के द्रविड़ों में। अभी तक संसार को जितने भी साक्ष्य प्रमाण प्राप्त हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि मोहन जोदड़ों और हड़प्पा के द्रविड़ अथवा व्रात्य एकेश्वरवादी थे। उनके इस ईश्वर का नाम शिव था।" किन्तु अधिकांश आधुनिक विद्वान् दिनकर जी के इस विचार से सहमत दिखलाई पड़ते हैं—"उत्तर भारत में जब वैष्णव भक्तों का जमाना आया, उसके पहले ही दक्षिण के आल्वार सन्तों में भक्ति का बहुत कुछ विकास हो चुका था और वहीं से भक्ति की लहर उत्तर भारत में पहुँची। यह भी ध्यान देने की बात है कि आरम्भ में भक्ति को प्रमुखता देने वाले रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभाचार्य प्रायः सभी महात्मा दक्षिण में ही जन्मे थे। उत्तर में मीरा जन्म हुआ, उसके बहुत पहले दक्षिण में आन्दाल नाम की प्रसिद्ध भगतिन हो चुकी जो कृष्ण को अपना पति मानती थी और जिसके बारे में मीरा की ही तरह यह कथा प्रचलित है कि वह कृष्ण के भीतर विलीन हो गई।" इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति की लहर दक्षिण से ही उत्तरी भारत में आई।

दक्षिण के आचार्यों ने उत्तर में आकर विभिन्न क्षेत्रों में अपने-अपने ढग से भक्ति का प्रचार किया। गुजारात में स्वामी मध्वाचार्य (११९६ ई०–१२७५ ई०) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया, जिसकी ओर बहुत से लोग प्रवृत हुए। महाराष्ट्र और मध्य देश में नामदेव (शक संवत् ११९२–शक सं १२७२) और रामानन्द (१५वीं शताब्दी) ने एक सामान्य भक्ति-मार्ग का प्रवर्त्तन किया। इस मार्ग पर अद्वैतवाद एवं सूफियों के प्रेम तत्व का प्रभाव था। वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को भी उन्होंने ग्रहण किया था। यही मत आगे चलकर 'निर्गुण मार्ग' कहलाया, जिसके निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीरदास जो हुए। कबीर ने एक ओर हिन्दुओं

की वर्ण-व्यवस्था और जाति गत कठोरता पर कड़ी चोट करके मनुष्य मात्र के लिये ईश्वर की भक्ति के द्वार खोले और बहुदेवोपासना, अवतार एवं मूर्ति पूजा आदि का खण्डन पैगम्बरी जोश के साथ किया तो दूसरी ओर मुसलमानों की कुर्बानी, नमाज, रोजा आदि की भी कटु निन्दा की। आगे चलकर धर्मदास, रैदास, मलूकदास और नानक आदि संतों ने इसी निर्गुण पंथ को आगे बढ़ाया। इस्लाम के सूफीमत के प्रभाव में आकर निर्गुणवादी धारा दो शाखाओं में विभक्त हो गई। कबीर का निर्गुणवाद अपनी ज्ञान की प्रधानता के कारण प्रेमाश्रयी निर्गुणवाद कहलाया और सूफियों का निर्गुणवाद प्रेम की प्रधानता के कारण प्रेमाश्रयी निर्गुणवादी। जायसी इसी प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि हुए। उच्च वर्ण के हिन्दुओं ने वैष्णव भक्ति पल्ला पकड़ा और इन्होंने राम एवं कृष्ण की भक्ति में तल्लीन रहने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझी। इस राममर्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि हुए तुलसी और कृष्ण-मार्गी शाखा के प्रतिनिधि सूर कहलाए। तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप का चित्रण किया और सूर ने पद-पद पर मर्यादा को भंग करने वाले कृष्ण की लीलाओं का गान किया। अष्टछाप के कवियों ने इन्हीं का अनुसरण किया। सूर को कृष्ण लीला में प्रवृत करने का श्रेय बल्लभाचार्य को ही जाता है। इनके अतिरिक्त देश के पूर्व भाग में जयदेव के कृष्ण प्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी, जो बाद में विद्यापति एवं चण्डीदास के पदों में मधुर हो उठी। इस प्रकार समस्त उत्तरी भारत भक्ति के रंग में रँग गया।

५. निष्कर्ष : भक्ति आन्दोलन का योगदान

इस भक्ति आन्दोलन ने भारतीय समाज, धर्म एवं साहित्य को अपना अमूल्य योगदान दिया। इस्लाम के प्रभाव की प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दुओं में जो जातिगत कठोरता और संकीर्णता आने लगी थी, इस आन्दोलन ने उदार रुख अपनाकर उसे आने से ही नहीं रोका, बल्कि निम्न स निम्न वर्ण वाले तथा हिन्दू, मुसलमान सभी के लिये भक्ति का मार्ग खोला। समाज के हृदय का परिष्कार किया और व्यक्ति के आचरण को शुद्ध बनाने की कठोर साधना की। धर्म की अनेक विकृतियों, पाखण्डों एवं असंगतियों से बचाया। उसे रचनात्मक स्वरूप प्रदान कर केवल कुछ ज्ञानियो की ही बपौती नहीं रहने दिया, वरन् उसे जन-जन का कण्ठहार बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। साहित्य की दृष्टि से तो इस आन्दोलन ने बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। हिन्दी में तो भक्तिकाल को साहित्य का स्वर्ण काल कहकर पुकारा गया। वस्तुतः उच्चतम धर्म को उच्चतम कविता के माध्यम से प्रस्तुत करने का, विश्व-साहित्य में यह अपने प्रकार का अलग एवं बेजोड़ प्रयत्न था। जहाँ इस साहित्य में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी एवं मीरा आदि के स्वर गुंजित हुए, वहीं इस युग में रचित बीजक, पद्मावत, सूर सागर, विनय-पत्रिका एवं राम-चरितमानस जैसी अनेक कालजयी कृतियों की रचना भी हुई, जिनके अभाव में हिन्दी-कविता मे गर्व करने के लिये कम कृतियाँ शेष बचतीं।

—: ० :—

क्रान्तदर्शी कबीर

१. निराला व्यक्तित्व :

हिन्दी के मध्ययुगीन कवियों में कबीर एक निराला ही व्यक्तित्व लेकर पैदा हुए। नीच एवं गरीब समझी जाने वाली जुलाहा जाति में पलकर भी तत्कालीन धर्म के दिग्गज पण्डितों एवं मौलवियों को एक ही साथ फटकार सकने में वे समर्थ थे। 'मसि' और 'कागद' न छूकर तथा 'कलम' हाथ में न पकड़कर भी केवल अपने प्रामाणिक अनुभव के बल पर उन्होंने जो कुछ कहा, उसे सुनकर बड़ी-बड़ी पोथियों के अध्येता भी दाँतों तले अँगुली दबा गये। उनके कवित्व की प्रशंसा न कर सकने वालों ने भी उनकी प्रखर प्रतिभा का लोहा स्वीकार किया। उनकी उक्तियों में किसी को दर्प एवं अक्खड़ता की बू आई तो नोबेल-पुरस्कार विजेता रवीन्द्र बाबू ने उनकी कुछेक कविताओं का अनुवाद करने के बाद उनके प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता भी ज्ञापित की और बड़े भाव-पूर्ण शब्दों में उन्हें स्मरण किया। निराकार ब्रह्म के उपासक होकर भी अपने प्रियतम के वियोग में जो अपनी चिरन्तन व्याकुलता प्रकट की, वह किसी भी सगुणोपासक अथवा प्रेमोपासक की विकलता से कहीं अधिक मार्मिक, तीव्र एवं गहन बन गई। अन्ततः, आजीवन सुरपुरी काशी में वास करके भी, मृत्यु के वरण के लिये मगहर पहुँचे, जिसके विषय में प्रसिद्ध था—'मगहर मरे सो गदहा होई।'

२. कबीर के युग की परिस्थितियाँ :

कबीर की क्रान्तकारिता के विविध पक्षों पर विचार करने के पूर्व यहाँ कबीर के युग की परिस्थितियों की ओर सकेत करना भी उपयोगी रहेगा। कबीर के युग तक उत्तर भारत में मुसलिम साम्राज्य अपनी जड़े पूरी तरह जमा चुका था। तुर्क अफगानों के गुलाम तथा खिलजी, तुगलक, सैयद एव लोदी वंश अपने-अपने काल में इन जड़ों को और अधिक गहरा बनाने में व्यस्त रहे थे। हिन्दुओं के छोटे-छोटे राज्य भी अब समाप्त हो चुके थे। मेवाड़ के सिसौदिया वंश के समान शक्तिशाली राज्य यदि कोई बचा भी था तो उसे बाद में बाबर आदि मुगलों ने पराजित कर दिया। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुओं में अब कोई शक्ति शेष नहीं बची थी। धार्मिक क्षेत्र में भी संकीर्णता के दर्शन होते थे। देश के पूर्वी भागों में (बिहार, बंगाल आदि मे) वज्रयानी सिद्धों के तन्त्र-मन्त्रों का और पश्चिमी भाग में (पंजाब एवं राजस्थान आदि में) नाथ सम्प्रदाय के हठयोग का प्रभाव लक्षित होता था। हिन्दू धर्म वैष्णव,

शैव और शाक्त सम्प्रदायों में विभक्त था। इन धर्म साधनाओं में एक दूसरे में प्रबल विरोध था। वैष्णवों तथा शैवों में, शैवों तथा शाक्तों में, बौद्धों तथा कर्मकाण्डियों में भयंकर संघर्ष की स्थिति बनी हुई थी। हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। अनेक देवी देवताओं की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं और उनकी तरह-तरह से पूजा की जाती थी। बाह्याचार पर बड़ा बल था। छापा-तिलक, तीर्थाटन, केश बढ़ाना अथवा मुंडाना ही मानो साधु-महात्मा हो जाने के लिये पर्याप्त था। उधर मुसलमानी शासन के साथ ही साथ इस्लाम भी अपनी जड़ें कायम कर रहा था। इस्लाम एकेश्वरवादी था, मूर्तिपूजा विरोधी था। अतः मूर्ति पूजकों एवं बहुदेववादियों से उसका संघर्ष आवश्यक था। इस्लाम के साथ सत्ता थी और इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दुओं के कुछ वर्गों में और अधिक साम्प्रदायिक कठोरता एवं संकीर्णता घर कर रही थी। इस्लाम के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में सूफी मत भी प्रचलन में था। सूफी लोग कुछ मुलायम तबीयत के मुसलमान थे और इस्लाम के अनेक तत्वों को अपनाकर भी भारतीय वेदान्त एवं हठयोग से भी ये प्रभावित थे। लौकिक प्रेम ही इनकी साधना का मूल संबल था। इन सबके अतिरिक्त दक्षिण की वैष्णव-भक्ति भी जोर पकड़ रही थी और शंकर के मायावाद के विरोध में उठी रामानुज, निम्ब, मध्व एवं वल्लभ आदि प्रमुख आचार्यों की विचाराधारा उत्तर भारत को अपने प्रचार-प्रसार का केन्द्र बनाने में व्यस्त थी। समाज में धम-गत विकृतियों के साथ-साथ जाति-गत संकीर्णतायें भी विद्यमान थी। अछूत और नीच समझी जाने वाली जातियों को उच्च वर्णों के लोग हिकारत की दृष्टि से देखते थे। उन्हें अनेक धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित तक नहीं किया जाता था। वेद और शास्त्रों के अध्ययन की उन्हें आज्ञा नहीं थी। फलस्वरूप, उनमें उच्चवर्ण के प्रति आक्रोश और क्षोभ था। मुसलमानों में इस प्रकार की कोई जाति-गत कठोरता नही थी। उनमें ऊँच-नीच का भेद नहीं था। वर्ण-व्यवस्था के बिना भी समाज का कार्य चल सकता है, यह बात शूद्रों को भी ज्ञात हो गई थी। अतः उनका आक्रोश और भी प्रबल हो उठा था ौर उनमें से अनेक तो मुसलमान ही हो गये थे। कुछ इस प्रकार के युग की ही उपज थे कबीरदास।

रामानुजाचार्य की चौथी या पाँचवी शिष्य परम्परा में सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द हुए। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें 'मध्य युग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु' कहकर पुकारा है। रामानन्द उदार प्रकृति के थे। उन्होंने वर्णाश्रम के बंधन एवं खान-पान के झंझट को समाप्त कर दिया और ब्राह्मण से लेकर चाडाल तक को राम नाम का उपदेश दिया। इनके शिष्यों की संख्या बारह मानी जाती है, जिनमें अधिकांश निम्न समझी जाने वाली जातियों में ही उत्पन्न हुए थे। कबीरदास इन्हीं रामानन्द के प्रधान शिष्यों में थे।

३. कबीर की क्रान्त दर्शिता : विभिन्न मतवादों का समन्वय

कबीर क्रान्त दर्शी थे। विभिन्न मतवादों, पदार्थों एवं विषयों के आर-पार देख सकने की क्षमता उनमें विद्यमान थी, जिसका प्रतीक है—उनके द्वारा एक सामान्य

भक्ति पद्धति का प्रचार, जिस पद्धति में हिन्दू एवं मुसलमान दोनों के लिये स्थान था, जिसमें उच्च एवं नीच सभी सम्मिलित हो सकते थे। जाति-पाँति का विचार न करके केवल इस पद्धति में शर्त थी तो हरि-भजन की शर्त थी—'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई।' कबीर की सारग्राहिणी प्रवृत्ति ने इस सामान्य मार्ग के निर्माण में बड़ा योग दिया। कबीर 'सूप' का स्वभाव लेकर पैदा हुए थे। वे किसी भी मत और सम्प्रदाय के 'थोथे' तत्व को उड़ा सकने एवं उसके सार-तत्व को ग्रहण कर सकने में समर्थ थे। यही कारण है कि उनकी बानियों में यदि गोरख-पंथियों के हठयोग की चर्चा है—

आकासे मुख औंधा कुआँ पाताले पनिहारि।
ताका पाणी कोई हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि॥

तो दूसरी ओर वेदान्तियों के अद्वैतवाद की भी—

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटयो कुंभ जल जलहिं समाना, यह तथ कथयो ज्ञानी॥

किन्तु कबीर का ब्रह्म कोरा वेदान्तियों का निर्गुण ब्रह्म ही नहीं है, क्योंकि एकाधिक बार उसमें गुण का आरोप किया है। प्रेम पर इन सन्तों ने इतना अधिक जोर दिया है कि भक्त के बिना भगवान को भी अपूर्ण बताया है। यह भावना केवल ज्ञान गम्य ब्रह्म को आश्रय करके नहीं चल सकती (पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी)। एक ओर उनमें यदि वैष्णवों की अहिंसा के दर्शन होते हैं—'बकरी पाती खात है, ताकि काढ़ी खाल। जे नर बकरी खात है ताको कौन हवाल। तथा हरि के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध जोड़ा जाता है—'हरि जननी मैं बालक तोरा' तो दूसरी ओर सूफियों के प्रेम तत्व की आकुलता भी उनमें विद्यमान है—

अंषड़ियाँ प्रेम कषाइयाँ, लोग जाणै दुखड़ियाँ।
साईं आपणे, कारणे रोइ रोइ रतड़ियाँ॥

तथा—बासरि सुख नाँ रैंणि सुख, नाँ सुख सुपिनैं माहि।
कबीर बिछुटिया राम सूँ, नाँ सुख धूप न छाँह॥

सम्भवत: कबीर की ऐसी उक्तियों को ही ध्यान में रखकर पं० ह० प्र० द्विवेदी ने तो 'प्रेमाभक्ति का ही प्रचारक' कह दिया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्त अवश्य कहा किन्तु वे भी उनके विविध रूपों को देखकर चक्कर मे पड़ गये हैं। कबीर की सार ग्राहिणी क्षमता का आकलन करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—कबीर ने "एक ओर तो स्वामी रामानन्द के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण की और दूसरी ओर योगियों और सूफी फकीरों के संस्कार प्राप्त किये। वैष्णवों से उन्होने अहिंसावाद और प्रपत्ति-वाद लिये। × × × अत: तात्विक दृष्टि से न तो हम उन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला जुला भाव इनकी बानी में मिलता है।" इस मिली जुली बानी का कारण था—कबीर का वह क्रान्त दर्शी व्यक्तित्व जो किसी भी प्रकार की रूढ़ि का कायल नहीं था। कबीर तो शुद्ध ईश्वर भक्ति

और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे, जिसकी प्राप्ति के लिए केवल ईश्वर के प्रति सहज प्रेम ही काफी था।

४. बाह्य आडम्बर पर चोट :

कबीर ने तत्कालीन समाज में फैले बाह्याचार पर खुलकर चोट की है। हम संकेत कर चुके है कि कबीर के युग में हिन्दुओं में जातिगत भेदभाव का बोलबाला था। ब्राह्मण केवल ब्राह्मण जाति में पैदा होने के कारण अपने को श्रेष्ठ मानते थे और शूद्र इसी कारण स्वयं को नीचा मानने को बाध्य थे। कबीरदास ने इस विषमता पर आघात किया। ब्राह्मण से वे पूछते है—'जो तू ब्राह्मन बह्मनी जाया। आन बाट ह्वै क्यूँ नहिं आयो।' उन दिनों शाक्तों में भी अनेक वामाचार फैले थे, जिनसे जनता की असद् प्रवृत्तियों को शक्ति मिल रही थी। कबीर ने इनकी भी अच्छी खबर ली है। शाक्तों को उन्होंने सन की रस्सी के समान बताया है जो भीगने से और भी कठोर हो जाती है। उन्हें न तो सद्गुरु की प्राप्ति होती है और न ही वे राम का नाम लेते हैं। इसलिए वे बाँधकर यमपुर को ले जाये जाते हैं। वैष्णवों की उन्होंने प्रशंसा की है, क्योंकि कबीर वैष्णव को शुद्ध मन वाला, पापों से दूर रहने वाला एवं राम का भक्त मानते हैं। इसीलिये कहते हैं—

चन्दन की कुटकी भली, नाँ बंबुर की अँबराउँ।
वैश्नो की छपरी भली, ना सापत का बड़गाउँ।

हिन्दू हो या मुसलमान, पंडित हो या मौलवी, यदि इनमें से कोई भी बाह्याचारों का शिकार होता है, कबीर उसे नहीं बख्शते। कबीर ने मुसलमानों की हिंसात्मक प्रवृत्ति की निंदा की है। काजी और मुल्ला भ्रम में पड़े हैं। जब वे छुरी हाथ में लेकर बकरी आदि के वध के लिये तैयार होते हैं, तब उनके मन का सारा दीन न जाने कहाँ चला जाता है—

काजी मुलाँ भ्रमियाँ चल्या दुनि के साथि।
दिलथैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि॥

जप-तप को व्यर्थ बतलाते हुए कबीरदास कहते हैं—

जप-तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत वेसास।
सूवै सैंवल सेविया, यौं जग चल्या निरास॥

मूर्ति पूजा का भी कबीर ने खण्डन किया है। पत्थर की पूजा से क्या लाभ उससे हरि तो मिलता नहीं। फिर भी मनुष्य है कि अंधा होकर मूर्ति पूजा में संलग्न रहता है—

पाहन कूँ का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
आँधा नर आसामुषी, यों ही खौवै आब॥

इसी प्रकार माला का जपना, एकादशी का व्रत रखना, केश मुँड़ाना, रोजे रखना, मसजिद में बाँग लगाना आदि-आदि अनेक बाह्याचारों की कबीर ने निन्दा की है। कुछ लोग कबीर की इस निंदा में उनकी अहम्मन्यता के दर्शन करते हैं किन्तु यदि हम धैर्य पूर्वक विचार करके देखें तो पायेंगे कि इस देश का कोई भी

महापुरुष, यदि समाज को कुछ ऊँचा उठा देखना चाहता है, तो उसे निश्चय ही इन ढकोसलों का विरोध करना पड़ेगा। ये सब चीजें हृदय के वास्तविक सत्य को ओझल कर देती है। खण्डन के इन स्वरों में कबीर का समाज-सुधारक एवं उपदेशक का रूप मुखरित हुआ है।

५. अनुभव की प्रामाणिकता :

कबीर ने लोक और वेद दोनों की परवाह न करके, केवल अपने निजी अनुभव को ही अपनी रचना का आधार बनाया। 'तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता आँखों की देखी।' इस आँखों की देखी बात से बढ़कर अनुभव की प्रामाणिकता का और क्या सबूत दिया जा सकता था ? कबीर ने अपने पूर्ववर्ती बौद्ध सिद्धों और नाथों से बहुत कुछ ग्रहण किया था किन्तु उस सबको उन्होंने प्रस्तुत तभी किया जब उसे अपनी अनुभूति का विषय बना लिया। इसी कारण उनके दोहे 'साखी' कहे जाते हैं। सिद्धों के अनुभव का साक्ष्य कबीर के अनुभव भी दे रहे हैं। कबीर के इतने प्रबल आत्म-विश्वास एव उनकी निडरता के पीछे उनके अनुभव की यह प्रामाणिकता और ईमानदारी कार्य कर रही थी। खरी-खरी सुनाने का साहस कोई खरी अनुभूति वाला व्यक्ति ही कर सकता है। कबीर अशिक्षित थे, किन्तु उन्होंने जिन्दगी की पोथी को खुली आँखों से पढ़ा था। वे प्रेम के एक अक्षर को ही पढ़कर पंडित हो गये थे। स्थान-स्थान पर घूमने एवं साधु-सन्तों की सत्संगति करने की प्रवृत्ति ने इनके अनुभव को और अधिक परिपक्वता प्रदान की थी।

६. कबीर का कवि रूप :

कबीर खुले दिल दिमाग वाले साधक थे। अपनी साधना से सद्गुरु का विशिष्ट महत्व स्वीकार करते हुए भी वह अन्धे गुरु के प्रति अन्धी श्रद्धा रखने की वकालत कभी नहीं करते। स्पष्ट कहते हैं—

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधै अधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़त।।

सिद्धान्त-कथन और जीवन-व्यवहार में सतुलन की आवश्यकता भी उन्होंने सदैव अनुभव की। जो लोग कबीर को केवल 'पर उपदेश कुशल' ही मानते हैं, उनको उनकी निम्नलिखित साखी पर ध्यान देना चाहिए—

कथणी कथी तो क्या भया, जे करणी ना ठहराइ।
कालवूत के कोट ज्यूँ, देषत हो ढहिं जाइ।।

यह सही है कि कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था किन्तु यह भी सही है कि अनेक स्थलों पर उनकी उक्तियों में कवित्व की ऊँची उड़ान दिखलाई पड़ती है। जहाँ वे किसी प्रकार की चेतावनी, फटकार, खण्डन अथवा हठयोगी साधना के उपदेश के स्वर में बोलते हैं, वहाँ निश्चय ही वह स्वर कवित्व-हीन, नीरस कथन मात्र होता है किन्तु जहाँ वे चिरन्तन ब्रह्म के वियोग में अपनी आत्मा की व्याकुलता का वर्णन करते हैं अथवा अपनी रहस्यमयी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति का बाना पहनाते हैं,

वहाँ अनूठे रूपक, विरोधाभास एवं अन्योक्तियों का ठाठ प्रस्तुत करते हैं। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं। रूपक का ठाठ देखिये—

आँखिन की कर कोठरी, पुतरिन पलंग बिछाय।
पलकनि की चिक डारिकै, पिउ को लियो रिझाय॥

अथवा—जल बिच मीन पियासी। मोहि सुण-सुण आवै हाँसी।

(अन्योक्ति, विरोधाभास)

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को वाणी का तो 'डिक्टेटर' ही कहा है। वस्तुत: भाषागत व्याकरण का ज्ञान कबीर को नहीं था। छन्द शास्त्र के ज्ञान से वे अपरिचित थे। फिर भी ये चीजें कभी कबीर की अभिव्यक्ति में बाधक नहीं बनीं। उन्हें जो कुछ कहना था, भाषा से कहलवा लिया। इस बात की उन्हें चिन्ता कहाँ थी कि वह भाषा न खड़ी बोली रह पायी है, न ब्रज और न राजस्थानी बल्कि कुछ और ही रूप उसका हो गया है। अस्तु;

७. निष्कर्ष: क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व :

कबीर का व्यक्तित्व एक क्रान्तदर्शी का व्यक्तित्व था। कबीर युग-द्रष्टा तो थे ही, सृष्टा भी थे। उनकी अक्खड़ता और फक्कड़पन ने उनके व्यक्तित्व को और अधिक तेजस्वी ही बनाया। साफगोई को इस सीमा तक पसन्द करने वाला ही नहीं बल्कि आचरण में उतारने वाला इतना निर्भीक एवं दृढ़ आत्म-विश्वासी कवि हिन्दी में दूसरा नहीं हुआ। सार रूप में उनके व्यक्तित्व की विलक्षणता के विषय में पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों का सहारा लेते हुए हम कहेंगे—"कबीर दास ऐसे ही मिलन विन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति-मार्ग; जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना—उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।"

—:०:—

४५ तुलसी का लोकनायकत्व

१. उच्च भक्त एवं उच्च कवि के रूप में तुलसी :

तुलसी का काव्य आज देश-विदेश में भारतीय संस्कृति एवं उसके उदात्त आदर्शों का पर्याय बन गया है । उनकी 'रामचरितमानस' एवं 'विनयपत्रिका' जैसी कृतियाँ कालजयी सिद्ध हो चुकी हैं । उनकी कविता भारतीय एवं हिन्दी कवियों की सरस्वती का ही सर्वोत्तम प्रसाद सिद्ध नहीं हुई है, प्रत्युत विश्व कविता में भी उसका विशिष्ट स्थान बन गया है । उच्चतम धर्म को उच्चतम कवित्व के माध्यम से अभिव्यक्त करने में तुलसी को विशेष सफलता मिली है । जो लोग तुलसी के उदात्त भक्त रूप को ही उनकी लोकप्रियता का कारण मानते हैं, उन्हें जानना चाहिये कि भारत में तुलसी सरीखे भक्तों का अभाव नहीं रहा । अपने आराध्य के प्रति उतनी ही उत्कृष्ट एवं उतनी ही अनन्य—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई' भावना रखकर भी मीरा तुलसी नहीं बन सकीं । उन्हें ग्रियर्सन के इन शब्दों पर गौर करना चाहिये—'तुलसी से महान् भक्त हो सकते हैं किन्तु कवि नहीं, तुलसी से महान् कवि हो सकते हैं किन्तु भक्त नहीं ।' अकबर अपने युग के इतिहास में एक महान् बादशाह था किन्तु तुलसी उससे भी महान् था—'ही वाज़ ग्रेटर, ग्रेटर देन अकबर हिमसैल्फ ।' यह धारणा प्रसिद्ध इतिहासकार 'स्मिथ' की है । इस सबके आधार पर कहा जा सकता है कि तुलसी उच्च भक्त थे, उच्च कवि थे, समाज सुधारक और इतिहास निर्माता थे ।

२. लोकनायक की कसौटी :

ग्रियर्सन ने तुलसी को बुद्ध के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक माना है । पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनकी समन्वयशीलता की पद्धति के आधार पर उनके इस लोकनायकत्व का सम्यक् विवेचन भी किया है । (दे०, हिन्दी साहित्य की भूमिका) । भारत एक विशाल देश है । यहाँ अनेक प्रकार की संस्कृतियाँ, अनेक प्रकार के धर्म, अनेक जातियां, अनेक भाषायें एवं अनेक प्रकार की विचारधाराओं वाले लोग निवास करते हैं । यहाँ का लोकनायक वही हो सकता है जो इस अनेकता में एकता स्थापित कर सके । ब्राह्मण धर्म के जाति-पाँति एवं अनेक मतों के दुराग्रह को तोड़कर महात्मा बुद्ध ने यही कर्म किया था । इसीलिये वे लोकनायक कहलाये और उनके द्वारा प्रचारित धर्म देश की सीमाओं का अतिक्रमण कर बर्मा, स्याम, तिब्बत, जापान एवं चीन आदि देशों में फैला । बाद में रामानन्द ने भी यही कार्य किया किन्तु अनेक

भक्तों को जन्म देने के बाद भी सीधे जन-साधारण तक पहुँचने में, उन्हें भी इतनी सफलता नहीं मिली जितनी गोस्वामी तुलसीदास को। कारण यह रहा कि रामानन्द की उदारता श्लाघ्य होते हुये भी वह एक प्रचारक, उपदेशक एवं आचार्य की वाणी द्वारा मुखरित हुई है, जबकि तुलसी की वाणी एक कवि की सरस्वती का शृंगार बनकर।

३. तुलसी का समन्वय :

तुलसी महान् समन्वयकारी थे। 'उनका रामचरित मानस समन्वय की विराट चेष्टा है।' उन्होंने लोक और शास्त्र का, भक्ति और ज्ञान का, निर्गुण और सगुण का, नाम एवं रूप का, भाषा और संस्कृत का, कथा एवं तत्व का ज्ञान का तथा गार्हस्थ्य एवं वैराग्य का अ-पूर्व समन्वय किया है। इस समन्वय का आधार बनाया है उन्होंने राम के महान् चरित्र को। यों स्वयं उनका जीवन भी समन्वय का कोई कम प्रतीक नहीं था। उच्च ब्राह्मण वंश में जन्म लेकर भी उन्हें अभाव ग्रस्त जीवन जीना पडा। गृहस्थ की निकृष्ट आसक्ति के शिकार होकर भी वैराग्य के चरम शिखर को छू सके। कबीर बहुश्रुत थे। जिन्दगी की खुली पोथी को पढ़-पढ़ कर ही वे पण्डित हो गये थे। अशिक्षित होने के कारण शास्त्र के ज्ञान से वे वंचित ही रहे। तुलसी ने जीवन के तो मधुर-तिक्त अनुभव प्राप्त किये ही, साथ ही नाना पुराण और निगमागमों का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। उनके राम बड़े-बड़े ज्ञानी एवं मुनियों की पहुँच से परे भले ही हों; वे निषाद, जटायु एवं शबरी जैसे साधारण पात्रों के लिये सुगम्य अवश्य हैं। वे वन्य एवं अनेक ग्रामीणों के सम्पर्क में आकर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। दोहा, चौपाई एवं सवैया आदि जहाँ शास्त्रीय छन्दों की छटा तुलसी काव्य में विद्यमान है, वहीं लोक-छन्द 'सोहर' का प्रयोग भी तुलसी ने बखूबी किया है।

भक्ति और ज्ञान का समन्वय—यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये कि तुलसीदास भक्त थे किन्तु उन्होंने ज्ञान-मार्ग की भी उपेक्षा नहीं की है। वास्तविकता तो यह है कि तुलसी ने लोक धर्म के तीनों अवयवों—कर्म, ज्ञान और उपासना—को महत्व देते हुये अपनी 'श्रुति संमत हरि भक्ति' के पथ का निर्माण किया। उनकी दृष्टि में ज्ञान और भक्ति दोनों ही जीव के चरम साध्य की प्राप्ति में सहायक हैं। इसीलिए गरुड़ को समझाते हुए काकभुशुंड कहते हैं—

ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।

तुलसी मानते हैं कि ईश्वर ज्ञान स्वरूप ही है किन्तु इस मार्ग पर अग्रसर होना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं—

ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस! होई नहिं बारा।

कृपाण की धार पर चलना आसान नहीं। दूसरी ओर भक्ति का मार्ग सर्वजन-सुलभ राजपथ के समान है—'गुरु कह्यो राम भजन नीको, मोहि लगत राज डगरो सो।' इसी बात को उन्होंने अपने प्रसिद्ध 'भक्ति-चिंतामणि' रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया है। भक्ति को चिंतामणि माना है और ज्ञान को दीपक।

चिंतामणि और दीपक दोनों ही ज्योति के कारण हैं किन्तु जहाँ आँधी-तूफान की प्रतिकूल परिस्थितियों में दीपक बुझने की आशंका हो सकती है, वहाँ चिंतामणि शाश्वत प्रकाश का साधन है। इस प्रकार ज्ञान की उपेक्षा न करके भी, बल्कि किन्हीं अर्थों में उसे आवश्यक ठहराते हुये भी, वे भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित अवश्य करते हैं। ज्ञान और भक्ति का ही नहीं तुलसी ने वैराग्य और योग का भी भक्ति के साथ समन्वय किया है। उनका कथन है कि योग के यमनियमादि के पालन न करने से तथा वैराग्य भाव के अभाव में भक्त की भोगों के प्रति अत्यधिक आसक्ति बढ़ जाने से भक्त कर्त्तव्यच्युत होकर भटक सकता है। अतः योग और वैराग्य भी नितांत उपेक्षणीय नहीं।

शैवों और वैष्णवों में समन्वय—तुलसी के समय में शैवों और वैष्णवों के बीच भी लम्बी-चौड़ी खाई पैदा हो गई थी। उनकी पारस्परिक तू तू मैं मैं इतनी अधिक बढ़ गई थी कि ये भक्त अपने-अपने उपास्य देव को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने पर तुल गये थे। तुलसी ने लोक के इस अकारण विवाद को समझा और उन्होंने शिव को राम का सबसे अधिकारी भक्त बतलाया। इतना ही नहीं, उन्होंने राम को भी शिव का उपासक बतलाया और दोनों के महत्व का प्रतिपादन किया। उन्होंने राम के मुख से स्पष्ट कहला दिया—

शिव द्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहु मोहि न भावै।

राम की भक्ति पाने के लिये शिव की भक्ति पाना आवश्यक ठहराया गया है। माया का प्रभाव दूर होने पर जब नारद का मोह भग होता है तो वे भगवान् के चरणों में पड़कर भगवान् को शाप देने के अपने अपराध को क्षमा करने की युक्ति पूछते हैं, तब भगवान् उन्हें शिव का जाप करने का परामर्श देते हुए कहते हैं—

निर्गुण और सगुण का समन्वय—तुलसी की रचना का उद्देश्य जहाँ 'गिरा और अर्थ' की अभिन्नता की अनुभूति कराना एवं लोक-कल्याण का विस्तार करना था, वहीं उनका एक प्रमुख लक्ष्य निराकार या अगोचर ब्रह्म की सगुण-सिद्धि भी था। तुलसी ब्रह्म को निराकार अथवा निर्गुण रूप में स्वीकार करके भी यह स्वीकार करते थे कि यह निराकार ब्रह्म भक्तों एवं लोक के हित के लिए सगुण रूप धारण कर लोक में अवतरित होता है। इसी संदर्भ में तुलसी ने नाम एवं रूप का भी समन्वय किया है और राम के नाम को निर्गुण एवं सगुण दोनों से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध किया है—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अरूपा।
मोरे मत बड नाम दुहूँ तें, किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥

वे नाम को निर्गुण और सगुण का मध्यस्थ मानते हैं। राम से श्रेष्ठ बतलाते हुए वे कहते हैं कि राम ने तो केवल अहल्या को ही मुक्ति प्रदान की थी किन्तु नाम ने तो करोडो दुष्टों को पार उतार दिया। राम ने तो केवल सुग्रीव एवं विभीषण को ही अपनी शरण में लिया किन्तु नाम तो अनेकानेक गरीबों को अपनी शरण में लेता है। इतना होने पर भी ये निराकार या अलख ब्रह्म के नाम पर होने वाले किसी भी

प्रकार के पाखंड को सहन नहीं कर सकते थे। बौद्ध धर्म की महायान शाखा के 'अलख सम्प्रदाय' के साधु को जब 'अलख' के नाम पर उन्होंने रहस्यदर्शी योगी बनते देखा तो उसे तुरन्त फटकारते हुए कहा—

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जप नीच।।

क्योंकि तुलसी का भक्ति मार्ग व्यक्ति और लोक दोनों के कल्याण के लिए था, इसलिये वे अंतःकरण के भीतर दिखलाई पड़ने वाले योगियों के ईश्वर की अपेक्षा 'अखिल विश्व के बीच अपनी विभूतियों से भासित होने वाले ईश्वर' को कहीं अधिक कल्याणकारी समझते हैं—

अन्तर्जामिहु तें बड़ बाहरजामी हैं राम जो नाम लिए तें।

४. तुलसी के राम :

तुलसी के राम सौन्दर्य, शक्ति एवं शील तीनों गुणों से समन्वित हैं। सुन्दर इतने कि मनुष्य-लोक के प्राणी तो उनके अद्‌भुत सौन्दर्य पर रीझते ही हैं, पशु तक भी उनकी अनुपम रूप माधुरी के पान करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते। राम धनुष बाण लेकर मृग के शिकार के लिए मृगों के पीछे दौड़ते हैं किन्तु मृग हैं कि अपने प्राणों की भी परवाह न करके इस रतिनायक के रूप को ठगे से देखते ही रह जाते हैं और प्राण-रक्षा के लिये दौड़ना भूल जाते हैं। वे अनन्त शक्तिशाली हैं, केवल एक बाण से ही शत्रु का काम तमाम कर देते हैं। यह राम-बाण अचूक है और कबन्ध, खर, दूषण, त्रिशिरा, कुम्भकरण, मेघनाद तथा रावणादि का जिस वीरता एवं अदम्य साहस के साथ संहार करते हैं, वह निश्चय ही उनकी अदम्य शक्ति का परिचायक है। उनके शील का तो कहना ही क्या ? तुलसी उसका वर्णन करते अँघाते ही नहीं। राम अपने भक्तों को स्वयं से भी अधिक चाहते हैं। युद्ध भूमि में लक्ष्मण मूर्च्छित हुए पड़े हैं। राम की तो भुजा ही मानो टूट गई। उनके शोक का पारा-वार कहाँ ? किन्तु इस विषम स्थिति में भी वे अपने भक्त विभीषण को नहीं भूल पाते और विभीषण को दिए गये अपने वचन को पूरा न होते देख ग्लानिवश उनकी छाती फटने लग जाती है। हनुमान के ऋण से तो वे स्वयं को उऋण हुआ ही अनुभव नहीं कर पाते और उनसे कहते हैं—'भैया। मेरे पास देने को तो कुछ है नहीं। मैं तेरा ऋणी हूं, तू धनी है; बस, इस बात की, विश्वास न हो तो सनद लिखा ले।' इसी प्रकार भाइयों के बीच खेल में जीतते हुये भी हार जाना, अहल्या का उद्धार करने के बाद भी, ऋषि पत्नी को पैर से छू दिया, इस पर दुःख प्रकट करना; जटायु को पिता का सम्मान देना तथा शबरी के जूठे बेर खाना आदि कितने ही उदाहरण उनके शील के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वस्तुतः तुलसी ने सदाचार और भक्ति को परस्पराश्रित घटित करके दिखला दिया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही लिखा है—"शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलम्बन स्थिर कर उन्होंने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया है।"

५. तुलसी आरोपों के व्यूह में :

तुलसी पर जातीय पक्षपात एवं नारी-निंदा का आरोप लगाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी कट्टर मर्यादावादी थे। वे प्राचीन वर्णाश्रम विभाग के पूरे समर्थक थे। वे चाहते थे कि ऊँची स्थिति वाले छोटी स्थिति के लोगों की रक्षा एवं सहायता करें तथा छोटी स्थिति वाले बड़ों का यथावश्यक मान-सम्मान करें।

पं० रामचन्द्र शुक्ल जातीय पक्षपात से तुलसी को मुक्त करते हुए कहते हैं कि "जो स्पष्ट रूप से कहता हो—

लोग कहें पोचु सो न सोचु न संकोचु मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।

उस विरक्त महात्मा को भला जातीय पक्षपात से क्या मतलब हो सकता है।" फिर अनेक स्थलों पर शूद्रों की जो निन्दा बाबा कर गये हैं, वहाँ तुलसी के शूद्र का अभिप्राय समझाते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—

"ऊँची नीची श्रेणियाँ समाज में बराबर थीं और बराबर रहेंगी। अतः शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सबमें अत्यन्त न्यून का—बोधक मानना चाहिए। इतनी न्यूनताओं को अलग-अलग न लिखकर वर्ण—विभाग के आधार पर एक शब्द का व्यवहार कर दिया गया है।" किन्तु जब तुलसी कहते हैं—

पूजिय बिप्र सील गुन हीना। शूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥

तब 'शूद्र' शब्द की उक्त व्याख्या भी बहुत संतोषजनक सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः तुलसी समाज में एक प्रकार का अनुशासन आवश्यक समझते थे। केवट, जटायु अथवा शबरी आदि उस अनुशासन एवं मर्यादा का पालन करते हैं, इसीलिये वे 'भरत सम भाई' हैं और जहाँ इस अनुशासन में बाधा आती है, वहाँ वे शूद्र का पक्ष लेने को तैयार नहीं है। नारी के विषय में अवश्य कहा जा सकता है कि तुलसी ने जहाँ नारी की निंदा की है, वहाँ उसके कामिनी रूप की की है और 'अपने ऐसे और विरक्तों के वैराग्य को दृढ़ करने तथा लोक की अत्यन्त आसक्ति को कुछ कम करने' के उद्देश्य से ही की है। उनके यहाँ भी कौशल्या मन्दोदरी एवं सीता आदि नारियाँ सम्मान की पात्र रही हैं।

६. प्रचलित भाषाओं एवं काव्य पद्धतियों का सफल प्रयोग :

कथ्य के क्षेत्र में ही नहीं, भाषा-शिल्प के क्षेत्र में भी तुलसीदास की यही समन्वय-पद्धति कार्य करती दिखलाई पड़ती है। एकओर यदि वे 'रामचरित मानस' के काण्डों के प्रारम्भ में एवं 'विनयपत्रिका' के प्रारम्भिक स्तोत्रों में काशी के दिग्गज पण्डितों की संस्कृत भाषा का अधिकार पूर्वक प्रयोग करते हैं तो दूसरी ओर अपने आराध्य एवं अपने लोक की भाषा अवधी का भी प्रयोग करते हैं। उनका 'राम-चरित मानस' इसी अवधी भाषा में लिखा गया है। यही नहीं, कुछ समकालीन कृष्णोपासक कवि व्रज भाषा में रचना कर रहे थे। तुलसी ने 'कवितावली', 'गीतावली'

दोहावली एवं 'विनय पत्रिका' में व्रजभाषा का डटकर प्रयोग किया है। काव्य-पद्धति तो उन्होंने कोई ऐसी छोड़ी ही नहीं, जिस पर उन्होंने अपने मुहर अंकित न की हो। चन्द की छप्पय पद्धति; कबीर, दादू आदि सन्तों के दोहे; सूरदास के पद, जायसी की दोहा-चौपाई पद्धति, रहीम के बरवै, रीतिकारों के सवैया, कवित्त एवं लोक-छन्द 'सोहर' आदि सभी पद्धतियों का प्रयोग उन्होंने अपने काव्य में किया।

समन्वय की इतनी विराट चेष्टा के बावजूद भी उन्होंने अपनी रचना को 'स्वान्तः सुखाय' कहा है। वस्तुतः इसके पीछे तुलसी की जो धारणा कार्य कर रही थी, वह थी किसी लोभ के वशीभूत होकर कविता न रचने का उनका संकल्प। वे अपनी सरस्वती का उपयोग किन्हीं क्षुद्र लोगों की झूठी प्रशंसा करने के लिये नहीं करना चाहते थे। उनका स्वान्तः सुखाय परान्तः सुखाय का विरोध करे तो करे किन्तु बहुजनहिताय का विरोध नहीं करता, अन्यथा तो लोक-धर्म के प्रति उनका सारा आग्रह बेमानी हो जाता है और तब उनकी निम्नलिखित धारणा का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता—

कीरति भनिति भूलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

७. निष्कर्ष : तुलसी एक महान लोकनायक

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि तुलसी के काव्य में उनका लोकनायकत्व एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यदि ऐसा न होता तो आज रामचरित-मानस का देश-विदेश की लगभग सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में अनुवाद न हुआ होता और न ही उनका मानस जन-जन के हृदय का हार बन पाता। वस्तुतः वेद और उपनिषदों में से प्रभावित भारतीय दर्शन की गम्भीर धाराओं; पुराणों शास्त्रों और स्मृति ग्रंथों से उच्छ्वसित धर्म के सशक्त स्रोतों और रामायण, महाभारत, रघुवंश, कुमारसम्भव आदि काव्यों तथा उत्तर रामचरित, प्रसन्न राघव; हनुमन्नाटक आदि नाटकों के रसमय क्रोड़ से प्रस्फुटित कवित्व के कल्लोलमय निर्झरों के प्रवाहों ने तुलसी के काव्य में समन्वित होकर तुलसी को एक महान् लोकनायक के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनका मूल्यांकन करते हुए उचित ही लिखा है—"तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पण्डित सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के सृष्टा थे। इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसी से घटकर नहीं।"

—: ० :—

रीति-मुक्त काव्य-धारा

१. रीतिकालीन कवियों के तीन वर्ग—

रीतिकालीन कवियों को प्रायः तीन वर्गों में रखा जाता रहा है। ये वर्ग है—रीति-बद्ध, रीति-सिद्ध एवं रीति-मुक्त कवि। रीति-बद्ध कवियों में ऐसे कवि आते हैं, जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों की रचना की है। इनमें चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, कुलपति मिश्र, भिखारीदास, तोषनिधि एवं पद्माकर आदि का नाम उल्लेखनीय है। रीति-सिद्ध कवियों ने अलग से तो कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा किन्तु कविता लिखते समय उनका ध्यान निरन्तर लक्षण ग्रन्थों की ओर रहा है और उन्होंने अपनी कविता में रस अलंकार एवं नायक-नायिका भेद आदि के लक्षणों को सिद्ध करके दिखा दिया है। बिहारी ऐसे ही रीति-सिद्ध कवि हैं। उनकी 'सतसई' यद्यपि लक्षण ग्रंथ के रूप में नहीं लिखी गई किन्तु उनका ध्यान लक्षणों पर रहा अवश्य है। तीसरा वर्ग रीति-मुक्त कवियों का है, जो लक्षण-ग्रन्थों की रचना के झमेले में नहीं पड़े अपितु जिन्होंने स्वच्छन्द रहकर कविता की सर्जना की है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीति कालीन कवियों को केवल दो वर्गों में रखा है-एक रीति-ग्रंथकार कवि और दूसरा रीतिकाल के अन्य कवि। रीति-सिद्ध वर्ग के कवियों को शुक्ल जी ने रीति-ग्रंथकार कवियों के अन्तर्गत ही रखा है। शुक्ल जी के 'रीतिकाल के अन्य कवियों के वर्ग को ही अन्य विद्वानों ने रीति-मुक्त अथवा स्वच्छन्द कवि कहकर पुकारा है। प्रतिनिधि रीति ग्रन्थकारों से इन अन्य कवियों के अन्तर एवं साम्य को शुक्ल जी ने इस प्रकार समझाया है—"ये पिछले वर्ग के कवि (रीति मुक्त कवि) प्रतिनिधि कवियों (रीति ग्रंथकार कवि) से केवल इस बात में भिन्न है कि इन्होंने क्रम से रसों भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अन्तर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी शृंगार रस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना-शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं ।×× बात यह है कि इन्हें कोई बन्धन नहीं था। जिस भाव की कविता जिस समय सूझी ये लिख गये। रीतिग्रन्थ जो लिखने बैठते थे, उन्हें प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिये पद्य लिखना आवश्यक था, जिनमें सब प्रसंग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे।" रचना-शैली एवं विषय में किसी प्रकार

का भेद न होने पर भी इसकी विषयानुभूति में अन्तर है। रीति-बद्ध कवियों की अनुभूति, किसी सीमा तक प्रतिबन्धित होने के कारण उधार ली हुई सी अनुभूति है, जबकि अच्छे रीति-मुक्त कवियों की अनुभूति प्राणाणिक, सहज एवं अधिक मार्मिक है। पहले वर्ग के कवि अपनी वृत्ति में आचार्य अधिक थे, दूसरे वर्ग के कवि आचार्य रहें हो या नहीं रहे हों, कवि वे अवश्य ही थे।

२. रीति-मुक्त कवि कौन ?

लक्षण-रहित काव्य-रचना करने वाले कवियों को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सात वर्गों में रखा है।

(१) पहला वर्ग उन प्रेमोन्मत्त कवियों का है जिन्होंने प्रेम-माधुरी में डूबकर कविता लिखी है। अपने किशोर एवं यौवन की शृंगारपरक अनुभूतियों को वाणी दी है। इनमें रसखान, घनानन्द, आनन्द, दोधा एवं ठाकुर आदि का नाम उल्लेखनीय है।

(२) दूसरा वर्ग कथा-प्रबन्धकारों का है। इनमें सबलसिंह का महाभारत छत्रसिंह की विजय मुक्तावली, गुरुगोविन्दसिह का चण्डी चरित्र, लाल कवि का छत्र प्रकाश, जोधराज का हम्मीर रासो, गुमान मिश्र का नैषध चरित्र, ब्रजवासीदास का ब्रज विलास, नवलसिंह की भाषा सप्तशती, आल्हा रामायण एवं चन्द्रशेखर का हम्मीर हठ आदि कवियों एवं उनकी कृतियों का नाम लिया गया है। इनके विषय में शुक्ल जी का विचार है कि इनमें से 'दो चार ही में कवित्व का यथेष्ट आकर्षण है।'

(३) तीसरा वर्ग वर्णनात्मक प्रबन्धों के रचयिताओं का है। इन्होंने कथात्मक प्रबन्धों से ही दान-लीला, मान लीला, जल-विहार, वन-बिहार, मृगया, झूला, होली वर्णन, जन्मोत्सव वर्णन एवं मंगल-वर्णन के विविध प्रसंग निकाल कर पुस्तकों की रचना की। इनकी असाहित्यिक रुचि के विषय में शुक्ल जी की धारणा है—'जहाँ कवि जी अपने वस्तु परिचय का भण्डार खोलते हैं—जैसे बरात का वर्णन है तो घोड़े की सैकड़ों जातियों के नाम, वस्त्रों का प्रसंग आया तो पच्चीसों प्रकार के कपड़ों के नाम और भोजन की बात आई तो सैकड़ों मिठाइयों, पकवानों और मेवों के नाम—वहाँ तो अच्छे-अच्छे वीरों का धैर्य छूट जाता है।"

(४) चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का है। इनमें वृन्द, गिरिधर, बाघ एवं बैताल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हें शुक्ल जी कवि न कहकर सूक्तिकार कहना ही अधिक उपयुक्त मानते हैं।

(५) ज्ञानोपदेशकों के वर्ग के कवियों का प्रमुख लक्ष्य बोध-वृत्ति जाग्रत करना रहा है। इन्होंने ब्रह्मज्ञान एवं वैराग्य सम्बन्धी पद्यों की रचना की है। शुक्ल जी की दृष्टि में ये केवल पद्यकार हैं, सरस कवि नहीं।

(६) छठा वर्ग भक्त कवियों का है जिन्होंने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद भक्तिकालीन कवियों के ढंग पर लिखे हैं।

(७) वीर रस की फुटकल कवितायें लिखने वालों का यह सातवाँ वर्ग है। इनमें लाल, सूदन, भूषण एवं पद्माकर आदि का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार हम देखते है कि शुक्ल जी ने पहले वर्ग के कवियों के अतिरिक्त अन्य वर्गों के कवियों में वक्तव्य का लगभग अभाव पाया है। इसलिए किसी को सूक्तिकार तो किसी को पद्यकार और किसी को आश्रयदाताओं की झूठी प्रशंसा करने वाला बताकर काव्यत्व की दृष्टि से उन्हें बहुत महत्व नहीं दिया। इनमें से देश प्रसिद्ध वीर या जनता के श्रद्धाभाजन शिवाजी, छत्रसाल या महाराणा प्रताप आदि पर वीर रस की रचना करने वालों को उनकी लोकप्रियता की दृष्टि से कुछ महत्व दिया भी है तो इनमें से ही कुछ ने—जैसे भूषण एवं पद्माकर आदि ने—लक्षण ग्रन्थों की भी रचना की है, अतः ये रीति-मुक्त कवियों की धारा के अन्तर्गत नहीं आते। यह माना जा सकता है कि शुक्ल जी के युग की अपनी कुछ सीमायें थी, अथवा उनका उस दृष्टि से अध्ययन नहीं हो पाया था। अब उनका अध्ययन होने पर उनमें से कुछ और अधिक कवि एवं उनकी कवितायें ऐसी निकल सकती है, जिनमें उत्कृष्ट कोटि का काव्य हो, तो भी इस कविता की मूल संवेदना प्रेम और शृंगार से पृथक रहेगी ही। अतः उनकी अन्य प्रवृत्तियों का विवेचन न करके फिलहाल, इतना संकेत पर्याप्त होगा कि रीति-मुक्त काव्य-धारा प्रधानतः आलम, घनानन्द, बोधा एवं ठाकुर आदि प्रेमोन्मत्त कवियों की धारा है किन्तु अन्य उक्त दिशाओं में भी इस धारा के कवियों काव्य-रचना की है :

३. रीति मुक्त काव्य धारा प्रमुख प्रवृत्तियाँ : प्रेम की मार्मिक व्यंजना

प्रेम की मार्मिक व्यंजना इस धारा की सबसे बड़ी विशेषता है। प्रेम की गूढ अन्तर्दशाओं का चित्रण जैसा इन कवियों में प्राप्त होता है, वैसा रीति-बद्ध तथा अन्य शृंगारी कवियों में नहीं। रीति-बद्ध कवियों के समान इनका प्रेम बैठे ठाले का प्रेम नहीं है। वह केवल बाहरी-उछल कूद में नहीं चुकता, अन्तर को भिगोता है। न वह केवल रसिकता का ही पर्याय है। उसमें किसी बिचौलिया की अपेक्षा भी नहीं है, अतः प्रेमी प्रेमिका के बीच न कोई दूती आती है और न सखी। वह तो इनके अन्तर में उद्भूत सहज किन्तु मार्मिक गुहार है। निष्कपटता एवं सरलता ही उसका गुण है—

> अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेकु सयानप बांक नहीं।
> तहँ सांचे चले तजि आपुनपौ, झिझकें कपटी जो निसांक नहीं।

प्रेम में सयानपन, बाँकपन एवं शंका के लिये स्थान कहाँ ? प्रिय की रूप माधुरी के प्रति आकृष्ट प्रेमी मन में धैर्य, लाज एवं कुल की मान-मर्यादा के लिये तो स्थान बचेगा ही कहाँ, जब उसकी बुद्धि को भी हृदय की दासी बनना पड़ता है—

> रूप चमूप सज्यो दल देखि, भज्यो तजि देसहिं धीर-मवासी।
> नैन मिले उर के पुर पैठतै, लाज लुटी न छुटी तिनका सी॥

प्रेम दुहाई फिरी घन आनन्द, बाँधि लिये कुल-नेम गुढ़ासी।
रीझि सुजान सची पटरानी, बची बुधि बापुरी ह्वैकर दासी॥

इस प्रेम की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह प्रेम सामान्य नहीं, विशिष्ट है। तभी इनकी प्रेम-व्यंजना इतनी मार्मिक एवं तीव्र बन बड़ी है। तुलसी के 'चातक प्रेम की-सी प्रवृत्ति यहाँ भी है—

घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तैं दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

'ठाकुर' कवि तो उन कानों को धिक्कारते हैं जो साँवरे के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य चर्चा भी सुनें, उस जिह्वा को हलाहल में डुबोने के लिये तैयार हैं जो साँवरे को छोड़कर किसी अन्य गौरांग की ओर देखें—

धिक कान जो दूसरी बात सुनें, अब एक ही रंग रहो मिलि डोरो।
दूसरो नाम कुजात कढ़ै, रसना जो कहै तो हलाहल बोरों॥
ठाकुर यों कहती व्रज लाल सु ह्याँ बनितान को भाव है भोरो।
ऊधो जी वे अँखियाँ जरि जायें जो साँवरो छाँड़ि तकै तन गोरो।

वियोग का अनूठा चित्रण—यह प्रेम वियोग की स्थिति में बड़ा ही मार्मिक रूप धारण कर लेता है। वास्तविकता तो यह है कि ये कवि संयोग की अपेक्षा वियोग की अनुभूतियों में कुछ अधिक ही रमे हैं। कभी वियोग-सम्भूत पीड़ा का सजीव चित्रण किया है तो कभी प्रेमी अथवा प्रेमिका की निष्ठुरता के प्रति तीखा उपालम्भ दिया है। कहीं वियोग से उत्पन्न बेचैनी का हृदयग्राही चित्रण हुआ है तो कभी संयोग की सुखद स्मृत्तियां इस वियोग के दुःख को और भी घनीभूत बना देती है। समय ने कैसा पलटा खाया है, 'आलम' की निम्नलिखित पंक्तियों में उस विडम्बना का अनुभव किया जा सकता हैं—

जा थल कीने बिहार अनेकन, ता थल कांकरी बैठि चुन्यौ करें।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करें॥
आलम जौन से कुंजन में, करि केलि, तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते, तिनकी अब कान, कहानी सुन्यो करैं॥

आलम की ऐसी ही पंक्तियों के आधार पर शुक्ल जी ने लिखा है—"प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना रसखान और घनानन्द की कोटि में होनी चाहिये।"

विरह के क्षेत्र में घनानन्द तो बेजोड़ हैं। इनके विरह में बिहारी की भांति बाहरी माप-जोख नहीं है; न वह ऐसा अस्वाभाविक और कृत्रिम है कि उसमें वियोगानुभूति केवल हास्यानुभूति बनकर रह जाये। उन्होंने प्रेम के विरह-विदग्ध जीवन की अन्तर्दशाओं का जैसा-सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण किया है, वैसा बहुत कम कवि कर पाये हैं। रामधारी सिंह दिनकर ने उचित ही लिखा है—'विरह तो घनानन्द की पूँजी ठहरा। × × × रीतिकाल की बौद्धिक विरहानुभूति की निष्प्राणता और

कुण्ठा के वातावरण में घनानन्द की पीड़ा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है और मन सहज ही मान लेता है कि दूसरों के लिए किराये पर आँसू बहाने वालों के बीच यह एक ऐसा कवि है जो सचमुच अपनी पीड़ा से रो रहा है।" एक उदाहरण से दिनकर जी के इस कथन की पुष्टि हो सकेगी। पंक्तियाँ विरहिणी की प्रतीक्षा से सम्बन्धित हैं। सुबह से शाम तक प्रिय के आने की प्रतीक्षा में वह वन की ओर निहारती रहती है, शाम से सुबह तक टकटकी लगाकर आकाश के तारे गिनती है। यदि उसे अपने मन-भावन के कहीं दर्शन होते भी हैं तो आनन्दाधिक्य के आँसुओं के कारण नेत्र प्रिय-दर्शन के उस दुर्लभ क्षण को खो देते हैं और इस प्रकार मन को मोहित कर लेने वाले प्रियतम को देखने की लालसा निरन्तर बनी ही रहती है—

> भोर तें सांझ लों कानन ओर, निहारति बावरी नेकु न हारति।
> साँझ ते भोर लौं तारनि ताकिबो, तारनि सों इकतार न टारित॥
> जो कहुँ भावतो दीठि परै, घन आनन्द आँसुनि औसर गारति।
> मोहन-सोहन जोहन की, लगियै रहै आँखिन के उर आरति॥

प्रतीक्षा जितनी उत्कट एवं गहरी है दर्शन का सुख उतना अधिक होगा ही। विडम्बना यह है कि उस दर्शन के सुख को नायिका प्राप्त ही नहीं कर पाती। प्रियतम की जरा-सी झलक मिलते ही आँखें भर आती हैं। देखने का अवसर नष्ट हो जाता है। रीतिकाल के समर्थ कवि बिहारी ने भी विरहिणी की इस विडम्बना का वर्णन किया है—

> इन दुखिया अंखियान को, सुख सिरज्यौ ही नाहिं।
> देखे बने न देखते, अन देखे अकुलाहिं॥

बिहारी का यह दोहा किन्हीं अर्थों में अनूठा है किन्तु दोहे जैसे छोटे छन्द की सीमाओं का अध्ययन रखते हुए भी, घनानन्द की शब्द मैत्री एवं उसकी आनुप्रासिकता के सौन्दर्य को भी एक ओर रखकर, मात्र-भाव की दृष्टि से जो सौन्दर्य घनानन्द की पंक्तियों में उभर सका है, वह बिहारी की पक्तियों में नही। बिहारी भी आँखों की विवशता का चित्र घनानन्द की भाँति ही प्रस्तुत करते हैं किन्तु 'इन दुखिया आंखों के लिए सुख का सृजन हुआ ही नहीं है' एक सामान्य निष्कर्ष निकाल कर दर्शन-सुख की सम्भावना का भी मानो अन्त कर देते हैं, जबकि घनानन्द की विरहिणी की दर्शन की यह कामना और तीव्र हो उठती है। कहने की आवश्यकता नही कि सौन्दर्य प्राप्ति की सम्भावना का अन्त कर देने में नहीं, उसे बनाये रखने में ही अधिक है। इस प्रकार कितने ही उदाहरण घनानन्द की तथा आलम, एवं बोधा आदि की कविताओं से दिये जा सकते हैं। घन आनन्द और बोधा जैसे कवियों की इस 'प्रेम की पीर' की मार्मिकता को लक्ष्य कर कतिपय आलोचकों ने इन पर सूफी कवियों का प्रभाव देखा है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं—"प्रेम की पीर सूफी कवियों का प्रतिपाद्य विषय है। अतः स्वच्छन्द कवियों ने प्रेम की यह पीर फारसी काव्यधारा की वेदना की विवृत्ति के साथ सूफी कवियों से ही ली है। इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।"

कहीं-कहीं घनआनन्द आदि में फारसी काव्य की विरह में चीरफाड़ वाली प्रवृत्ति की झलक भी मिल जाती है। 'लगै आँसुअन झरी ह्वै टूक छाती' तथा 'कारी कूर कोकिला कहाँ को वैर काढ़ति री' आदि पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं किन्तु ऐसे स्थलों की संख्या न्यून ही है।

ब्रजभाषा का चरम विकास—वैसे तो सम्पूर्ण रीति-कालीन कविता ने ही किन्तु रीति मुक्त काव्य-धारा वाले कवियों ने विशेष रूप से, काव्य-भाषा के रूप में जो ब्रजभाषा का विकास किया वह अद्भुत है। ऐसा लगता है कि इन कवियों ने काव्य-भाषा के विकास की समस्त सम्भावनाओं को निचोड़ कर अपनी कविता में रख दिया। भाषा के इन सफल प्रयोक्ताओं में घनानन्द अनन्य हैं। शुक्ल जी ने लिखा है—"घनानन्द जी उन विरले कवियों में से हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं अपनी भावनाओं के अनूठे रूप रंग की व्यंजना के लिये भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षण और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख उन्हीं को थी।"

चमत्कार प्रदर्शन—रीतिकालीन कविता चमत्कृति की कविता है। रीति-बद्ध कवियों का तो जैसे लक्ष्य ही चमत्कृत करना रह गया था। रीति-मुक्त कवियों के लिए चमत्कार साध्य ही है, साधन नहीं। हाँ, साधन-रूप में चमत्कार का यहाँ भी अभाव नहीं। उक्ति-वैचित्र्य, ध्वन्यात्मकता, वक्रोक्ति, नाद व्यंजना एवं विरोधाभास आदि के चमत्कार से भाषा को सम्पन्न बनाया है तो लोकोक्तियों एवं मुहावरों ने उसे स्वाभाविकता एवं सजीवता प्रदान की है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

विरोधाभास—

अचिरजमई मोहि भई घनआनन्द यौं,
हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहुं लहै।
विरह समीर की झकारनि अधीर नेह—
नीर भीज्यों जीव तऊ गुड़ी लौ उड़यौ रहै।

(मन प्रिय के हाथ में रहते हुए भी उनके सामीप्य सुख से वंचित है और स्नेह रूपी नीर से भीगकर भी मन पतंग के समान उड़ रहा है।) घनानन्द में विरोधाभास की प्रवृत्ति अत्यधिक है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है—"विरोधाभास के अधिक प्रयोग से घनआनन्द की सारी रचना भरी पड़ी है। साहस-पूर्वक यह कहा जा सकता है कि जिस पुस्तक में कहीं भी यह प्रवृत्ति न दिखाई दे उसे बेखटके घनआनन्द की कृति से पृथक किया जा सकता है।"

ध्वन्यात्मकता एव नाद व्यंजना—

ए रे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन वारि,
तो सों और कौन मनै ढरकोहीं बानि दे।
जगत् के प्रान, ओछे बड़े को समान, घन,
आनन्द निधान सुखदान दुखियानि दै॥ आदि

(यहाँ 'पौन', 'गौन' एवं 'कौन' तथा 'प्रान', 'समान', 'निधान' एवं 'सुखदान' की ध्वन्यात्मकता स्पष्ट ही है। शुक्ल जी ने 'आनन्द निधान सुखदान दुखियान दै' में मृदंग की ध्वनि का सुन्दर अनुकरण पाया है।)

उक्ति वैचित्र्य—

मोहि तुम एक, तुम्हें मौसम अनेक आहि,
कहा कछु चंदहि चकोरनि की कमी है।

(यहाँ 'एक' और 'अनेक' के वैषम्य में उक्ति वैचित्र्य का चमत्कार दर्शनीय है।)

दिनकर जी के शब्दों में 'घनानन्द के गुट का संस्करण' बोधा ने मुहावरों और लोकोक्तियों के सफल प्रयोग से भाषा को अभिव्यंजक बनाया गया है। यथा—

(१) जान मिलै तो जहान मिलै, नहि जान मिले तौ जहान कहाँ कौ।
(२) यह प्रेम को पंथ कराल महा, तरवारि की धार पै धावनो है।

(यहाँ 'जान मिलै तो जहान मिलै' तथा 'तरवारि की धार पै धावनो' लोकोक्ति एवं मुहावरे का प्रयोग हुआ है, जिससे अर्थ में सहज चमत्कृति उत्पन्न हो गई है।)

ठाकुर की निम्नलिखित पंक्तियों में भी 'री' के प्रयोग से उत्पन्न संगीतात्मकता एवं लोकोक्तियों के प्रयोग से उत्पन्न चमत्कार के दर्शन किये जा सकते हैं—

कवि ठाकुर चूकि गया जौ गोपाल तौ तैं बिगरी कौ सम्भारि लै री।
अब रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पायं पखारि लै री।।

भाषा के रचनात्मक प्रयोगों के ऐसे कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अलंकार भी सहज रूप से ही आये हैं। रीति-बद्ध कवियों के समान सायास नहीं। छन्दों में सवैया और कवित्त, जो सम्पूर्ण रीति-काव्य के ही प्रिय छन्द रहे हैं, यहाँ भी प्रयुक्त हैं। रचनाएँ मुक्तक रूप में ही हैं।

४. निष्कर्ष : रीति मुक्त काव्यधारा का योगदान एवं सीमायें :

अन्ततः कहा जा सकता है कि भाषा के क्षेत्र में वर्ण-संघटन, शब्द मैत्री, उक्ति वैचित्र्य एवं रोचक उपमानों के साथ शरीर के अंग प्रत्यंगों की रूप माधुरी के वर्णन आदि को इस कविता की मुख्य उपलब्धि स्वीकार किया जा सकता है। निश्चय ही भाषा को इन्होंने नये तेवर प्रदान किये। नई भंगिमा दी। सुकुमार भावों एवं ललित सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेष्टाओं की अभिव्यंजना भी इस कविता में उपलब्ध होती है। छन्द एवं लय की दृष्टि से भी यह काव्य अप्रतिम ठहरता है। इस काव्य की सीमाएँ भी स्पष्ट ही हैं। किशोरावस्था एवं यौवन के अतिरिक्त जीवन के कुछ अन्य पक्ष भी हैं, उन पर इन कवियों का ध्यान ही नहीं गया। जीवन की विविधताओं को इन्होंने स्पर्श ही नहीं किया। जीवन की वास्तविक जटिलताओं एवं संघर्षों से ये मुख मोड़े रहे। यह ठीक है कि यौवन जीवन में कुछ ही दिन के लिए आता है किन्तु उसका आकर्षण, महत्व एवं प्रभाव सर्वोपरि होता है। प्रेम मोहन है किन्तु मोहन-भोग की भी अतिशयता ऊब एवं एकरसता पैदा कर सकती है, इसका अनुभव ये कवि नहीं कर पाए।

४७ आधुनिक हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ

१. आधुनिक काव्य : सामान्य परिचय

आधुनिक हिन्दी कविता का इतिहास लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग से प्रारम्भ होता है। लगभग सौ सवा सौ वर्ष की इस अल्पावधि में भी इसने विकास की अनेक करवटें बदली हैं, जिन्हें विभिन्न नामों से पुकारा गया है। इन विभिन्न चरणों के नाम इस प्रकार हैं—

१. भारतेन्दु युग (१८६८ ई०—१६०० ई०)
२. द्विवेदी युग (१६०० ई०—१६१६ ई०)
३. छायावाद (१६१६ ई०—१६३६ ई०)
४. प्रगतिवाद (१६३६ ई०—१६४३ ई०)
५. प्रयोगवाद और नयी कविता (१६४३ ई० से आज तक)

इन विभिन्न चरणों की काव्य-गत प्रवृत्तियों में भी अन्तर आता गया है और कभी-कभी परस्पर विरोधी रूप में भी इन प्रवृत्तियों का विकास सम्भव हुआ है। ऐसी स्थिति में आधुनिक काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों को रेखाकित करने का कार्य थोड़ा जटिल हो जाता है, फिर भी यहाँ प्रयत्न किया जायेगा।

२. आधुनिकता क्या है ?

आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व 'आधुनिक' शब्द के अभिप्राय और उसके निर्मायक घटक तत्वों की जानकारी भी यहाँ उपयोगी सिद्ध होगी। यों तो व्यापक अर्थों में अपने युग के प्रति पूर्णतः चेतन बना रहना ही आधुनिकता है और इस दृष्टि से प्रत्येक वह कवि अथवा व्यक्ति आधुनिक कहा जा सकता है जो खुली आँख से वर्तमान का दृष्टा रहा हो। अपने युग की संवेदना को पहचानने में जो समर्थ रहा हो। स्पष्ट है कि इस दृष्टि से कबीर भी आधुनिक थे, तुलसी भी और बिहारी भी। तब १६वीं शताब्दी के मध्य भाग के बाद के काव्य को ही आधुनिक कहने का क्या प्रयोजन हो सकता है ? वस्तुतः इसी अवधि में हिन्दी-काव्य ने अपनी मध्यकालीन संस्कारिता से मुक्ति पाने का प्रयास किया। यह मध्य-कालीन संस्कारिता मानव की अटूट आस्था एवं विश्वास से निर्मित थी, जो मानवो-परि किसी अ-लौकिक सत्ता के प्रति समर्पित था। धर्म को इस संस्कारिता का प्रमाण-बिन्दु माना जा सकता है। जनता की इस भावना का दुरुपयोग कर सामन्ती

प्रवृत्तियाँ भी इस संस्कारिता का अंग बनी और खूब फूली-फलीं । आधुनिक हिन्दी काव्य ने इसी संस्कारिता पर चोट की ।

भारतीय आधुनिकता को निर्मित एवं विकसित करने में अंग्रेजों का बड़ा हाथ रहा । धर्म-भावना का स्थान विज्ञान और प्रविधि ने लिया । अंग्रेजों के माध्यम से उद्योग के क्षेत्र में मशीन का प्रवेश हुआ । अन्य क्षेत्रों में भी रेलगाड़ी, मोटरकार, वायुयान, सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन आदि के प्रयोगों ने एक विशेष क्रान्ति को जन्म दिया । राजनीतिक क्षेत्र में भारतीय कांग्रेस के अनेक नेताओं ने, जिनमें तिलक एवं गांधी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, भारतीयों में स्वातन्त्र्य चेतना को विकसित किया और अन्ततः लम्बे संघर्ष के बाद जवाहरलाल नेहरू ने विश्व-राजनीति में भारतीय राजनीति की एक विशेष तसवीर बनाने का प्रयत्न किया और अनेक सिद्धान्तों को जन्म दिया, जिन्हें बाद में व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया गया । अनेक अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं ने भी भारत के इस आधुनिक बोध को विकसित किया । इन घटनाओं में दोनों विश्व-युद्धों की घटना का अपना विशिष्ट स्थान रहा है । द्वितीय विश्व-युद्ध के व्यापक संहार ने तो जैसे किसी मानवोपरि शक्ति के प्रति निःशेष विश्वास की भी जड़ें हिला दीं । डार्विन, मार्क्स, फ्रायड एवं सार्त्र आदि पाश्चात्य चिंतकों का भी इस काल की चेतना पर व्यापक प्रभाव दिखलाई पड़ता है । रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, राजाराम मोहन राय, रवीन्द्र, अरविन्द, गांधी एवं विनोबा आदि अनेक भारतीय मनीषियों ने भी भारत की आधुनिक चेतना के निर्माण में अपना अमूल्य योगदान दिया है । आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में वर्ग-विहीन समाज की कल्पना को इस चेतना की मुख्य उपलब्धि को स्वीकार किया जा सकता है । उक्त विवेचना की आशय केवल उन प्रमुख घटक तत्वों की ओर संकेत मात्र करना था, जिनसे हिन्दी कवियों की आधुनिक चेतना निर्मित एवं विकसित हुई ।

३. प्रमुख प्रवृत्तियाँ—

(अ) कथ्य की दृष्टि से :

मानवतावाद का विकास—आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्ति है—किसी अलौकिक शक्ति के स्थान पर मानव की शक्ति को अधिक से अधिक प्रतिष्ठा देना । इस युग की कविता में मानवी क्षुद्रता को दैवी शक्ति की महत्ता से अधिक महत्व दिया गया । यह कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही प्रारम्भ हो गया था, जिन्होंने अविद्या, अंधविश्वास, अज्ञान एवं अनेक रूढ़ियों से घिरे मानव को देखकर अपना सिर पीट लिया था और उसे इनसे मुक्त होने को प्रेरित किया था । द्विवेदी युग में मैथिलीशरण गुप्त के 'राम' एवं हरिऔध के 'कृष्ण' निश्चय ही, मध्यकालीन संस्कारिता से ऊपर उठे हुए है । मैथिलीशरण के राम तुलसी के राम नहीं हैं । वे तो स्पष्ट घोषणा करते हैं—

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस धरती को ही स्वर्ग बनाने आया॥

हरिऔध के कृष्ण गोवर्धन पर्वत को अपनी अंगुली पर नहीं उठाते बल्कि वर्षा में डूबते हुए व्रज के जनसमुदाय को गोवर्धन पर्वत पर चढ़ाकर जल की भयावहता से मुक्त होने का न केवल परामर्श देते हैं वरन्, स्वयं काफी भाग-दौड़ करके इस शुभ-कार्य को सम्पन्न भी कराते हैं। यह सही है कि द्विवेदी-युग में राम और कृष्ण के पौराणिक चरित्र मानवी धारातल पर तो अवतरित हुए किन्तु वे आदर्शवादी बने रहे। 'छायावाद' में प्रकृति के सुकुमार कवि पंत ने, जो कभी प्रकृति के सौन्दर्य के सम्मुख किसी मानवी बाला के बाल-जाल में अपने लोचन उलझाने के लिए तैयार नहीं थे, मानव को सुन्दरतम घोषित करते हुए कहा—

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर।
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम॥

महाकवि निराला ने कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' की अनेक कविताओं में मानव की क्षुद्रता को अधिक से अधिक महत्ता दी। 'नवीन' तथा 'दिनकर' आदि सांस्कृतिक राष्ट्रीय भाव-धारा के कवियों ने भी मानव की दीन-हीन स्थिति के प्रति अपनी पीड़ा एवं आक्रोश की अभिव्यक्ति की। 'नवीन' का आक्रोश देखिए—

जूठे पत्ते खाते देखा, जिस दिन मैंने नर को।
मन में आया आग लगा दूँ, मैं इस दुनिया भर को॥

प्रगतिवादी कवियों ने तो शोषित मानवता के उद्धार में कोई कमी छोड़ी ही नहीं। इनकी तो कविता का प्रमुख स्वर ही शोषक-वर्ग के प्रति आक्रोश एवं शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति के चित्रण का रहा। नयी कविता में आज 'लघु मानव' को प्रतिष्ठित किया जा रहा है। नये कवियों ने अपनी तमाम सीमाओं और और क्षुद्रताओं के बावजूद भी मानव को अधिक से अधिक गरिमा प्रदान की है। इस दृष्टि से धर्मवीर भारती की प्रसिद्ध कविता 'रथ का टूटा पहिया' को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें यह टूटा पहिया लघु एवं क्षुद्र मानव का ही प्रतीक है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिक काव्य में विविध रूपों में मानवतावाद का विकास हुआ।

राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय भावना का विकास—आधुनिक हिन्दी काव्य की दूसरी बड़ी विशेषता इसमें व्यक्त राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय भावना के विकास से सम्बद्ध है। भारतेन्दु काल में राष्ट्रीयता का यह स्वर राजभक्ति के रूप में प्रकट हुआ है किन्तु दबे स्वर में में शासन की बुराइयों की आलोचना भी इसमें की गई है। द्वितीय युग में राष्ट्रीयता की भावना पुष्ट होती दिखलाई पड़ती है और इसमें स्वतन्त्रता के प्रति देश-व्यापी आन्दोलन का प्रतिफलन दृष्टिगोचर होता है। यहां विदेशी सत्ता का स्पष्ट विरोध किया जाता है। कभी भारत के अतीत का गौरव-गान किया जाता है तथा वर्तमान से उसकी तुलना की जाती है—

हम कौन थे क्या हो गए और क्या होंगे अभी।

और कभी एकता के लिए कवि आह्वान करता है—

दो एक एकादश हुए किसने नहीं देखे सुने।
हाँ, शून्य के भी योग से हैं अंक होते दस गुने।।

इसी युग में श्रीधर पाठक जैसे कवियों ने भारत की प्रकृति के विभिन्न रम्य दृश्यों का चित्रण किया। छायावाद में यह राष्ट्रीय भावना विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पाती है। कभी अतीत के गौरव-गान के रूप में—

हिमालय के प्रांगण में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।।
जगे हम लगाने जगाने विश्व, विश्व में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम पुँज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।। —'प्रसाद'

तो कभी प्राकृतिक एवं साँस्कृतिक गरिमा को उजागर करने में—

अरुण, यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुंच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा। —'प्रसाद'

कभी यहाँ की जनता के दुःख दारिद्रय के यथातथ्य चित्रण में—

भारतमाता ग्राम वासिनी
तीस कोटि सुत अर्धनग्न तन
अन्न वस्त्र पीड़ित, अनपढ़ जन
झाड़ फूँस घर के घर आँगन
प्रणतर्शाश तरुतल निवासिनी। —पंत

तो कभी यहाँ के महान नेताओं के चरित्रगान में प्रकट हुई है। (दृष्टव्य-पंत की 'महात्मा जी के प्रति कविता') यहीं से राष्ट्रीयता की भावना में एक मोड़ आता है और यह राष्ट्रीयता की संकुचित सीमाओं को तोड़ अन्तरराष्ट्रीयता की ओर उन्मुख होती है और वह शक्ति के समस्त बिखरे हुए कणों को एकत्र करके विश्व मानवता के विजयिनी' होने की आकांक्षा करने लगता है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के कवियों—विशेष रूप से माखन लाल चतुर्वेदी, नवीन एवं दिनकर की कविताओं का तो मूल स्वर ही राष्ट्रीयता हो गया है। यहाँ कभी फूल बनकर मातृभूमि के चरणों में स्वयं समर्पित होने की कामना कवि प्रकट करता है। (माखनलाल चतुर्वेदी) तो कभी मातृभूमि पर संकट आया देख वह यहां के प्रत्येक जन का आह्वान करते हुए कहता है—

चिन्तको! चिन्तना की तलवार गढ़ो रे।
ऋषियों! कृशानु-उद्दीपक मंत्र पढ़ो रे।
योगियो! जगो जीवन की ओर बढ़ो रे।
बन्दूकों पर अपना आलोक मढ़ो रे।
—'रामधारी सिंह दिनकर'

प्रगतिवादी काव्य में कवि अन्तरराष्ट्रीयता की ओर अधिक उन्मुख हुआ है। उसे भारत के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व में शोषित एवं शोषक वर्ग के बीच गहरी खाई दिखलाई पड़ती है। कवि उसे पाटने के लिए व्याकुल है। वह रूस में यदि इस प्रकार के प्रयत्नों सफलता को देखता है तो वह रूस की ही प्रशंसा करने लगता है और यहाँ तक कह जाता है कि 'लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का।' कहीं-कहीं कुछ राजनैतिक दुराग्रहों से यह अन्तरराष्ट्रीयता की भावना दोष की सीमा को छू गई है। नये कवि ने ये तो आज की सिमटी हुई दुनिया को एक इकाई के रूप में ही देखा है और इनकी राष्ट्रीयता अन्तरराष्ट्रीयता के साथ कोई विरोध नहीं देखती।

नारी जागरण— आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-जागरण का स्वर अत्यन्त प्रबल रहा है। भारतेन्दु युगीन कविता में नारी को अनेक प्रकार के अंध-विश्वासों एवं रूढ़ियों से मुक्त करने का प्रयत्न हुआ। द्विवेदी युग में मैथिलीशरण गुप्त ने यदि एक ओर सीता और राधा जैसे प्रमुख नारी-पात्रों को उनके पारस्परिक मध्यकालीन स्वरूप से उबारा तो दूसरी ओर ऊर्मिला एवं यशोधरा जैसी उपेक्षिताओं को तथा कैकेयी एवं कुब्जा जैसी लांछिताओं को सामने लाया गया। नारी को सहानुभूति दी गई। वह अब न तो मध्यकालीन संत कवियों की 'खाँड की मीणि' (कबीर) रही, जो छेड़ते ही काटती थी और न रीतिकालीन कवियों की मात्र 'कामिनी' जो देखते ही विवेक और चित्त दोनों को हरती थी—(देव)। वह मुक्त रूप से जीवन के प्रांगण में आई और कवि ने उसकी मुक्ति का सीधा आह्वान किया—

मुक्त करो नारी को मानव, चिर वन्दिनी नारी को।

तथा—

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे नर पर अवसित। —'पंत'

यही नहीं, उसे श्रद्धा, माया, ममता आदि सभी गुणों से ओत-प्रोत आदर्श रूप में देखा गया—

'नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में ॥' —'प्रसाद'

प्रयोगवाद और नई कविता में वस्तुतः नारी के पारम्परिक एवं आधुनिक दोनों रूपों का चित्रण किया गया है। इन कवियों का प्रमुख स्वर नारी को पु ष के समान ही स्वच्छंदता प्रदान करने का रहा है। इस प्रकार निरन्तर जाग्रत होने वाली नारी के स्वर से आधुनिक काव्य भरा पड़ा है। डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल तो सम्पूर्ण आधुनिक साहित्य को 'नारी-प्रधान साहित्य' पुकारते हैं क्योंकि—"काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि में अधिकांशतः नारी पात्र ही नेतृत्व करते हैं अथवा पुरुष पात्रों की अपेक्षा अधिक गरिमामय प्रतीत होते हैं।"

(४) **व्यक्तिवाद एवं समाजवाद**— आधुनिक काव्य में फ्रॉयड एवं मार्क्स का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। कभी कविता व्यक्ति-मन की अन्तर्गुहाओं में प्रविष्ट कर उसकी अचेतन वृत्तियों का अन्वेषण करती प्रतीत होती है और कभी वह वैयक्तिकता के घेरे को तोड़कर सामाजिकता के अपेक्षाकृत विस्तृत प्रांगण में विचरण करने लगती है। छायावादी युग में कविता में वैयक्तिकता का आग्रह प्रबल था और प्रगतिवादी कविता में सामाजिकता का। छायावादी कवि अपने व्यक्तिगत जीवन की सुख-दुख की निवृत्ति में अधिक रमते दिखलाई पड़ते हैं तो प्रगतिवादी कोयले की खानों में काम करने वाले खनिकों, पत्थर तोड़ने वाले मजदूरों और खेती करने वाले ग्रामीण किसानों के दुःख सुखों को वाणी देने में स्वयं को धन्य समझते हैं। छायावादी कविता ने यदि मन की छानबीन में रुचि दिखाई तो प्रगतिवादी कविता ने तन की आवश्यकताओं पर ध्यान केन्द्रित किया। एक में यदि कल्पना की अतिशयता एवं आदर्शवाद को बोलबाला था तो दूसरा यथार्थ के खुदरे धरातल पर आ टिका। प्रयोगवादी कवि एक बार पुनः व्यक्तिमन के अन्वेषण में प्रवृत्त दिखलाई पड़ा, भले ही वह प्रगतिवाद की जड़ता की स्थिति तक जा पहुंची सामाजिकता की ही प्रतिक्रिया रही हो। नया कवि भी प्रारम्भ में वैयक्तिक कविताएँ लिखता रहा किन्तु अब वह अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से महत्व देता हुआ सामाजिकता की ओर उन्मुख होता जा रहा है। निस्सन्देह, अब व्यष्टि और समष्टि के बीच के अन्तराल को कम किया जा रहा है। 'लघुता' का दर्शन उभर रहा है, जिसमें अपनी सीमाओं में लघु एवं छुद्र माने जाने वाले मानव को अधिक से अधिक गरिमा प्रदान की जा रही है।

बौद्धिकता का आग्रह—विज्ञान एवं प्रविधि के अभ्युदय से मध्यकालीन भावुकता का स्थान आधुनिक बौद्धिकता ने ले लिया है। बौद्धिकता का आग्रह इतना प्रबल होता गया है कि कविता में भाव-पक्ष लुप्त-सा होने लगा है। दिनकर ने इस स्थिति को ठीक ही पहचाना है—

> और है बढता गया मस्तिष्क ही निःशेष।
> छूटकर पीछे ग ा है, रह हृदय का देश॥

प्रगतिवादी कविता में जब बौद्धिकता और वैचारिकता का आग्रह बढ़ा तो कविता गद्य के अत्यधिक निकट आती चली गई। नई कविता को तो कुछ आलोचकों ने 'विचार की कविता' कहा ही है और कुछ इसे मात्र 'बुद्धि की खुरचन' ही मानते हैं। वस्तुतः वह रिझाने के बजाय सताने अधिक लगी है। कुछ समर्थ नये कवियों में जो निर्वैयक्तिकतावाद उभरता दिखलाई पड़ रहाहै, वस्तुतः यही आज के वैज्ञानिक बोध की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

(आ) अभिव्यक्ति की दृष्टि से :

खड़ी बोली का आगमन–आधुनिक काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है, मध्यकालीन काव्य-भाषा ब्रज एवं अवधी के स्थान पर खड़ी बोली के आगमन की। मध्य-

कालीन कवियों और उनके प्रति आस्थावान आलोचकों के लिए ब्रजभाषा के अभाव में कविता का लिखा जाना सम्भव नहीं था किन्तु आधुनिक हिन्दी कविता का सम्पूर्ण इतिहास 'खड़ी बोली' के काव्य-भाषा के रूप में विकसित एवं सम्पन्न होने का इतिहास है। महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से मैथिलीशरण गुप्त एवं हरिऔध जैसे द्विवेदी युगीन महारथियों ने खड़ी बोली को अपनी कविताओं का माध्यम बनाया। छायावाद में आकर खड़ी बोली का विकास अपने चरम शिखरों को छूने लगा एवं प्रसाद निराला, महादेवी वर्मा और इन सबसे बढ़कर खड़ी बोली के शिल्पी पंत ने खड़ी बोली को मधुर, व्यंजक एवं प्रौढ़ बनाने में अपूर्व योग दिया। प्रगतिवाद में यह जन-भाषा के निकट आई। प्रयोगवाद और नई कविता में इसका संस्कृत अभिजातीय रूप भी दिखलाई पड़ता है और कभी जनता-जनार्दन वाला अपेक्षाकृत सरल रूप भी।

नये उपमान, प्रतीक एवं बिम्बों का प्रयोग—नये उपमान, प्रतीक एवं बिम्बों के प्रयोग को भी आधुनिक कविता के शिल्प की बड़ी विशेषता स्वीकार किया जाना चाहिये। इस दृष्टि से छायावादी प्रगतिवादी और सबसे अधिक नये कवियों का प्रदेय स्तुत्य समझा जाना चाहिये। जैसे-जैसे जीवन का क्षेत्र व्यापक होता चला गया, वैसे-वैसे नए उपमानों एवं प्रतीकों का आगमन भी कविता में होता रहा। छायावादी कवियों ने उपमा के अनेक नवीन प्रयोग किए। स्थूल की स्थूल से उपमा देने के स्थान पर सूक्ष्म से सूक्ष्म की, सूक्ष्म से स्थूल की एवं स्थूल से सूक्ष्म की उपमा देने की व्यापक प्रवृत्ति इन कवियों में पाई जाती है। कतिपय नये अंलकारों, जैसे विशेषण विपर्यय, मानवीकरण एवं विरोधाभास आदि का व्यापक प्रयोग इस कविता में हुआ। अनेक पारंपरिक प्रतीकों के साथ नये-नये प्रतीकों का आगमन हुआ। कविता में प्रतीकात्मकता बढ़ी और नई कविता को तो अब पूर्णतः प्रतीकात्मक कविता कहा ही जा सकता है। छायावादी कविता बिम्ब-बहुला रही, प्रगतिवादी कविता में सपाट बयानी बढ़ी और अब नई कविता में बिम्ब एव सपाट बयानी दोनों ही प्रवृत्तियाँ देखने को मिल रही हैं। नये कवियों ने स्पष्ट घोषणा की थी—"ये उपमान मैले हो गये हैं, देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच' और अपनी इसी धारणा के अनुसार उन्होंने कैक्टस, कौआ, गेंडा, छिपकली आदि सैंकड़ों नये प्रतीकों एवं उपमानों का प्रयोग किया है।

छन्द-क्रान्ति—आधुनिक काव्य ने छन्द के क्षेत्र में क्रान्ति की है। भारतेन्दु युग में तो पद, सवैया, कवित्त, दोहा एवं चौपाई आदि पारंपरिक छन्द प्रचलित रहे किन्तु द्विवेदी युग में मात्रिक एवं वर्णिक अनेक नये छन्दों का प्रयोग हुआ। छन्दों के क्षेत्र में अतुकान्त या अमित्राक्षर (ब्लैंक वर्स) तथा मुक्त-छन्द (फ्री वर्स) के व्यापक प्रयोग ने एक हलचल सी उत्पन्न कर दी। अतुकान्त छन्दों का प्रयोग तो द्विवेदी युग से प्रारम्भ हो गया था। किन्तु मुक्त-छन्द निराला एवं पंत के काव्यों में प्रयुक्त हुआ। बाद में नयी कविता मुक्त छन्द प्रधान कविता ही हो गई और धीरे-धीरे छन्द से ही मुक्त होने का प्रयास करने लगी। नये कवियों ने पुराने, नये छन्दों को मिलाकर अनेक मिश्रित छन्दों को भी जन्म दिया।

४. निष्कर्ष : आधुनिक बोध कविता

कुल मिलाकर आधुनिक हिन्दी-कविता आधुनिक बोध की कविता है। इस आधुनिक बोध का प्रभाव उसके कथ्य एवं अभिव्यक्ति दोनों पक्षों पर देखा जा सकता है। भारतेन्दु से लेकर नई कविता के युग तक इस आधुनिक बोध का क्रमिक विकास हुआ है। डॉ० शम्भूनाथसिंह ने पिछले सत्तर वर्ष की कविता को 'आधुनिक बोध की सप्तपदी' कहकर पुकारा है। इस युग की कविता का इतिहास बदलते हुए जीवन-मूल्यों का इतिहास है। मानव को उसके सम्पूर्ण परिवेश में रखकर उसे जितनी गरिमा इस युग की कविता में दी गई है, उतनी पिछले युगों की किसी कविता ने नहीं दी। यह कविता पराधीनता के व्यूह को भेदती हुई, पूँजीवाद, सामंतवाद, वैयक्तिकतावाद और समाजवाद की विभिन्न जीवन-दृष्टियों को पचाती हुई लोकतान्त्रिक समाजवादी मूल्यों की ओर अभिमुख हो रही है। डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल के इन शब्दों से हम पूरी तरह सहमत हैं। उन्होंने लिखा है—"एक शब्द में इसे स्वतन्त्र और मुक्ति का काव्य कह सकते हैं—विदेशी शासन से मुक्ति, मध्यकालीन संस्कृति से मुक्ति, जीर्ण परम्पराओं से मुक्ति तथा चिन्तन और विचारों से मुक्ति।"

—: ० :—

४८ प्रयोगवाद और नयी कविता : प्रमुख प्रवृत्तियाँ

१. प्रयोगवाद और नयी कविता एक नहीं :

नई कविता प्रयोगवाद से आगे बढ़ी कविता है। प्रयोगवाद ने नई कविता के लिये सम्यक् पृष्ठभूमि का निर्माण किया। कभी-कभी प्रयोगवाद और नई कविता को एक ही समझ लिया जाता है। यद्यपि हिन्दी की प्रयोगवादी कविताओं एवं कवियों को नई कविता की कविताओं तथा कवियों से एकाएक पृथक् कर सकना कठिन होगा, तदपि दोनों को एक ही स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनमें कथ्य एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी सूक्ष्म अन्तर है। इस अन्तर को हृदयंगम करने के लिये प्रयोगवाद और नई कविता के विकास की किंचित् जानकारी अपेक्षित होगी।

२. प्रयोगवाद का विकास

हिन्दी कविता में यों तो सन् ३६–३७ के बाद से ही प्रयोगों की शृंखला प्रारम्भ हो गई थी किन्तु अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार-सप्तक' (१९४३ ई०) को ही इन प्रयोगों का प्रतिष्ठित प्रकाशन स्वीकार किया जा सकता है। सम्पादक ने संकलित कवियों को 'नई राहों के अन्वेषी' बतलाया था। वस्तुतः इन्हीं अन्वेषकों की कविताओं के लिये परिहास में दिया गया नाम प्रयोगवाद है। प्रयोग यूं तो हर काल की कविता में होते आये हैं और किसी भी महती काव्य परम्परा को जीवन्त एवं प्रगतिकामी बनाये रखने के लिये उनका होना अपरिहार्य भी होता है किन्तु हिन्दी कविता में यह प्रयोगवाद सन् १९४३ ई० से लेकर १९४९ ई० ('हरी घास पर क्षण भर' का प्रकाशन काल) के बीच की 'तार सप्तक' एवं 'प्रतीक' (१९४६ ई०) आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली उन कविताओं के लिये ही यह नाम चल पड़ा. जिनकी रचना सामाजिक यथार्थ के नाम पर व्यक्ति को सामूहिक यांत्रिकता की जड़ इकाई मात्र मानने वाली प्रगतिवादी कविताओं की प्रतिक्रिया के रूप में हुई एवं जिनमें व्यक्ति-चेतना को बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया। छठे दशक के प्रारम्भ से ही 'नयी कविता' प्रकाश में आने लगी थी किन्तु प्रयोगों की शृंखला भी यत्किंचित् बनी रही। उदाहरणार्थ, 'दूसरा सप्तक' के कवि शमशेर बहादुरसिंह, नरेश मेहता एवं 'तीसरा सप्तक' के मदन वात्स्यायन की प्रवृत्ति प्रयोगशील बनी रही। सप्तकेतर कवियों में लक्ष्मीकांत वर्मा, राजेन्द्र किशोर, श्रीराम वर्मा और राजकमल चौधरी आदि कवियों ने भी अनेक प्रयोग किये। जिन प्रयोगवादी कवियों

को सप्तकों में स्थान नहीं मिला, उनमें से कुछ ने 'प्रपद्यवाद' नाम से एक अलग शिविर बनाया और तीन प्रमुख कवियों—नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश-की कविताओं का संकलन 'नकेन' के नाम से सन् १९५६ ई० से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक के प्रारम्भ में 'प्रपद्यवाद' के बारह सूत्र तथा अन्त में 'पस्पशा' के अन्तर्गत प्रपद्यवाद या प्रयोगवाद की व्याख्या दी गई है। इन कवियों का तो दावा है कि वास्तविक प्रयोगवादी तो वे ही हैं, अज्ञेय द्वारा सम्पादित सप्तकों के कवि प्रयोगवादी नहीं, केवल प्रयोगशील हैं, क्योंकि उन्होंने प्रयोग को साध्य नहीं, साधन माना है। शिविर के एक अन्य कवि शिवचन्द्र शर्मा ने अपनी कविताओं का संकलन··· 'कवितायें शिवचन्द्र शर्मा की' (सन् १९६५ ई०) प्रकाशित कराया और एक नये मत लिखवादल मौतवाद' का प्रवर्त्तन किया। इसी प्रकार के कुछ प्रयोग बाद के वर्षों में भी हुए हैं और इस प्रकार प्रयोगों की शृंखला आत्यन्तिक रूप से अभी भी निःशेष नहीं हो पाई है किन्तु जैसा कि हम लिख चुके हैं, प्रयोगवाद नाम 'तार सप्तक' के प्रकाशन-काल से लेकर अज्ञेय की 'हरी घास पर क्षण भर' काव्य-कृति' के रचना काल तक की कविताओं के लिये ही दिया गया।

३. प्रयोगवाद की सीमाएँ :

अपने विकास की इस अल्पावधि में ही प्रयोगवाद की सीमाएँ स्पष्ट होने लगीं। फ्रायडीय चिन्तन को आधार बनाकर ये कवि व्यक्ति-मन के अवचेतन में इतने गहरे उतरे कि चेतन-मन की आशा-आकाक्षांओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा। अपने अति यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण कभी-कभी केवल भदेसपन की अभिव्यक्ति ही इनकी कविता का उद्देश्य हो गया। जहाँ इनके छन्द-विधान, शब्द-निर्माण, वाक्य-संघटन, वर्ण-विन्यास, एवं पंक्ति-रचना के स्तर पर किये गये प्रयोगों ने भाषा को रचनात्मक शक्ति-प्रदान की; वहीं इनके विभिन्न प्रकार के रेखागणितीय चित्रों, अस्पष्ट एवं खण्डित बिम्बों, वैयक्तिक प्रतीकों एवं अस्वाभाविक उपमानों के प्रयोगों ने पाठक को मानसिक आघात तो पहुँचाया किन्तु उसके संवेदन को उकेर सकने में वे सफल नहीं हुए। कवियों में प्रयोग के लिये प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ी।

४. नयी कविता का उद्भव : कारण और विकास :

इसके साथ ही साथ परिवेश की भिन्नता भी प्रयोगवाद के इस शीघ्र ह्रास में सहायक हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के परिवेश में व्यापक परिवर्तन घटित हुआ। देश के सामने अनेक समस्यायें आईं और उसे अनेक गम्भीर संकटों से जूझना पड़ा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के पहले दो तीन वर्षों में ही शरणार्थी समस्या, गाँधी जी की हत्या, कश्मीर-युद्ध एवं देशी रियासतों के विलयीकरण जैसी अनेक उग्र एवं जटिल परिस्थितियों से उसे निपटना पड़ा। राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद मुख्य प्रश्न था—आर्थिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति का। निश्चय ही स्वतंत्रता प्राप्ति की घटना ने भारत के निर्धन से निर्धन एवं कमजोर वर्ग में भी कुछ बेहतर जिन्दगी जीने के अरमान जगा दिये थे किन्तु अनेक कारणों से उनके ये स्वप्न केवल स्वप्न ही बन

रह गये । जीवन के सभी क्षेत्रों में असंगति दिखलाई पड़ती थी । फलस्वरूप जनता में व्यापक असन्तोष, आक्रोश, क्षोभ, निराशा, अनास्था, एवं अविश्वास ने जन्म लिया । कुछ इसी प्रकार के भाव-बोध को वाणी देने के लिये नई कविता प्रकाश में आई ।

'नई कविता' (१९५४ ई०) पत्रिका के प्रकाशन ने इस नई चिन्ता धारा को प्रतिष्ठित करने में उल्लेखनीय योग दिया । इस पत्रिका ने नई कविता की भाव-भूमि को सैद्धान्तिक जामा पहनाया । साथ ही 'आलोचना' (१९५३ ई०), 'नये पत्ते' (१९५३ ई०) एवं 'निकष' (१९५५ ई०) आदि पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । 'छठे दशक' में नई-कविता का बहुत कुछ महत्वपूर्ण अंश प्रकाश में आ चुका था और लगभग दस ही वर्षों में उसमें स्वयं को दोहराने की प्रवृत्ति आ गई । कथ्य एवं अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर ताजगी का अभाव दिखलाई पड़ने लगा और रूढ़ियों को तोड़ने वाली कविता स्वयं रूढ़ि-ग्रस्त होने लगी । 'सातवें दशक' में इसमें कुछ अराजकतावादी प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा । सन् १९६५ ई० के बाद तो देश की राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थिति के अनुसार यह अराजकता और तीव्र गति से बढ़ी एवं हिन्दी कविता में लघु पत्रिकाओं के माध्यम से अनेक नये कवियों एवं नामों की बाढ़ आ गई । डॉ० जगदीश गुप्त ने ऐसे चालीस से ऊपर नामों की संख्या गिनाई है (देखिये, 'नयी कविता, का आठवाँ अंक) जो नई कविता से अलग हटकर स्वय को प्रतिष्ठित करने के आकांक्षी थे । इनमें स अ-कविता, सनातन, सूर्योदयी कविता, अपरम्परावादी कविता, युयुत्सावादी कविता अस्वीकृत कविता, बीट कविता, नव-प्रगतिवादी कविता, नवगीत एवं सार्थक कविता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं किन्तु शीघ्र ही इन आंदोलनों के सम्पादकों एवं प्रकाशकों का जोश ठंडा पड़ गया और ये एक-एक दो-दो अंक निकाल कर चुक गयीं । इस सबसे नई कविता को लाभ भी पहुँचा । वस्तुतः सन् ६० के आस-पास नयी कविता में जो जड़ता-सी आती दिखलाई पड़ने लगी थी, वह टूटी और उसकी प्रवहमानता में भी तेजी आई । अब नई कविता पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुकी है और उसकी भाव-भूमि लोकतांत्रिक समाजवाद की ओर उन्मुख हो रही है ।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद और नयी-कविता में घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी दोनों एक नहीं हैं । नई कविता की भूमिका के रूप में उदित होकर प्रयोगवाद का पर्यवसान नयी कविता में हो गया । नयी कविता ने प्रयोगवादी व्यक्ति-चेतना को पूरा-पूरा महत्व देकर भी उसे समष्टि-चेतना की ओर उन्मुख किया । अति यथार्थवादी प्रवृत्ति पर प्रामाणिकता का अकुश लगाया । प्रयोग को साध्य रूप में स्वीकार न करके उसे साधन रूप में ही स्वीकार किया ।

५. नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ :

नयी कविता की कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—

(i) **अनुभव की प्रामाणिकता**—नयी कविता अपने भोगे हुए अनुभव को ही

अपनी कविता का विषय बनाती है। उसका किन्हीं 'कल्पित आदर्शों के अर्जित विश्वासों' में विश्वास नहीं है। उधार लिये अनुभव नये कविको कविता के लिये प्रेरित नहीं करते। वह सामाजिक अनुभवों को भी पहले अपनी अन्तर्दृष्टि का विषय बनाता है। अपने अनुभवों की भट्टी में गलाता है और उन्हें रचा-पचा कर ही अभिव्यक्त करता है। हिन्दी-कविता में बहुत पहले कबीर ने 'आँखिन की देखी' कविता लिखने का दावा किया था। नई कविता केवल आंखों देखी नहीं वरन् स्वयं के द्वारा भोगी हुई अनुभूति को ही अभिव्यक्त करने के पक्ष में है। अज्ञेय ने लिखा है—

अच्छे
अनुभव की भट्टी में तपे हुए कण दो कण
अन्तर्दृष्टि के
झूठे नुस्खे, वाद, रूढ़ि, उपलब्धि परायी के प्रकाश से
रूप शिव रूप सत्य की सृष्टि के

वह झूठी मुस्कानें बेचने के बजाय सच्ची चोटें ही बाँटने का विश्वासी है—

मैं नया कवि हूँ
इसी से जानता हूँ
सत्य की चोट बहुत गहरी होती है
मैं नया कवि हूँ
इसी से मैं जानता हूँ
चश्मे के तले की दृष्टि बहरी होती है
इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ
झूठी मुस्कान नहीं बेचता

(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

(ii) आधुनिक भाव-बोध की संपृक्ति—नयी कविता आधुनिक भाव-बोध को ही लेकर प्रतिष्ठित हुई है। विज्ञान, प्रविधि, नृतत्व शास्त्र, मनोविश्लेषण शास्त्र, समाजशास्त्र एवं राजशास्त्र आदि की विभिन्न विचारधाराओं एवं उपलब्धियों के आधार पर आज के नये कवि का भाव-बोध विकसित हुआ है। नयी कविता में इस भाव-बोध के दर्शन हमें विभिन्न रूपों में होते हैं। कहीं क्षण-बोध के रूप में, कहीं लघुता की प्रतिष्ठा के रूप में और कहीं रागात्मक तटस्थता के रूप में।

(अ) क्षण-बोध :

नया कवि अपने जीवन के छोटे से छोटे क्षण को अपनी पूरी सक्रियता के साथ भोग लेने का आकांक्षी है। वह इन क्षणों में ही जीवन की सार्थकता पाता है। क्षणों के अलावा उसके लिये और कुछ शाश्वत है नहीं। प्रत्येक क्षण शाश्वत काल की धारा का अंग होकर भी अद्वितीय होता है। इसलिये कवि उसे अच्छी तरह भोगने की बात करता है—

आज के इस विवक्त अद्वितीय क्षण को
पूरा हम जीलें, पीलें, आत्मसात् कर लें—
उसकी विवक्त अद्वितीयता में
शाश्वत हमारे लिये यही है
अजिर है, अमर है।

(अज्ञेय)

नयी कविता में इस क्षण-बोध पर बहुत ही सुन्दर कविताओं की रचना हुई है। अज्ञेय की तो एक पूरी कृति का ही नाम 'हरी घास पर क्षण भर' है। 'रघुवीर सहाय' ने इन कुछ क्षणों को कैसा जिया है, देखिये—

आज फिर शुरु हुआ जीवन
आज मैने एक छोटी सी सरल कविता पढ़ी
आज मैंने सूरज को डूबते देर तक देखा

इन क्षणों के अतिरिक्त जीवन में 'कनुप्रिया' को तो कोई सार्थकता ही नजर नहीं आती—

अच्छा मेरे महान कनु
मानलो कि क्षण भर को
मैं यह स्वीकार कर लूँ
कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण
सिर्फ भावावेश थे
सुकोमल कल्पनायें थीं
रगे हुए, अर्थ-हीन, आकर्षक शब्द थे
× × ×
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?

(धर्मवीर भारती)

(आ) लघुता की प्रतिष्ठा :

लघुता की प्रतिष्ठा में नये कवि का आधुनिक बोध व्यक्त हुआ है। उसने केवल 'लघु मानव' को ही प्रतिष्ठित नहीं किया, वरन् ऐसी सभी वस्तुओं एवं पदार्थों की ओर भी दृष्टिपात किया है जो अभी तक उपेक्षित थे। इनकी सरस्वती तुलसी की भाँति न तो 'प्राकृत जनों का गुणगान करने में सिर धुनती है' और न ही द्विवेदी-कालीन कवि मैथिलीशरण गुप्त की भाँति केवल 'राम के चरित्र के गुणगान' मात्र से ही साथक होती है। नये कवियों के 'लघु मानव' का अभिप्राय किसी पतित और क्षुद्र मानव से न होकर उस प्रकृत-जन से ही है जो अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद भी वरेण्य है। इस दृष्टि से धर्मवीर भारती की 'रथ का टूटा पहिया' कविता उल्लेखनीय है, जिसमें 'टूटा पहिया' इस लघु मानव का प्रतीक है, जिसमें उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि टूटा पहिया भी एक दम उपेक्षणीय एवं फेंक देने योग्य नहीं है,

वह भी शत्रु सेनाओं से घिरे किसी 'अभिमन्यु' की सहायता के काम आ सकता है। नया कवि 'नदी' के साथ-साथ नदी के बीच में स्थिति 'द्वीप' का भी विशिष्ट महत्व एवं अस्तित्व समझता है। यही नहीं 'कुकुरमुत्ता' की रचना कर कभी निराला ने और 'चींटी' जैसे विषय पर कविता लिखकर कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने छायावादी विषयों के जिस आभिजात्य को तोड़ने की दिशा का निर्दशन किया था, नये कवियों ने उस दिशा में बढ़ने का काफी प्रयत्न किया है। अब मात्र राम और कृष्ण जैसे महापुरुषों का चरित्र गान ही भक्ति के लिये उपयुक्त विषय नहीं समझा जाता, बल्कि छिपकली, चूहे, स्टोव, चाय का टिन, चूड़ी का टुकड़ा, कौआ, गेंडा, डी० डी० टी०, खाली बोतल एवं बुरूंश का फूल जैसे तिरस्कृत पदार्थों को भी कविता का विषय स्वीकार किया जाता है। अपनी लघुता में ही महानता के दर्शन करता हुआ वह घोषणा करता है—

किसी महान् का उच्छिष्ट मैं नहीं
किसी सम्भाव्य की अनुक्रमणिका नहीं
किसी समाप्ति का समापन चिन्ह नहीं
मैं हूँ अपने ही लघु अस्तित्व से जन्मा
व्यापक परिवेश का साक्षी और साक्ष्य
प्रज्ञ
विज्ञ
आत्म-स्थित
क्रियाशील
निश्शंक
प्रबुद्ध

(लक्ष्मीकांत वर्मा)

(इ) रागात्मक तटस्थता :

नयी कविता किसी आवेश, आवेग, अतिशय भावुकता एवं काल्पनिकता की कविता नहीं है। 'गैर रोमांटिक भाव-बोध' ही उसका प्रतिनिधि भाव-बोध है। 'रचने वाली मनीषा एवं भोगने वाले प्राणी का पार्थक्य' ही उसका आदर्श है। यह सही है कि नयी कविता में गैर रोमांटिक भाव-बोध की कविताएँ अभी अल्प मात्रा में ही लिखी गई हैं किन्तु वहाँ तक पहुँचना उसका लक्ष्य अवश्य है। कवि अपने अनुभव को अधिक से अधिक निरपेक्ष रहकर अभिव्यक्त करता है। डॉ० जगदीश गुप्त ने इस दृष्टि को 'ऋषि दृष्टि' कहा है। इस 'ऋषि दृष्टि' को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"ऋषि दृष्टि से तात्पर्य उस निर्भीक सत्यान्वेषी दृष्टि से है जो सुन्दर-असुन्दर, मधुर-तिक्त, रुचिर-कटु, सरल-जटिल, बहिरन्तर वैविध्यमय एवं अनेकमुखी जीवन को समग्र रूप में स्वीकार करते हुये हर वास्तविकता को विवेक युक्त तटस्थ भाव से देखती है।" (दे० नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ पृ० ६४—६५)। डॉ० राम-

स्वरूप चतुर्वेदी ने 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' नामक अपनी पुस्तक में अज्ञेय की कविता के योगदान की ओर संकेत करते हुये लिखा है—"निराला ने सहस्राब्दियों से चली आने वाली परम्परा को तोड़कर व्यवहार में साबित किया कि कविता छन्द नहीं है और अज्ञेय को पढ़ने पर क्लासिकल पद्धति से भिन्न तरह से शायद पहली बार-भले ही क्षीण रूप में—लगता है कि कविता में भावावेग या रोमांटिक मनस्थिति का होना अनिवार्य नहीं।" निःसन्देह, यह दृष्टि वैज्ञानिक चिन्तन और दृष्टि से प्रभावित है। इस गैर रोमांटिक भाव-बोध का एक उदाहरण प्रस्तुत है। अज्ञेय की एक छोटी सी कविता है—'मैं देख रहा हूँ', जो इस प्रकार है—

मैं देख रहा हूँ
झरी फूल से पखुरी
—मैं देख रहा हूँ अपने को ही झरते
मैं चुप हूँ;
वह मेरे भीतर बसंत गाता है।

(अरी ओ करुणा प्रभामय)

प्रस्तुत कविता 'नश्वरता बोध' की कविता है किन्तु अभिव्यक्ति के ठण्डेपन के कारण पारम्परिक 'नश्वरता बोध' की कविताओं से एकदम भिन्न है। कवि 'फूल की पंखुरी' के झरने से अपनी क्षमताओं के क्रमशः क्षरण के बोध को प्राप्त करता है किन्तु सर्वथा ठण्डेपन के साथ, निरावेग रहकर। साथ ही पंखुरी के झरने के साथ बसत का अन्तस्सम्बन्ध स्थापित कर, निराशा से पैदा हो सकने वाले आवेग को बचा जाता है। लगभग यही तथ्य निम्नलिखित पंक्तियों का भी है, इसके आवेग को 'हाय' शब्द के प्रयोग से ही समझा जा सकता है—

धूल हाय! बनने को ही तो खिलता फूल अनूप।
वह विकास है मुरझा जाने का ही पहला रूप॥

(रामकुमार वर्मा)

(३) पुरातनता के प्रति विद्रोह :

पुरातनता के विरोध को भी नयी कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इन कवियों ने उस प्रत्येक विचार, धारणा एवं शिल्प को नकारा है जो आज के युग की दृष्टि से निर्थरक एव बासी हो चुका है। किसी भी प्रकार की रूढ़ि को ढोने एवं जर्जरता को स्वीकारने के लिये वह तैयार नहीं है शिष्य के हृदय की श्रद्धा का दुरुपयोग करने वाले स्वार्थ-लोलुप गुरु के प्रति अनवधानता का यह स्वर देखिये—

ओ महाप्रलय के बाद नये उगते शिखरो,
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त विन्ध्यमालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना!
आ सूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख

कितने अगस्त्य आयेंगे गुरु का वेश धरे
आशीष-वचन कहने वाले :
चिर विनत तुम्हारा मस्तक यों ही झुका छोड़,
ये गुरुवर वापस नहीं लौटकर आयेंगे !

(विजयदेव नारायण साही)

विद्रोह का यह स्वर लक्ष्मीकांत वर्मा, भारत भूषण अग्रवाल, अज्ञेय, कुँवर नारायर्ण एवं सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि कवियों की अनेक कविताओं में सुना जा सकता है।

(४) व्यष्टि और समष्टि का समंजन :

प्रारम्भ में नये कवियों का दृष्टिकोण अत्यधिक वैयक्तिक था। प्रयोगवादी कविताओं में तो यह वैयक्तिकता अपने चरम शिखर को छूने लग गई थी. ठीक उसी प्रकार जैसे प्रगतिवादी कविता में सामाजिकता की अभिव्यक्ति जड़ यांत्रिकता की स्थिति तक जा पहुँची थी। नई कविता में उस व्यष्टि और समष्टि के समंजन का प्रयत्न हुआ है। नए कवि की वैयक्तिकता सामाजिकता की ओर उन्मुख है। वह 'एक' को पूरा-पूरा महत्व देकर भी 'अनेक' की उपेक्षा नहीं करता किन्तु यह सही है कि उसकी दृष्टि में 'एक' को पूर्ण विकसित, पुष्ट एवं प्रतिष्ठित किये बिना 'अनेक' को विकसित, पुष्ट एवं प्रतिष्ठित करने की बात बेमानी है। वह कभी-कभी आत्म-लीन रहना अवश्य चाहता है किन्तु उसे बार-बार यह अनुभव भी होता है कि 'अपने अन्तर से बाहर आने के अतिरिक्त और कोई अन्य चारा नहीं है।' अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता—'यह दीप अकेला'—नये कवियों के प्रस्तुत दृष्टिकोण की सुन्दर अभिव्यक्ति करती है। दीप अद्वितीय, स्नेहभरा, गर्वीला, स्वयम्भू, प्रकृत एवं स्वयं ब्रह्म होकर भी समाज के प्रति समर्पित है—

यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

(बावरा अहेरी)

इसी प्रकार नरेश मेहता के राम व्यक्तिगत रूप से युद्ध के विपक्ष में होते हुये भी युद्ध करने के सामाजिक निर्णय को स्वीकार करते हुये कहते हैं—

मैंने अपने को सौंप दिया
ज्वारों को
विवश धरती सा सौंप दिया
अपने को सौंप दिया
अब मैं निर्णय हूं सबका
अपना नहीं

(संशय की एक रात)

(४) नयी भाषा, नये उपमान एवं नये प्रतीकों का प्रयोग :

भाषा के क्षेत्र में नये कवियों ने अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। कभी-कभी उनकी भाषा शुद्ध संस्कृत-निष्ठ होती है तो कभी उर्दू आदि के प्रचलित शब्दों के प्रयोग से युक्त अत्यधिक सरल, किन्तु उसका आदर्श भवानी प्रसाद मिश्र की निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख।
और उसके बाद भी, हमसे बडा तू दिख॥

केवल बोल-चाल की सरल भाषा से नहीं, बल्कि बोल-चाल का लहजा, बोल-चाल की लय का प्रयोग और साधारण शब्दों के माध्यम से भी किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करना इनकी भाषा की विशेषता है। शब्दों का साभिप्राय प्रयोग जितना नई कविता में सम्भव हो पाया है, सम्भवतः उतना पूर्व की कविता में नहीं। व्यंजना-गर्भिता को तो नई कविता की भाषा का प्राण-तत्व स्वीकार किया जा सकता है। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ की व्यंजना कर सकना भाषा के मामूली प्रयोक्ता की क्षमता से बाहर की चीज है। अनेक सुन्दर व्यंग्यों की रचना कर नये कवि ने भाषा की रचनात्मक शक्ति को बढ़ाया है। नयी कविता के जोड़ के व्यग्य हिन्दी की पूर्ववर्ती कविता में नहीं। अज्ञेय की 'साँप' एवं भवानी प्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' भारत भूषण अग्रवाल की 'विदेह' एवं रघुवीर सहाय की 'आत्महत्या के विरुद्ध' एवं 'हमारी हिन्दी' आदि अनेक तो प्रसिद्ध व्यंग्य रचनाएँ हैं ही साथ ही अन्य अच्छी सेंकड़ों व्यंग्य कविताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। कभी वर्ण एवं शब्द की खिलवाड़ से, कहीं पुनरुक्ति से, कही अधूरी वाक्य-योजना से, कहीं विशेषण के विशिष्ट प्रयोग से और कभी केवल निपात के विशिष्ट प्रयोग और कभी मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा को नये तेवर, नई शक्ति प्रदान की है। सभी के उदाहरण देने का स्थान यहाँ नहीं, केवल कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) **शब्द का साभिप्राय प्रयोग**—
"जूड़े का स्याह चाँद लिया चाँद ने बाँध"
—गिरिजाकुमार माथुर

(यहाँ 'चाँद' शब्द का साभिप्राय प्रयोग दर्शनीय है।)

(२) **व्यंग्य**—

हर संकट में भारत एक गाय
होता है
ठीक समय बहस कर नहीं सकती है
राजनीति
बाद में जहाँ कहीं से भी शुरू करो
बीच सड़क पर गोबर कर देता है विचार

हाय-हाय करते हुए हाँ-हाँ करते हुए
समुदाय

(रघुवीर सहाय)

(३) **मुहावरों व लोकोक्तियों का रचनात्मक प्रयोग**—

कोई है कोई है कोई है
जिसकी जिन्दगी दूध की धोई है

(भवानी प्रसाद मिश्र)

(४) **वर्ण एवं शब्द की खिलवाड़**—

हिम जलद, हिम श्रृंग
हिम छवि,
हिम दिवस, हिम रात
हिम पुलिन हिम पन्थ
हिम तरु
हिम क्षितिज, हिम पात (जगदीश गुप्त)

(५) **नाम धातुओं का प्रयोग**—

(१) दुर्ग निर्मति रहे
(२) विश्वासें प्रभु विश्वासें (नरेश मेहता)

(६) **निपात का साभिप्राय प्रयोग**—

जिसके ही साथ मैं चलता हूँ
जिसकी ही ओर ?
जिसका ही आश्रित मानो जिसकी सन्तान (अज्ञेय)

(यहाँ 'ही' का बार-बार प्रयोग साभिप्राय है)

कहने का आशय यह है कि इन कवियों ने विभिन्न प्रयोगों से खड़ी बोली को सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ की व्यंजना में सक्षम बनाया है।

नये उपमान एवं नये प्रतीकों का प्रयोग भी नयी कविता की एक बड़ी विशेषता है। पुराने उपमानों और प्रतीकों के विषय में अज्ञेय ने लिखा था—

ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसन से मुलम्मा छूट जाता है।

(हरी घास पर क्षण भर)

यही कारण है कि फिर 'सबेरे-सबेरे' कवि की बुलबुल, सुरीली श्यामा, फूलसुंघनी एवं पतेना-सहेली के स्थान पर अभागा कौवा ही अड़अड़ाता दिखलाई पड़ता है—

जैसे ही जागा
कहीं पर अभागा
अड़ अड़ाता है कागा—
काँय ! काँय ! काँय !

(हरी घास पर क्षण भर)

इसी प्रकार बाजरे की कलगी, हरी बिछली घास, मिल की चिमनी, गिद्ध, चूहा, छिपकली, साँप, मछली, काँच एवं कैक्टस आदि अनेक नये उपमान एवं प्रतीकों का प्रयोग किया है। कैक्टस तो मानो नई कविता के सौंदर्य-बोध का ही प्रतीक बन गया है।

इनके अतिरिक्त नई कविता की प्रवृत्ति बिम्ब बहुला है। इन कवियों ने कम से कम शब्दों के प्रयोग से श्रव्य, दृश्य, घ्राण, स्पर्श एव जिह्व्य बिम्बों का प्रयोग किया है। एक दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

श्रव्य-बिम्ब—

रेतीले कगार का गिरना छप्-छड़ाप।
झंझा की फुफकार तप्त,
पेड़ों का अरराकर टूट-टूट कर गिरना —अज्ञेय

दृश्य-बिम्ब—

लगी हो आग जंगल में हमारे दिल सुलगते हैं

स्पर्श-बिम्ब—

हाथ उसके हाथ में आकर बिछल जाते
स्पर्श उसका धमनियों को रौंद जाता है।—केदारनाथ सिंह

(vi) छन्द एवं लय :

नई कविता में छन्द एवं लय के क्षेत्र में भी व्यापक परिवर्तन लक्षित होता हैं। इन कवियों ने बड़ी मात्रा में न केवल मुक्त छन्द का प्रयोग किया अपितु कुछ ने छन्द से मुक्ति का भी आह्वान किया। इन्होंने कभी सवैया अथवा घनाक्षरी जैसे पुरातन छन्दों की लय को तोड़कर नये छन्दों की रचना की, कभी दो या दो से अधिक छन्दों को जोड़कर एक नये छन्द की रचना की। जहाँ कहीं इन कवियों ने छन्द के आधारभूत तत्व लय की भी उपेक्षा कर दी है और उसके स्थान पर 'अर्थ की लय' की चर्चा ये करते हैं, वहाँ छन्दों के क्षेत्र में किये गये इनके नवीन प्रयोग अवश्य ही विचारणीय हो उठते हैं।

६. उपसंहार :

प्रवृत्तियों के इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि नई कविता वस्तुतः जीवन के बदलते हुए मूल्यों की कविता है। इसने कथ्य एवं अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर हिन्दी कविता की परम्परा को विकसित किया है। भाषा,

उपमान, प्रतीक, बिम्ब एवं छन्दों के क्षेत्र में तो इसने क्रान्ति की ही है, साथ ही भाव-बोध के स्तर पर ही बहुत कुछ नया दिया है। हरी घास पर क्षण भर, आंगन के पार द्वार, चाँद का मुँह टेढ़ा है, अंधा युग और कनुप्रिया, शिला पंख चमकीले, आत्मजयी, एक कंठ विषपायी एवं संशय की एक रात आदि काव्य-कृतियाँ तथा अज्ञेय, मुक्ति बोध, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर एवं भवानी प्रसाद मिश्र जैसे कुछ कवियों के नाम हिन्दी की प्रमुख काव्य-कृतियों एवं कवियों की शृंखला में अवश्य जुड़ेंगे। नई कविता की सीमायें भी स्पष्ट हैं—अतिशय बौद्धिकता, विध्वंसात्मक दृष्टि, उपमानों और प्रतीकों का वैयक्तिक प्रयोग, खण्डित बिम्ब रचना एवं काव्य-भाषा के लिये आवश्यक लय का परित्याग आदि। मुद्रण-प्रकाशन के साधनों की आसानी से होने वाली प्राप्ति ने अनेक अनसधे कवियों को नई कविता के क्षेत्र में उतारा है, जिससे नई कविता की अभिव्यक्ति कृत्रिम एवं ऊलजलूल सी दिखलाई पड़ती है किन्तु यह निश्चय ही नई कविता का प्रतिनिधि रूप नहीं है।

—: ० :—

हिन्दी की नयी कविता: दुरूहता का आक्षेप

१. नयी कविता की दुरूहता का वैशिष्ट्य :

हिन्दी की नयी कविता पर दुरूहता का आक्षेप किया जाता रहा है। यों नयी कविता पर ही यह आक्षेप किया गया हो, ऐसी बात नहीं। इससे पूर्व भी विभिन्न कवियों एवं कालों की कविता पर यह आक्षेप किया गया है। छायावादी कविता को भी प्रारम्भ में अनेक सिद्ध आलोचकों ने अस्पष्ट (पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध), दुरारूढ़ कल्पना एवं भाषा-दौर्बल्य से युक्त (मिश्र बन्धु), अप्रासादक (श्यामसुन्दर दास) तथा अतिशय काल्पनिक, वैयक्तिक एवं शब्दों की अपर्याप्त व्यंजकता वाला काव्य (पं० रामचन्द्र शुक्ल) कहा था। मध्यकालीन कवि केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' मानने एवं कहने वालों का अभाव नहीं रहा है। सूर के दृष्टिकूट, कबीर की उलटबासियाँ तथा इससे भी पूर्व बौद्ध सिद्धों की अटपटी एवं गुह्य वाणियों की चर्चा प्रायः होती रही है, किन्तु नयी कविता पर किया गया यह आक्षेप इससे पूर्ववर्ती कविताओं पर किये गये सभी आक्षेपों से कुछ भिन्न प्रकार का है। भिन्न प्रकार का इसलिये कि लगभग दो दशक से कुछ अधिक वर्षों तक जटिल संघर्ष करने के बाद भी, नयी कविता अपने पाठकों की संख्या में वांछित अभिवृद्धि नहीं कर पाई। वह अपने विशिष्ट पाठकों—अन्य रचनाकार कवियों, पत्रकारों विश्वविद्यालयीन अध्यापक एवं विद्यार्थियों तथा अन्य साहित्य-जिज्ञासुओं के भी एक बड़े वर्ग के लिये संप्रेष्य नहीं हो पायी, आम पाठक की तो बात ही क्या ? स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं कि बीस-पच्चीस वर्षों के काल में छायावाद एवं इससे पूर्व द्विवेदी युग भी अपने चरम उत्कर्ष को पैदा कर चुक गये थे। प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद तो ठीक से एक दशाब्द भी पूरा नहीं जी पाये। नई कविता दो दशाब्द लाँघ चुकी है, इससे उसकी शक्ति का पता चलता है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से यह कविता केवल किसी आन्दोलन, विज्ञापन एवं प्रचार के बल पर ही जिन्दा हो, ऐसी बात नहीं। सातवें दशक में इसका शक्ति-परीक्षण हो चुका है, जबकि नयी कविता के समान्तर अकविता, सहज कविता, सनातन सूर्योदयी कविता, युयुत्सावादी कविता एवं सार्थक कविता आदि दर्जनों नहीं, कोड़ियों आन्दोलन चले किन्तु सभी के ताजिए पत्र-पत्रिकाओं के एक-एक दो-दो अंक निकाल कर ठण्डे पड़ गये। नयी कविता के इन

आन्दोलनों से भी शक्ति ग्रहण की और स्वयं को पुनरावर्तन की प्रवृत्ति से बचाया। ऐसी स्थिति में नयी कविता की दुरूहता का विवेचन और भी सार्थक हो उठता है।

२. दुरूहता : काव्य-दोष अथवा काव्य-गुण :

यहाँ 'दुरूहता' शब्द के विषय में भी थोड़ी चर्चा आवश्यक जान पड़ती है। 'जो कठिनाई से, ऊहा के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, वह दुरूह है।' (डॉ० एस० वसन्ता) अंग्रेजी में दुरूहता के लिये प्राय: दो शब्दों-ऑब्सक्योरिटी (अस्पष्टता) एवं एम्बीग्विटी (संदिग्धता)—का प्रयोग किया जाता रहा है, जिनसे भी दुरूहता की उक्त परिभाषा ही पुष्ट होती है। यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि क्या दुरूहता अनिवार्य रूप से काव्य-दोष ही होती है अथवा यह काव्य गुण भी हो सकती है? आम तौर पर दुरूहता को काव्य-दोष ही माना जाता है किन्तु कभी-कभी यह काव्य गुण भी सिद्ध होती है। इसका काव्य-दोष एवं काव्य-गुण सिद्ध होना कविता की प्रकृति पर निर्भर करता है। पाश्चात्य कवि चिन्तकों में कार्लेल, हडसन, कालरिज, ब्रेख्ट हॉसमन एवं इलियट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जो कविता की अस्पष्टता एवं संदिग्धता को काव्य-दोष नहीं मानते। हमारे यहाँ भी प्राचीन काल से चली आ रही निम्नलिखित उक्ति कुछ इसी ओर संकेत करती है—

कवि आखर अरु तिय सकुच, अध उघरे सुख देत।
अति ढाँपे सुख देत नहीं, उघरे महा अहेत ॥

तो भी दुर्बोधता दुर्बोधता ही है। एक सीमा के बाद उसकी वकालत नहीं की जा सकती।

३. नयी कविता की दुरूहता : कारण एवं प्रकृति

अनेक स्थलों पर हिन्दी की नयी कविता दुरूह हो उठी है। यह दुरूहता कथ्य (कण्टैण्ट) एवं अभिव्यक्ति (एक्सप्रैशन) दोनों ही स्तरों पर लक्षित की जा सकती है। मोटे तौर पर इस दुरूहता को इस प्रकार विश्लेषित किया जा सकता है—

कथ्य के स्तर पर दुरूहता

जटिल मनस्थिति एव भावों की संश्लिष्टता—नये कवि की मनस्थिति जीवन के जटिल अनुभवों से निर्मित हुई है। निरन्तर परिष्कृत होते हुये उसके भाव-बोध और विस्तृत होते हुये ज्ञान-विज्ञान के क्षितिजों ने उसके सत्य क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत कर दिया है। फलस्वरूप, किसी भी स्थिति, घटना, दृश्य एवं अनुभव की प्रतिक्रिया उसमें एक साथ एकाधिक भावों को उद्‌बुद्ध करती है और जब वह इस संश्लिष्ट, परस्पर उलझे हुये भाव-बोध की अभिव्यक्ति करता है तो उसमें स्वभावतः दुरूहता आ जाती है। इसी कारण आज की अनेक कविताओं में स्थायी भाव का पता लगाना ही कठिन हो जाता है। एक ही स्थायी भाव विभिन्न संचारियों से पुष्ट करने एवं उसे विभिन्न उपकरणों से उद्दीप्त करके रस-स्थिति तक पहुँचाने की अपेक्षा कवि अपनी प्रामाणिक अनुभूति को, उसके मूल रूप में पाठक तक संप्रेषित करने के लिये स्वयं को अधिक व्याकुल पाता है। इस दृष्टि से अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता

'वर्षान्त' (बावरा अहेरी, पृ० १९–२०) तथा धर्मवीर भारती की 'घाटी का बादल' (सात गीत वर्ष, पृ० १३६–१४३) कविताओं को देखा जा सकता है। इन दोनों ही कविताओं में एकाधिक भाव संग्रथित हुये हैं, जिनका विस्तार पूर्वक विश्लेषण डॉ० श्रीराम नागर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी की प्रयोगशील कविता और उसके प्रेरणा स्रोत' में किया है। प्राचीन कविता में भी यदाकदा ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। उदाहरण के लिये, 'उत्तर राम चरितम्' की निम्नलिखित पंक्तियों को देखिये। बनवास से लौटने पर राम के राज्याभिषेक के तुरन्त बाद राम की माताएँ, अरुन्धती एवं वसिष्ठ आदि समस्त गुरूजन यज्ञ में शामिल होने के लिये चले जाते हैं। उदासमना सीता का किसी चित्रकार द्वारा बनाये गये बनवास के चित्रों को दिखलाकर लक्ष्मण मनोरंजन करना चाहते हैं। चित्र में पंचवटी आदि के दृश्यों को देखकर गर्भवती सीता के मन में पुनः वन-दर्शन की इच्छा उत्पन्न होती है। सूत्रधार सीता के विषय में फैले लोकापवाद की चर्चा कर भी चुका है। राम, लक्ष्मण को सीता के दोहद को पूर्ण करने का आदेश देते हैं और सीता से उसके बाहुओं को अपने गले में डालने का अनुरोध करते हैं। सीता के स्पर्श के अनुभव को वाणी देने का प्रयत्न करते हुए राम कहते हैं—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विष विसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे-स्पर्शे ममहिपरिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च ॥

अर्थात्—'तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श से इन्द्रिय समूह को विमूढ करने वाला विकार मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह विकार सुख है या दुःख है, मूर्छा है वा निद्रा है, विष का प्रसरण है वा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद है, यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।'

साधारणतया, प्रणयीजन का स्पर्श सुखदायक ही होता है किन्तु यहाँ परिस्थिति की जटिलता के कारण सीता का स्पर्श राम के मन में विभिन्न भावों को उत्पन्न कर एक अनिश्चय की स्थिति बनाये हुए हैं। प्राचीन कविता में विद्यमान भावों की यह संश्लिष्टता कथन के स्तर पर है, जबकि नयी कविता में इसे रचनात्मक स्तर पर घटित होते देखा जा सकता है।

दार्शनिक जटिलता—नयी कविता की दुरूहता का एक कारण उसकी दार्शनिकता से जुड़ा हुआ है। नयी कविता पर आधुनिक मार्क्सवाद, मनो-विश्लेषणवाद एवं अस्तित्ववाद आदि अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा हैं। इनके कारण उत्पन्न दुरूहता के पीछे कभी-कभी इनके मूल विचारकों का परस्पर विरोधी विचारधारा वाला होना भी होता है। जिससे प्रभाव ग्रहण करने वाला कवि भी अन्तर्विरोधों में उलझ जाता हैं और कभी-कभी कवि का, सीधे मूल विचारकों से प्रभाव न ग्रहण करके उससे प्रभावित कवियों अथवा विचारकों से, प्रभाव ग्रहण करना इसका कारण होता है, जिससे निश्चय ही उलझन उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिये, मार्क्सवाद के लिये हीगल और

और मार्क्स की विचारधारा में अन्तर ही नहीं, विरोध भी है, इसी प्रकार अस्तित्व-वादी चिन्तकों में कीर्केगार्ड एवं कालयास्पर्श आदि यदि ईश्वरवादी हैं तो हीडेगर एवं ज्याँ पॉल सात्र आदि निरीश्वरवादी। यह भी सही है कि हिन्दी के अनेक कवियों में अस्तित्ववाद का प्रभाव सीधे उसके मूल विचारकों से ग्रहीत न होकर एजरा पाउण्ड, टी० एस० इलियट एवं डी० एच० लारेंस० आदि के माध्यम से आया है। अतः अभि-व्यक्ति में उलझाव उत्पन्न हो गया है। कहीं-कहीं हिन्दी का नया कवि एक ओर इन पाश्चात्य विचारधाराओं को आत्मसात् करने का प्रयत्न करता है और दूसरी ओर उसे भारतीय चिन्तनधारा भी आकृष्ट करती है। दोनों के बीच उचित संगति की खोज का प्रयत्न अभिव्यक्ति को दुरूह बना देता है। कुँवर नारायण के 'आत्मजयी' काव्य की दुरूहता कुछ इसी प्रकार की है। 'आत्मजयी' का नचिकेता अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित करने के लिये अपने पिता और उनकी बासी दुनिया से असन्तुष्ट होकर आत्म-हत्या करने का प्रयत्न करता है। निश्चय ही अस्तित्व-वादी विचारधारा का प्रभाव यहाँ लक्षित होता है किन्तु उसे भौतिक भोग-विलासों में भी तृप्ति नहीं मिलती। पिता की बासी दुनिया के प्रति विरक्त होने का यह अति-रिक्त कारण भारतीय चिन्तन-पद्धति की देन है। फलस्वरूप, वह आत्मज्ञान से थोड़ा भी कम पाकर सन्तुष्ट नहीं होता। यम से आत्म-ज्ञान प्राप्त कर पुनः रचनात्मक दृष्टिकोण लेकर भौतिक जीवन की ओर लौट पड़ता है।

मनोवैज्ञानिक दुरूहता—मनोविश्लेषण से सम्बद्ध मुक्त-आसग (फ्री एसोशिए-शन) एवं 'स्वप्न विश्लेषण' पद्धतियाँ भी नयी कविता को दुरूहता का कारण बनी हैं। मुक्त आसंग के द्वारा मनुष्य के अचेतन मस्तिष्क को स्पर्श कर उसमें बन्द दमित इच्छाओं को मुक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इन दमित इच्छाओं और मनो-ग्रंथियों की अभिव्यक्ति बिना किसी क्रम के उनके यथावत् रूप में की जाती है। फल-स्वरूप कविताओं में तार्किक अन्विति का खोजी पाठक इन कविताओं का मर्म समझने में असमर्थ रहता है। रघुवीर सहाय की 'शराब के बाद का अन्धेरा, (आत्म-हत्या का प्रयत्न, पृष्ठ ५१—५३) कविता तथा श्रीकांत वर्मा की 'जीवन-बीमा' (माया दर्पण, पृष्ठ २३—२८) आदि कविताएँ ऐसी ही अन्विति रहित कविताएं हैं। 'स्वप्न-सिद्धांत' के अनुसार स्वप्न दमित इच्छाओं की ही पूर्ति प्रत्यक्ष के प्रतीकात्मक रूप में करते हैं। फलस्वरूप, कवि की अभिव्यक्ति कभी नग्न यथार्थ के रूप में, कभी अर्ध नग्न के रूप में और कभी प्रतीकात्मक रूप में होती है। इस नग्न यथार्थ के यथार्थ को पचाना और उस प्रतीकात्मकता को समझना हिन्दी के प्राचीन कविता के संस्कारी पाठक के लिये प्रायः कठिन हो जाता है।

कविता के प्रति दृष्टिकोण—नये कवियों के प्रति दृष्टिकोण भी कविता में रसान्वेषी पाठकों के लिये किसी सीमा तक दुरुहता का कारण बनता है। नये कवि के लिए कविता केवल भावुकता की हाय-हाय न होकर विचार एवं उसमें भी बढ़कर विवेक को उद्बुद्ध करने वाली है। वह पाठक को रस में डुबोती नहीं, उसे रागात्मकता

कता से निस्संग बनाने का प्रयत्न करती है। डॉ० जगदीश गुप्त ने इसे 'ऋषि दृष्टि' की संज्ञा दी है। यह सही है कि अभी नयी कविता में इस 'ऋषि दृष्टि' से युक्त रागात्मक ताटस्थ्य बोध वाली कविताओं की संख्या अल्प है किन्तु उसकी प्रतिनिधि दृष्टि यही है। अज्ञेय, विजयदेव नारायण साही एवं सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि की कुछ कविताओं को गैर रोमांटिक भाव-बोध की कविताओं के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' में अज्ञेय की कविता का योगदान उसके गैर रोमांटिक होने में ही स्वीकार करते हुये लिखा है—"निराला ने सहस्राब्दियों से चली आने वाली परम्परा को तोड़कर व्यवहार में साबित किया कि कविता छन्द नहीं है और अज्ञेय को पढ़ने पर क्लासिकल पद्धति से भिन्न तरह से, शायद पहली बार—भले ही क्षीण रूप में—लगता है कि कविता में भावावेग या रोमांटिक मनस्थिति का होना अनिवार्य नहीं।" एक उदाहरण लें। अज्ञेय के 'अरी ओ करुणा प्रभामय' संकलन की एक छोटी-सी कविता है—

मैं देख रहा हूँ
झरी फूल से पँखुरी
—मैं देख रहा हूँ अपने को ही झरते,
मैं चुप हूँ;
वह मेरे भीतर बसंत गाता है।

प्रस्तुत कविता 'नश्वरता बोध' की कविता है किन्तु अभिव्यक्ति के ठण्डेपन के कारण पारम्परिक नश्वरता बोध की कविताओं से एकदम भिन्न है। कवि 'फूल की पँखुरी' के झरने से अपनी क्षमताओं के क्रमशः क्षरण के बोध को प्राप्त करता है किन्तु सर्वथा निरावेग रहकर, साथ ही 'पँखुरी के झरने' के साथ बसंत का अंतस्सम्बन्ध स्थापित कर, निराशा से पैदा हो सकने वाले आवेग को बचा जाता है। लगभग यही कथ्य निम्नलिखित पंक्तियों का भी है, जिसके आवेग को 'हाय' शब्द के प्रयोग से ही समझा जा सकता है—

धूल हाय ! बनने को ही तो खिलता फूल अनूप
वह विकास है मुरझा जाने का ही पहला रूप ॥

—रामकुमार वर्मा

अभिव्यक्ति के स्तर पर दुरूहता :

प्रतीक एवं उपमानों की दुरूहता—नयी कविता प्रतीक-प्रधान कविता है। कवि जो कुछ कहना चाहता है, जब वह सीधे-सीधे शब्दों में नहीं बँध पाता तो वह प्रतीकों की भाषा का प्रयोग करने लगता है। ये प्रतीक जैसे-जैसे निजी होते जाते हैं वैसे-वैसे कविता दुरुह होती जाती है। अज्ञेय की एक कविता 'चिड़िया ने कहा' (आँगन के पार द्वार, पृष्ठ २३—२७) की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

मैंने कहा
कि 'चिड़िया'

मैं देखता रहा—
चिड़िया चिड़िया ही रही।
फिर-फिर देखा
फिर-फिर बोला,
'चिड़िया'।
चिड़िया चिड़िया ही रही।
फिर—जाने कब—
मैंने देखा नहीं।
भूल गया था मैं क्षण भर को तकना!
मैं कुछ बोला नहीं—
+ + + +
तब जाने कब—
चिड़िया ने ही कहा
कि 'चिडिया'।
चिड़िया ने ही देखा
वह चिड़िया थी।
चिड़िया/चिड़िया नहीं रही है तब से :
मैं भी नहीं रहा मैं
कवि हूँ।
कहना सब सुनना है, स्वर केवल सन्नाटा।

स्पष्ट है कि इस कविता में 'चिड़िया' केन्द्र बिन्दु है, जिसके प्रतीकार्थ के अस्पष्ट रहने पर कविता मखौल के अतिरिक्त कुछ दिखलाई नहीं पड़ती। कविता में प्रतीकार्थ को स्पष्ट करने के संकेत पर्याप्त नहीं हैं। केवल पाठक विचार कर सकता है कि जब तक कविता का 'मैं' ताकता और बोलता रहा, चिड़िया चिड़िया बनी रही और जब उसने ताकना और बोलना बन्द किया, चिड़िया-चिड़िया न रहकर कविता बन गई, 'मैं' मैं नहीं रहकर कवि बन गया। इस प्रकार 'चिड़िया' सर्जना के पूर्व से अनुभव का प्रतीक हो सकती है। इसी प्रकार पाठक यदि मुक्तिबोध के ब्रह्म-राक्षस, रावण, औरांग उटांग आदि प्रतीकों का अर्थ नहीं समझ पाता तो उसके लिये कविता दुर्बोध बनी रहती है।

यही स्थिति उपमानों की भी है। 'मैंले उपमानों' के परित्याग की झोंक में कहीं-कहीं उपमान अत्यधिक अस्पष्टता उत्पन्न कर देते हैं। यथा, नरेश मेहता की निम्नलिखित पंक्तियों को देखा जा सकता है—

मोर पंख से उन चिड़ियों के हल्के डैने,
हैलन-सी डैन्यूब किनारे, गाउन जैसे बिछ जाते हैं।
नाईटिंगल बैठी पाइन पर,

किसी कीट्स की आशा से ही अपने छोटे रंग कण्ठ से माउथ आॅर्गन छेड़ रही है।[1]

उक्त कविता में डैन्यूब, नाईटिंगल, हैलन एवं कीट्स आदि उपमानों का प्रयोग, सम्यक जानकारी के अभाव में कठिनाई उत्पन्न कर सकता है।

उपचार वक्रता : विशेषण विपर्यय के प्रयोगों से उत्पन्न दुरूहता—नयी कविता में उपचार-वक्रता तथा विशेषण विपर्यय का बड़ी मात्रा में प्रयोग हुआ है। प्रायः प्रस्तुत अमूर्त एवं अचेतन पदार्थ पर अप्रस्तुत मूर्त तथा चेतन का थोड़े से सम्बन्ध से भी आरोप कर दिया जाता है, अथवा घन पदार्थ पर द्रव पदार्थ के धर्म का आरोप कर दिया जाता है अथवा ठीक इसके विपरीत भी प्रयोग कर दिया जाता है। 'तेरी कोहनियों ने हँसकर, मुझे कनखियों से देखा' तथा 'खोखला दर्द', 'सौ हजार लाख दर्द आठ दस क्रोध' आदि उक्तियों के अर्थ-बोध में दुरूहता का यही कारण है।

इन सबके अतिरिक्त नयी कविता में व्याकरणिक दृष्टि से (वचन, पुरुष, लिंग, काल एवं विराम चिन्ह आदि) का कहीं साभिप्राय और कहीं अनजाने में विचलन हुआ है। कहीं बिम्ब भी अधूरे, खण्डित तथा अस्पष्ट रहकर कविता को दुरुह बना देते हैं। कभी-कभी पुराने छन्दों की लय चढ़ी जुबान इस मुक्त छन्द की कविता को पढ़ने में अटपटा महसूस करती है। एक साँस में कविता पढ़कर उसका आनन्द लेने वालों को भी कभी-कभी निराशा हाथ लगती है, क्योंकि नयी कविता धैर्यपूर्वक बार-बार पठन की माँग करती है। अपरिपक्व एवं अनसधे कवियों के हाथों में पड़कर भी नयी कविता अपनी सहज अर्थ-गम्यता खो बैठी है।

४. निष्कर्ष :

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी की नयी कविता की दुरूहता के अनेक कारण हैं। काल की दृष्टि से भी यह कविता काफी निकट की कविता है। जैसे-जैसे समय बीतेगा, एक ओर जहाँ कविता के नाम पर प्रचारित प्रसारित कूड़ा-करकट छँटेगा, वहीं कवि के अनुभव और पाठक की संचेतना का अन्तर भी कम होता जायेगा और नयी कविता और अधिक संप्रेषणीय होने लगेगी। फिर भी कविता की संप्रेषणीयता के विषय में एक बात अवश्य कही जा सकती है कि कवि का संप्रेष्य कविता के भीतर उसकी भाषिक संरचना में ही निहित होना चाहिए, उससे बाहर नहीं।

—:०:—

१. दूसरा सप्तक (१९७०), समय-देवता, पृष्ठ १२८।

५० खड़ी बोली गद्य का विकास और उसमें भारतेन्दु का योगदान

१. खड़ी बोली गद्य के चरम उत्कर्ष का काल :

आज खड़ी बोली का गद्य अपने विकास के चरम बिन्दुओं का स्पर्श कर रहा है । निबन्ध, नाटक, उपन्यास, कहानी एवं एकांकी नाटक आदि पूर्व प्रचलित गद्य-विधाओं के साथ आज संस्मरण, इण्टरव्यू, रेडियो नाटक, रिपोर्ताज, डायरी, रेखा-चित्र, यात्रा-लेख, लघु-कथा एवं परिचर्चा आदि अनेक विधाओं का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा है । निस्सन्देह, यह सब गद्य के विकास के चरम उत्कर्ष का प्रतिफलन है । स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि आज की कविता भी गद्योन्मुखी होती जा रही है, जिसके कारणों को आज के युग की विशेष प्रकार की मानसिकता में खोजा जा सकता है । विज्ञान प्रधान आज के युग में भावों की अपेक्षा वैचारिकता का जोर अधिक है और इस वैचारिकता को वाणी देने के लिए कविता की अपेक्षा गद्य का माध्यम अधिक उपयुक्त ठहरता है । हिन्दी खड़ी बोली गद्य के विकास के पीछे एक और भी कारण काम कर रहा है और वह है—खड़ी बोली गद्य पर आया गुरुतर ऐतिहासिक दायित्व । राष्ट्र-भाषा होने के कारण खड़ी बोली गद्य का दायित्व बढ़ गया है । अब उससे केवल साहित्यिक रचना की माँग ही नहीं की जाती बल्कि वह अब शिक्षा का माध्यम भी है । कार्यालयों में काम-काज की भाषा भी उसे बनना पड़ रहा है । वैज्ञानिक, तकनीकी, आयुर्वैज्ञानिक एवं विधि सम्बन्धी तमाम ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति की माँग भी उससे की जा रही है और राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी उसे सम्पर्क भाषा का दायित्व निभाना है । अतः गद्य की और भी अनेक विधाओं के विकास की संभावना बलवती होती जा रही है । खड़ी बोली गद्य के इस विकास में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभायी थी, जिसके अभाव में कदाचित आज खड़ी बोली अपने गुरुतर दायित्व को निभाने में सक्षम नहीं हो पाती ।

२. भारतेन्दु से पूर्व खड़ी बोली के गद्य की स्थिति :

भारतेन्दु जी की इस ऐतिहासिक भूमिका पर विचार करने से पूर्व, यहाँ संक्षेप में भारतेन्दु पूर्व के हिन्दी गद्य की स्थिति पर विचार करना भी अपेक्षित है।

यह जाना माना तथ्य है कि खड़ी बोली गद्य का प्रवर्तन आधुनिक काल की ही देन है। इससे पूर्व रीतिकाल तक हिन्दी में कविता का ही साम्राज्य रहा। समय-समय पर ब्रजभाषा और बाद में खड़ी बोली गद्य के छिटपुट प्रयोग होते रहे, किन्तु उसकी कोई सशक्त शृंखला नहीं बन पाई। वस्तुतः जिस समय गद्य के लिए खड़ी बोली उठ खड़ी हुई, उस समय तक गद्य का विकास हुआ ही नहीं था।

भाषा योग वासिष्ठ, खड़ी बोली गद्य का प्रथम ग्रन्थ—खड़ी बोली के गद्य का प्रयोग यों तो सैयद गैसूदराज बन्दानवाज़ के 'मैराजुल आशकीन' (१३६८) में भी मिल जाता है। अकबर के समय में गंग कवि ने 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक एक गद्य पुस्तक खड़ी बोली गद्य में लिखी थी किन्तु उसका परिष्कृत रूप विक्रम संवत् १७६८ में 'राम प्रसाद निरंजनी' के 'भाषा योग वासिष्ठ' में ही मिलता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'भाषा योग वासिष्ठ' को खड़ी बोली गद्य की प्रथम परिष्कृत पुस्तक एवं रामप्रसाद निरंजनी को खड़ी बोली गद्य का प्रथम प्रौढ़ लेखक स्वीकार करते हुए लिखा है—"अब तक पाई गई पुस्तकों में यह 'योग वासिष्ठ' ही सबसे पुराना है; जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखलाई पड़ता है। अतः जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी नहीं मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्य लेखक मान सकते हैं।" इसके पश्चात् संवत् १८१८ में पं० दौलतराम ने हरिषेणाचार्य कृत जैन 'पद्य पुराण' का भाषानुवाद किया, जो एक वृहद् ग्रन्थ है किन्तु 'भाषा योग वासिष्ठ' जैसी प्रौढ़ता इसके गद्य में दिखलाई नहीं पड़ती।

खड़ी बोली गद्य के चार अन्य आचार्य—भाषा योग वासिष्ठ की रचना के लगभग पचास वर्ष बाद तक खड़ी बोली गद्य का क्षेत्र सूना रहा किन्तु १८०० ई० में फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता की स्थापना से यह परम्परा पुनः आगे बढ़ी। फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दी-उर्दू शिक्षक जॉन गिल क्राइस्ट की प्रेरणा से लल्लू लाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' ग्रथ की रचना की। लगभग इसी समय मुन्शी सदासुख लाल 'नियाज' ने विष्णुपुराण से कोई उपदेशात्मक प्रसंग लेकर एक पुस्तक लिखी, जिसके गद्य को शुक्ल जी ने 'सफाई के साथ चलने वाला योग वासिष्ठ जैसा गद्य' की संज्ञा दी है। इन्शा अल्लाह खाँ ने अरबी, फारसी तुरकी आदि विदेशी बोलियों, ब्रजभाषा और अवधी आदि गँवारी बोलियों एवं भाखापन (संस्कृत के शब्दों का मेल) से अपनी भाषा को मुक्त रखने की प्रतिज्ञा के साथ 'उदयभानु-चरित या रानी केतकी की कहानी' ग्रन्थ की रचना की। भारतेन्दु पूर्व के खड़ी बोली गद्य के विकास में इन चारों लेखकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

भारतेन्दु पूर्व गद्य के विकास में कुछ अन्य सस्थाओं, पत्रों एवं व्यक्तियों का योगदान—भारतेन्दु पूर्व गद्य के विकास में कतिपय अन्य संस्थाओं, समाचार पत्रों और व्यक्तियों ने महत्वपूर्ण कार्य किया। मिशनरियों ने अपने पवित्र धर्म ग्रंथ 'बाइबिल'

को भारत के घर-घर में लोक-प्रिय बनाने के लिये उसका खडी बोली गद्य में अनुवाद करके खड़ी बोली के गद्य को विकसित करने में योग दिया। १८१३ में युगल किशोर शुक्ल ने कलकत्ते से 'उदन्त मार्तण्ड' नामक समाचार पत्र निकालकर न केवल खड़ी बोली में पत्रकारिता का प्रारम्भ किया, बल्कि खड़ी बोली गद्य के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान किया। राजा शिवप्रसाद ने 'बनारस' अखबार निकाला, जिसकी शैली फारसी-बहुल थी। इसी की प्रतिक्रियामें हिन्दी के कुछ विद्वानों ने मिलकर सन् १८५० ई० में 'सुधाकर' नामक पत्र निकाला, जिसकी भाषा संस्कृत-निष्ठ थी। इनके प्रमुख समाचार-पत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य पत्रों ने भी इसके विकास में अपना योग दिया।

खड़ी बोली गद्य के विकास में राजा शिवप्रसाद के शिक्षा-विभाग में प्रवेश (सन् १८२३ ई० से १८३५ ई० तक) को एक महत्वपूर्ण घटना माना जाना चाहिये। इन्होंने हिन्दी की रक्षा के लिए उसके 'आम फहम' और 'खास पसन्द' (अरबी फारसी के शब्दों वाली शैली) रूप को प्रश्रय देते हुए गद्य को उर्दू-बहुल बनाने का प्रयत्न किया। इन्हीं की प्रतिक्रिया में राजा लक्ष्मण सिंह ने हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषा में घोषित किया और अपने प्रसिद्ध अनूदित नाटक 'शकुन्तला' में संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का प्रयोग कर गद्य का एक परिनिष्ठित रूप निर्मित करने का प्रयत्न किया। आर्य-समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने आर्य-समाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए ही न केवल खड़ी बोली के गद्य का प्रयोग किया, बल्कि अपने ग्रंथ 'सत्यार्थ-प्रकाश' की रचना भी उसी में की। नवीनचन्द्र (ब्रह्म समाज) और श्रद्धाराम फुलौरी ने भी हिन्दी-गद्य के विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया।

३. खड़ी बोली गद्य के विकास में भारतेन्दु का योगदान :

यों तो भारतेन्दु से पूर्व खड़ी बोली के गद्य की भूमिका तैयार हो चुकी थी किन्तु उसका सम्यक् विकास हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की ही देन है, जिसके प्रवर्त्तक भारतेन्दु जी थे। कविता के क्षेत्र में कविता को रीतिकालीन विलास-भवनों से निकालकर राष्ट्र के राजनीतिक और सामाजिक जीवन से जोड़ने के प्रयत्न के बावजूद भी भारतेन्दु शिल्प एवं भाव-बोध दोनों ही दृष्टियों से पारंपरिक बने रहते हैं। वही भाषा, वही छन्द, वही चमत्कार प्रियता और वही राधा-कृष्ण माधुरी का चित्रण, किन्तु गद्य के क्षेत्र में जो उन्होंने महत्वपूर्ण और मौलिक कार्य सम्पादित किया, वही उनकी कीर्ति का आधार बना। गद्य के विकास के लिए उन्होंने रचना-कार और व्यवस्थापक दोनों की हैसियत से अद्भुत कार्य सम्पन्न किया।

(आ) रचनाकार की दृष्टि से योगदान

नाटककार के रूप में—भारतेन्दु जी ने हिन्दी गद्य की अनेक विधाओं में रचना की, किन्तु नाटककार के रूप में उन्होंने सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने अपने से पूर्व हिन्दी के दो नाटकों का उल्लेख किया है—एक महाराज विश्वनाथ सिंह

का 'आनन्द रघुनन्दन' और दूसरा गोपाल चन्द्र का 'नहुष' नाटक। ये दोनों खड़ी बोली में न लिखे जाकर ब्रजभाषा में लिखे गये थे। भारतेन्दु जी ने जहाँ बँगला और संस्कृत के नाटकों के अनुवाद से हिन्दी नाटक को समृद्ध किया, वहीं अनेक मौलिक नाटक लिखकर खड़ी बोली गद्य को श्री सम्पन्न बनाया। उनके प्रसिद्ध मौलिक नाटक हैं—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत दुर्दशा, नील देवी, अंधेर नगरी, प्रेमयोगिनी और सती प्रताप (अधूरा)। अनूदित नाटकों में विद्या-सुन्दर, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र और भारत जननी आदि उल्लेखनीय हैं। इनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने नाटक की सामग्री सीधे जीवन से ली है। किसी में प्रेम के आदर्श का चित्र प्रस्तुत किया गया है (चन्द्रावली) तो किसी में देश की दुर्दशा का (भारत दुर्दशा)। किसी में देशी रियासतों की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति को चित्रित किया गया है (विषस्य विषमौषधम्,) तो किसी में सामाजिक और राजनीतिक जीवन के पाखंड का (प्रेम जोगिनी)। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नाटक की विद्या के माध्यम से खड़ी बोली गद्य को जीवन के व्यापक क्षेत्र से जोड़ने का प्रयास किया गया है। नाटकों के अतिरिक्त भी गद्य को अन्य विधाओं के माध्यम से विकसित होने का अवसर प्रदान किया। पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख एवं निबन्ध लिखे। यही नहीं, 'काश्मीर कुसुम' और 'बादशाह-दर्पण' आदि लिखकर उन्होंने इतिहास रचना का मार्ग दिखलाया। अपने पिछले दिनों में वे उपन्यास लिखने की ओर भी प्रवृत्त हुए थे किन्तु अकाल ही चल बसने के कारण वे हिन्दी को कोई उपन्यास नहीं दे पाए।

सम्पादक के रूप में—भारतेन्दु जी ने सम्पादक के रूप में भी खड़ी बोली के गद्य को विकसित करने में महत्वपूर्ण योग दिया। स्वयं उन्होंने तीन पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया। सन् १८६७ में 'कवि वचन सुधा' निकाली। सन् १८७३ में 'हरिश्चन्द्र मैंगजीन' निकाली, जो बाद में चलकर 'हरिचन्द्र चन्द्रिका' के नाम से विख्यात हुई। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य के विकास में इस पत्रिका ने बड़ा योग दिया। विद्वानों का विचार है कि 'हिन्दी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहिले-पहल इसी 'चन्द्रिका' में प्रकट हुआ।' स्वयं भारतेन्दु जी ने इस पत्रिका का महत्त्व अंकित करते हुए अपनी 'कालचक्र' नामक पुस्तक में नोट किया है कि 'हिन्दी नई चाल में ढली। सन् १८७३ ई०।' इन दो पत्रिकाओं के अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा के लिए बाल बोधिनी नाम की एक अन्य पत्रिका निकाली (सन् १८७४)। भारतेन्दु जी की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रेरणा से अन्य अनेक पत्रिकाएँ भी प्रकाश में आई, जिनमें भारत बन्धु (सं० तोता राम), हिन्दी प्रदीप (सं० बाल कृष्ण भट्ट), आनन्द कादंबिनी (सं० बद्रीनारायण चौधरी), ब्राह्मण (सं० प्रताप नारायण मिश्र) और भारतेन्दु (सं० राधाचरण गोस्वामी) आदि उल्लेखनीय हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं ने खड़ी-बोली के चहुंमुखी विकास को संभव बनाया।

शैलीकार के रूप में—भारतेन्दु जी ने खड़ी बोली गद्य की परिनिष्ठित शैली का निर्माण किया। इनसे पूर्व मुन्शी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊपन लिए थी, लल्लू लाल में ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूर्वीपन विद्यमान था। राजा शिवप्रसाद तो अपने अरबी-फारसी-उर्दू के मोह के लिए प्रसिद्ध थे ही। उनका यह मोह केवल शब्दों तक सीमित नहीं था। वाक्य-विन्यास तक में घुसा था। राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरा की बोल चाल का पुट उनकी भाषा में भी विद्यमान था। भारतेन्दु ने अपने समय में प्रचलित इन विभिन्न शैलियों में अद्भुत समन्वय किया और एक ऐसी सामान्य भाषा-शैली को ज म दिया, जो पूर्ण रूप से व्यावहारिक थी। शुक्ल जी के शब्दों में "भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ।" फिर भी इनकी भाषा में कुछ व्याकरणिक दोष अवश्य रह गए हैं। इन्होंने कहीं-कहीं 'इच्छा किया' एवं 'आज्ञा किया' जैसे भाषा-रूपों का प्रयोग किया है, किन्तु खड़ी बोली गद्य के उस प्रारम्भिक युग में ये त्रुटियाँ स्वाभाविक थीं। नाट्य शैलियों का अद्भुत समन्वय करने का प्रयास किया है। उनकी दो प्रकार की शैली के प्रयोग की चर्चा प्रायः होती रही है। एक उनकी भावावेश की शैली, जिसमें वाक्य बहुत छोटे-छोटे होते हैं और पदावली सरस बोलचाल की होती है, तथा जिसमें कभी-कभी बहु-प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द आ जाते हैं। तथ्य निरूपण करते समय उनकी शैली अपेक्षाकृत कुछ अधिक संस्कृत-निष्ठ हो उठती है। इस प्रकार भारतेन्दु जी निश्चय ही एक ऐसे शैलीकार के रूप में स्मरण किए जायेंगे, जिसका प्रभाव खड़ी-बोली गद्य के भावी लेखकों पर पड़ता दिखलाई देता है।

(अ) व्यवस्थापक की दृष्टि से

भारतेन्दु जी ने रचनाकार की दृष्टि से तो खड़ी बोली गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, एक व्यवस्थापक की दृष्टि से उन्होंने जो अद्भुत कार्य किया, वह अत्यधिक व्यय साध्य तो था ही, श्रम साध्य भी था। इन्होंने तत्कालीन हिन्दी-लेखकों को एकत्रित कर एक लेखक-मण्डल तैयार किया, जिसके प्रमुख सदस्यों में पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायाण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह पं० बालकृष्ण भट्ट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके साथ रहकर भारतेन्दु जी समय-समय पर अनेक साहित्यिक गोष्ठियों और सभाओं का आयोजन करते थे। स्वयं भारतेन्दु जी हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता समझाने के लिए अनेक नगरों में गए और उन्होंने वहाँ भाषण दिए। नाटक के अभिनय को भी बढ़ावा दिया गया। प्रसिद्ध है कि पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल' नाटक के अभिनय में स्वयं भारतेन्दु जी ने भाग लिया था, जिसे देखने के लिए तत्कालीन काशी नरेश महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह भी पधारे थे। पत्र-पत्रिकाओं को भी भारतेन्दु जी ने सहयोग और प्रेरणा दी, जिससे खड़ी बोली गद्य का स्वरूप

निरन्तर निखरता चला गया। अपने इस साहित्यानुराग में भारतेन्दु जी ने अपने बाप-दादों की दौलत को भी स्वाहा कर दिया। जहाँ भी जाते, अपना यह मूल मंत्र अवश्य सबको सुनाते थे—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।

४. निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि खड़ी बोली गद्य के विकास का इतिहास लगभग सौ वर्षों का इतिहास है, जिसके मूल प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। भारतेन्दु जी ने जहाँ रचनाकार की दृष्टि से गुण एवं परिमाण दोनों ही दृष्टियों से खड़ी बोली गद्य को सम्पन्न बनाने का साधु प्रयास किया, वहीं व्यवस्थापक की दृष्टि से अपने व्यक्तिगत अर्थ, श्रम एवं आराम की परवाह न करते हुए, खड़ी बोली गद्य की भरपूर सेवा की। इस दृष्टि से उन्हें केवल हिन्दी गद्य का जनक ही नहीं, पोषक पिता भी कहा जा सकता है। हिन्दी में भारतेन्दु से बढकर प्रतिभाशाली रचनाकार हो सकते हैं किन्तु व्यवस्थापक नहीं, व्यवस्थापक हो सकते हैं किन्तु रचनाकार नहीं। उनके बाद में यह कार्य किसी सीमा तक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने और अधुनातन काल में अज्ञेय ने हाथ में लिया, किन्तु भारतेन्दु जी की बराबरी वे भी न कर सके। उनके इस महत्त्वपूर्ण योगदान को स्वीकारते हुए ही हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माताओं ने हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के पहले चरण को 'भारतेन्दु काल' कहकर पुकारा है, जो सर्वथा समीचीन ही है।

—:०:—

५१ प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य

१. प्रसाद पूर्व का हिन्दी नाटक :

हिन्दी की अन्य गद्य विधाओं की भाँति हिन्दी-नाटक का विकास भी आधुनिक काल की ही देन है। यद्यपि संस्कृत में नाट्य साहित्य की एक पुष्ट परम्परा रही है, लक्षण ग्रंथ के रूप में लिखा भरत का 'नाट्य शास्त्र' जिसका प्रमाण है और भास, कालिदास तथा भवभूति आदि के प्रसिद्ध नाटक उस परम्परा की सम्पन्नता के परिचायक हैं, तदपि दसवीं शताब्दी के बाद इस नाट्य परम्परा का समुचित विकास नहीं हो पाया। कारण चाहे सन्तों की वैराग्यमूलक साधना रही हो, चाहे मुसलमानी शासन की उपेक्षा और चाहे गद्य का अभाव। यह सही है कि दसवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक हिन्दी में नाट्य-साहित्य का अभाव रहा। भारतेन्दु के पूर्व पद्यात्मक सवादों के रूप में संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय', 'हनुमान्नाटक' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' आदि नाटकों के अनुवाद हुए। कुछ विद्वानों की दृष्टि से रीवाँ नरेश विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' हिन्दी का पहला नाटक है तो कुछ विद्वान् भारतेन्दु हरिचन्द्र के पिता कविवर गिरधरदास के 'नहुष' को हिन्दी का प्रथम नाटक स्वीकार करते हैं। इन दोनों ही नाटकों में पात्रों के प्रवेशादि के नियमों का पहली बार पालन हुआ है। वास्तविक अर्थ में हिन्दी नाट्य-साहित्य के जन्मदाता होने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही दिया जाता है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७२ ई०) इनका पहला मौलिक नाटक था। इसके अतिरिक्त 'भारत दुर्दशा,' 'नील देवी' एवं 'अंधेर नगरी' आदि नाटक एवं 'चन्द्रावली' नाटिका तथा 'विषस्य विषमौषधम्' भाण की रचना भी इन्होंने की। कुछ संस्कृत से अनुवाद भी किए, जिनमें विशाखदत्त के 'मुद्रा राक्षस' का नाम उल्लेखनीय है। इस काल के अन्य उल्लेखनीय नाटककार हैं— बद्रीनारायण प्रेमघन (भारत सौभाग्य नाटक), प्रतापनारायण मिश्र (त्रिया तेल हमीर हठ चढ़ें न दूजी बार), राधाकृष्णदास (महारानी पद्मावती) तथा लाला श्री निवास दास (रणधीर, प्रेम मोहिनी) आदि। इस काल के नाटकों में देवता, गन्धर्व राक्षस आदि दैवी एवं पौराणिक पात्रों का स्थान मनुष्य ने ले लिया। पद्य के स्थान पर गद्य की प्रचुरता होने लगी और गद्य में पूर्णतया तथा पद्य में अंशतः खड़ी बोली का प्रवेश हुआ। यद्यपि इस युग के नाटकों में प्राचीन परिपाटी का कुछ न कुछ त्याग

होने लगा था किन्तु उसमें नांदी पाठ, भरतवाक्य, स्वगत भाषण आदि संस्कृत की शैली के दर्शन भी होते हैं। द्विवेदी युग में संस्कृत और बँगला नाटकों के अनुवाद भी हुए एवं कुछ मौलिक नाटकों की भी रचना हुई। अनुवाद की दृष्टि से सत्यनारायण द्वारा किया गया 'उत्तर रामचरित' का अनुवाद एवं राजा लक्ष्मण सिंह के 'शकुन्तला' नाटक ने काफी ख्याति पाई। कुछ नाटक पारसी नाटक कम्पनियों को भी दृष्टि में रखकर लिखे गये। इनमें नारायण-प्रसाद 'बेताब' का 'महाभारत' और राधेश्याम कथावाचक का 'वीर अभिमन्यु' उल्लेखनीय हैं।

२. प्रसाद युग :

जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी नाटक को एक विशेष दिशा एवं गति प्रदान की हिन्दी के कथा-साहित्य में जो स्थान प्रेमचन्द का, निबन्ध एवं आलोचना में जो पं० रामचन्द्र शुक्ल का है, नाटक के क्षेत्र में वही स्थान जयशंकर प्रसाद का है। बाबू गुलाबराय ने उनके विषय में ठीक ही लिखा है—"प्रसाद जी स्वयं एक युग थे। उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग द्विजेन्द्र लालराय के नाटकों को भूल गये।" प्रसाद जी के प्रसिद्ध नाटकों के नाम हैं—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजात शत्रु (ऐतिहासिक); ध्रुवस्वामिनी (समस्यात्मक नाटक), कामना (माडर्न एलिगोरी) गीति नाट्य (करुणालय) एवं एक घूँट (एकांकी) आदि। प्रसाद जी ने बौद्धकालीन भारतीय इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया था अतः उनके नाटकों की कथावस्तु भी अधिकांशतः इसी काल से सम्बद्ध है। उनके नाटकों में 'द्विजेन्द्रलालराय' के नाटकों की ऐतिहासिकता और रवि बाबू की सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के एक साथ दर्शन होते हैं। उनके नाटकों की कतिपय विशेषतायें हैं—भारत में अतीत इतिहास के गौरवमय पृष्ठों का उद्घाटन, राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम की अभिव्यक्ति, पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों की सशक्तता, नियतिवाद में विश्वास, बहिर्द्वन्द्व की अपेक्षा पात्रों के अन्तर्द्वन्द का चित्रण, संस्कृत निष्ठ किन्तु काव्यात्मक भाषा का प्रयोग और मात्र सुखान्त एवं मात्र दुखान्त के स्थान पर प्रसादान्त को अधिक महत्व देना आदि। प्रसाद के इस काल को हिन्दी नाटक का उत्कर्ष काल कहा जा सकता है।

३. प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक :

प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक का विकास अनेक दिशाओं में हुआ किन्तु प्रसाद जैसा व्यक्तित्व हिन्दी नाटक को अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। अनेक कारणों से हिन्दी में प्रसाद के बाद पूर्ण नाटक बहुत कम मात्रा में लिखे गये और पं० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में—"एक प्रकार से प्रसाद हिन्दी के प्रथम तथा अन्तिम नाटककार होकर रह गये।" किन्तु प्रसाद की परम्परा को पुनरुज्जीवित करने के प्रयत्न होते रहे हैं। प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य को हम अग्रलिखित चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१. समस्यात्मक एवं ऐतिहासिक नाटक
२. आधुनिक भाव बोध से संपृक्त नाटक
३. काव्य-नाटक अथवा गीति नाट्य
४. एकांकी और आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले विविध नाट्य रूप

१. समस्यात्मक एवं ऐतिहासिक नाटक :

प्रसादोत्तर काल में हिन्दी के नाटकारों पर इब्सन, गार्ल्सवर्दी एवं बर्नार्डशा आदि पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव पड़ा और हिन्दी में भी समस्यात्मक नाटकों की रचना हुई। इन नाटकों में व्यक्ति और समाज के बीच की समस्याओं का चित्रण रहता है। इन समस्या मूलक नाट्यकारों में पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपने 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', मुक्ति रहस्य' एवं 'जगद् गुरु' आदि नाटकों में मिश्र जी ने विभिन्न समस्याओं को उठाया है। उन्होंने 'गरुड़ध्वज' नाम के एक ऐतिहासिक नाटक की भी रचना की है। इस काल के अन्य नाटककारों में गोविन्दवल्लभ पन्त (वरमाला, राजमुकुट), हरिकृष्ण प्रेमी (रक्षा बन्धन, शिवा साधना, प्रतिशोध एवं उद्धार आदि), जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द (प्रताप प्रतिज्ञा), पं० उदय शंकर भट्ट (दाहर, शक-विजय आदि), सुदर्शन (भाग्य चक्र) एवं सेठ गोविन्ददास (कर्त्तव्य, स्पर्द्धा एवं चतुष्पथ आदि) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है किन्तु कुछ समस्यात्मक, सामाजिक एवं पौराणिक नाटकों की भी रचना इस वर्ग के नाटककारों ने की।

२. आधुनिक भाव-बोध से संपृक्त नाटक :

इस वर्ग के नाटक आज के युग की, विशेष रूप से स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय जीवन की, जटिल संवेदना को अभिव्यक्ति देते हैं। इन नाटकों की एक बड़ी विशेषता यह है कि इनमें से अधिकांशतः आधुनिक हिन्दी रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखे गये हैं। ये नाट्यलेख या स्क्रिप्ट न होकर नाटक हैं। इन नाटककारों में लक्ष्मी नारायण लाल, नरेश मेहता, लक्ष्मीकान्त वर्मा एवं मोहन राकेश आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें से भी लक्ष्मी नारायण लाल नाटक को आधुनिक संवेदना का वाहक बनाने एवं उसे रंग मंच प्रदान करने में विशेष भूमिका निभाते रहते हैं। इस दृष्टि से इनका 'मादा कैक्टस' (१९५७) नाटक महत्वपूर्ण है। यह नाटक प्रतीकात्मक है जिसके प्रमुख पात्र अरविन्द का विश्वास है कि जैसे मादा कैक्टस के सम्पर्क में आने पर कैक्टस सूख जाता है, रस-विहीन हो जाता है, उसी तरह से किसी स्त्री के निकट सम्पर्क में आने से कलाकार की कला भी निष्प्राण हो जाती है। दूसरा महत्वपूर्ण नाटक नरेश मेहता का 'सुबह के घण्टे' (१९५६ ई०) है। इसका प्रमुख पात्र एमन भी कलाकार है किन्तु जहाँ अरविन्द के सामने नारी, प्रणय और कला की समस्या है वहीं एमन इनसे भी ऊपर उठकर राजनीति, सामाजिक व्यवस्था और नैतिकता सम्बन्धी प्रश्नों पर गम्भीरता पूर्वक सोचता है। एमन कम्यूनिस्ट पार्टी का सदस्य है किन्तु वह अपनी वैयक्तिक स्वाधीनता को पार्टी के अनुशासन से ऊपर मानता है।

नाटक का पूरा कथानक मुक्तासंग प्रणाली (फ्लैश बैक पद्धति) में लिखा गया है। घटनाओं से भरपूर होते हुए भी नाटककार ने जीवन के वास्तविक संवेदनों को उकेरने में सफलता प्राप्त की है। लक्ष्मीकांत वर्मा का 'आदमी का जहर' एक पूर्ण नाटक और एकांकी के बीच की चीज है। यह सेटायर प्रधान कृति है। 'मनुष्य की कीमत पर पशु की चिंता जो प्रवृत्ति धीरे-धीरे आधुनिक सभ्यता में प्रवेश कर रही है, उस पर एक तीखी परन्तु संयमित दृष्टि इस नाटक की मूल कथा स्थिति है।' शरन 'पशु रक्षिणी समिति' का संयोजक होते हुए भी जहरीले और पागल आदमी को अपने यहाँ शरण देता है, इसी कारण वह अपने साथियों की दृष्टि में गैर जिम्मेदार है। पागल आदमी द्वारा कुत्ते को काटा जाना और कुत्ते की चिंता करते हुए भी आदमी की चिंता वह पहले करता है। शरना एवं उसके मित्र महिम का व्यक्तित्व समाज में आदमी के जहर फैलने की चेतना देता है। इन नाटकों के अतिरिक्त मोहन राकेश के 'लहरों के राजहंस' एवं 'आधे अधूरे' नाटकों ने भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। 'लहरों के राजहंस' नाटक प्रतीकात्मक है और 'आधे अधूरे' में आधुनिक मानव-जीवन के अधूरेपन को ही संजीदगी के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसी वर्ग में इन्हीं लेखकों के कुछ अन्य नाटकों तथा कुछ अन्य नाट्यकारों के भी कुछ अन्य नाटकों को रखा जा सकता है।

३. काव्य-नाटक अथवा गीति-नाट्य :

प्रसादोत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य में काव्य नाटकों अथवा गीति नाट्यों के रूप में हिन्दी नाटक का नया विकास देखने को मिलता है। इन्हें कभी काव्य-नाटक, कभी नाट्य-काव्य कभी काव्य-रूपक एवं कभी पद्य-नाटक कहकर पुकारा गया है किन्तु डॉ० हरिचरण शर्मा के शब्दों में—"इन नामों से बहुत सी भ्रान्तियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। पद्य-नाटक अथवा पद्य-रूपक काव्य तत्व से रहित भी हो सकते हैं और उनका काव्य विरहित होना ही गीति-नाट्य से भिन्नता का द्योतक है। काव्य-नाटक शब्द भी अस्वीकार्य है क्योंकि काव्य-शब्द की अति व्याप्ति उसे सही रूप प्रदान करने में समक्ष नहीं होती। अतः गीति-नाट्य शब्द ही अधिक सार्थक और सही है।" इन गीति नाट्यों में 'गीति' के प्रमुख तत्व—अनुभूति की तीव्रता, प्रवहमानता, संक्षिप्ति एवं प्रभावान्विति—एवं नाट्य के लिये अपेक्षित द्वन्द्व, अन्तर्द्वन्द्व एवं तनाव आदि तत्वों का पूर्ण समंजन रहता है। हिन्दी के इन गीति नाट्यों में प्रमुख हैं—धर्मवीर भारती का अन्धायुग', नरेश मेहता का 'सशय की एक रात' और दुष्यन्त कुमार का 'एक कण्ठ विषपायी' आदि। इन सभी गीति नाट्यों में अन्तर्द्वन्द्व की प्रखरता विद्यमान है। यह अन्तर्द्वन्द्व 'अन्धा-युग' के अश्वत्थामा में, 'संशय की एक रात' के राम में, एवं 'एक कंठविषपायी' के शंकर एवं सर्वहत जैसे पात्रों में देखा जा सकता है। इन सभी गीति-नाट्यों का मंचन किया जा चुका है। भारती का 'अन्धा-युग' इनमें सबसे अधिक अभिनीत हुआ है। एक और बड़ी महत्वपूर्ण विशेषता इन गीति-नाट्यों की यह है कि इन सभी में कथानक प्रायः पौराणिक

है किन्तु उनका कथ्य सर्वथा आधुनिक है। 'अन्धा-युग' के विषय में तो आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन है—"पौराणिक कथानक को लेकर अपने युग के प्रति इतना गहरा 'कन्सर्न' किसी अन्य रचना में कठिनाई से मिलेगा।"

(४) एकांकी एवं आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले विविध नाट्य रूप :

आज हिन्दी नाटक का विकास एकांकी एवं रेडियो नाटक, रेडियो रूपक, रेडियो फैण्टेसी एवं रेडियो एकालाप (मॉनोलॉग) आदि विविध रूप में अधिक हो रहा है। एकांकी आज के व्यस्त जीवन के संभवतः सर्वाधिक अनुकूल सिद्ध हो रही है, जिसके लगभग आध घण्टे के मंचन से व्यक्ति का मनोरंजन भी हो जाता है और उसका संवेदन भी यत्किंचित् उत्प्रेरित हो जाता है। इन एकांकीकारों में डॉ० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्द दास, उदय शंकर भट्ट, जगदीश चन्द्र माथुर, भगवती चरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, सत्येन्द्र शरत् एवं विपिन अग्रवाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आदि लगभग सभी प्रकार के एकांकियों की रचना की है। यद्यपि अब विविध प्रकार के रेडियो नाटकों की भी रचना हिन्दी में हो रही है किन्तु अभी भी उनका समुचित विकास नहीं हो पाया। अब आशा अवश्य की जा सकती है कि हिन्दी में बड़े पैमाने पर इस प्रकार के नाटकों की रचना सम्भव हो सकेगी।

४. निष्कर्ष :

इसी प्रकार प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक का विकास सम्पूर्ण नाटकों की ओर अपेक्षाकृत कम हुआ है; काव्य-नाटकों, एकांकियों एवं विविध प्रकार के रेडियो नाटकों की ओर अधिक। एकांकियों के अत्यधिक विकास, सिनेमा के आगमन और व्यवस्थित साहित्यिक रंग मंच के अभाव के कारण पूर्ण नाटकों का यथावश्यक विकास नहीं हो पाया। पिछले कुछ दिनों से अनेक संस्थाओं द्वारा हिन्दी नाटकों को सीधा रंग मंच से जोड़ा जा रहा है और आधुनिक रंगमंचों का भी निर्माण किया जा रहा है। इस प्रकार पूर्ण नाटकों के विकास की संभावनाओं ने भी जन्म लिया है एवं इस क्षेत्र में प्रसाद जैसे व्यक्तित्व के विकसित होने की आशा उत्पन्न हुई है।

—:०:—

५२ प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास

१. प्रेमचन्द पूर्व का हिन्दी उपन्यास : अपरिपक्व शिल्प

उपन्यास साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय विधाओं में से एक है, जो अब केवल अवकाश के क्षणों की ही वस्तु नहीं रह गई है, बल्कि जीवन की विविध जटिलताओं, संघर्षों और अन्तर्विरोधों के साक्षात्कार में भी समर्थ सिद्ध हो रही है। यों तो इसके बीज संस्कृत के मनोरंजनकारी साहित्य 'बेताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी' एवं 'माधव काम कन्द कला' आदि में खोजे जा सकते हैं किन्तु आज जिस अर्थ में 'उपन्यास' शब्द का प्रचलन है, उसका इतिहास बीसवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हुआ है। हिन्दी में ईशा अल्लाह खाँ कृत 'रानी केतकी की कहानी' एवं सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' में भी कुछ आलोचकों ने उपन्यास शैली के सूत्रों को खोज निकाला है किन्तु हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२ ई०) ही है। भारतेन्दु काल में जहाँ बंगला एवं अंग्रेजी के अनेक अच्छे उपन्यासों का अनुवाद किया गया है, वहाँ बाल कृष्णभट्ट (नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान), ठाकुर जगमोहन सिंह (श्यामा स्वप्न) एवं अम्बिकादत्त व्यास (आश्चर्य वृतान्त) आदि लेखकों ने कुछ मौलिक उपन्यासों की भी रचना की। आगे चलकर किशोरी लाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री एवं गोपाल राम गहमरी आदि उपन्यासकारों ने तिलस्मी एवं ऐयारी उपन्यासों की रचना की। इनमें देवकी-नन्दन खत्री के चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति एवं भूतनाथ उपन्यासों ने तो बहुत ही लोकप्रियता प्राप्त की। किशोरीलाल गोस्वामी ने कुछ सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, लज्जाराम मेहता, ब्रज-नन्दन सहाय एवं मिश्रबन्धुओं ने भी सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों की रचना में अपना योग दिया। फिर भी इन सब उपन्यासों के विषय में एक बात निसन्देह कही जा सकती है न तो इनमें औपन्यासिक कला का ही समुचित उत्कर्ष लक्षित होता है और न ही ये सीधे जीवन से ही जुड़ पाये हैं। इनका लक्ष्य पाठकों को चमत्कृत कर उनका मनोरंजन करना ही अधिक रहा है।

२. प्रेमचन्द का आविर्भाव : हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र की महती घटना

हिन्दी-उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द्र के आविर्भाव को एक महती घटना के रूप में स्वीकार किया जाता है। उपन्यास को सीधे जीवन से जोड़ देने का महान कार्य

प्रेमचन्द द्वारा ही सम्पन्न हुआ। वस्तुतः भारत में ही नहीं अपितु विश्व के उपन्यास-साहित्य में भी जन-जीवन के ऐसे चितेरे कम ही मिलेंगे। प्रेमचन्द ने तत्कालीन उत्तर भारत का विशेष रूप से, ग्रामीण जीवन और गौण रूप से नगरीय जीवन में व्याप्त सामाजिक विषमताओं, शोषण, पाखण्ड एव कुरीतियों का जैसा प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किया है वह प्रेमचन्द को जीवन का सूक्ष्म एवं गहन पर्यवेक्षक सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। प्रेमचन्द केवल जीवन की विकृतियों का ही खुल्ला चिट्ठा प्रस्तुत नहीं करते बल्कि उन आदर्शों की ओर भी संकेत करते हैं, जिनकी ओर अग्रसर होकर जीवन अधिक जीने योग्य बन सकता है। मूलतः प्रेमचन्द्र उपेक्षित, दलित, शोषित एवं निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति रखने वाले कलाकार हैं। तभी उन्होंने भारतीय नायक के आभिजात्य को तोड़कर अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' में निम्न, शोषित एवं दलित वर्ग के ग्रामीण कृषक 'होरी' को नायक बनाकर हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में जो युगान्तर उपस्थित किया, उस साहस और उस सूझ की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। यही निम्न वर्ग का पात्र हिन्दी उपन्यास का अमर पात्र बन गया। किसी भी उपन्यास पाठक के लिये 'होरी' को भुला सकना सम्भव नहीं होगा। इस कालजयी रचना 'गोदान' के अतिरिक्त अन्य कई महत्वपूर्ण उपन्यास प्रेमचन्द ने हिन्दी को प्रदान किये, जिनमें रंगभूमि, गबन, सेवा सदन, निर्मला एवं कर्मभूमि आदि उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द को आलोचकों ने हिन्दी-उपन्यास-सम्राट कहकर उचित ही पुकारा है।

३. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास : विविध दिशाओं में विकास

परिस्थितियों का प्रभाव—सन् १६३६ ई० में मुंशी प्रेमचन्द के निधन के बाद हिन्दी उपन्यास का विविध दिशाओं में विकास हुआ, जिसमें युग की परिस्थितियों ने पूरा-पूरा योग दिया। द्वितीय विश्व-युद्ध की भीषण विनाश लीला ने मध्यकालीन संस्कारिता पर गहरी चोट की। हिरोशिमा एवं नागासाकी की घटनाओं ने तमाम अलौकिक शक्तियों को झुठला दिया और मानव के मन में यह विश्वास पैदा हुआ कि वस्तुतः इस विनाश-लीला के पीछे केवल मानवी शक्ति ही थी, जो मानव को ही भाप बना र सोख गई। बंगाल का अकाल, नोआखाली के दंगे, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश का विभाजन, बड़े पैमाने पर विस्थापीकरण, लूट खसोट और अत्याचारों का जोर, काश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण एव गाँधी जी की हत्या आदि राष्ट्रीय एवं अन्तर राष्ट्रीय क्षितिज पर घटी कुछ ऐसी घटनायें क्या दुर्घटनायें कहिये घटी जिन्होंने पिछले जीवन-मूल्यों पर ही प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया। स्वतन्त्रता से पूर्व देश के लोगों ने बड़े-बड़े स्वप्न देखे थे। स्वतन्त्रता के बाद जब उन्होंने सत्ता के पीछे दीवानों की एक लम्बी सेना देखी और पाया कि नेतागण स्वतन्त्रता के लिये की गई अपनी सेवा का पूरा-पूरा मूल्य वसूल करने में व्यस्त हैं और राजनीतिक स्वतन्त्रता पाने के बाद भी आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति उनके लिये आकाश कुसुम ही बनकर रह गई है तो उनका मोह-भंग हुआ। १६६२ की चीनी पराजय ने ता जैसे उस मोह-भग स्थिति को और भी गहरा बनाया। लोगों में आत्म-विश्वास की कमी हुई, निराशा

फैली। औद्योगीकरण के प्रभाव से पारिवारिक-विघटन हुआ। लोग बड़े पैमाने पर ग्राम छोड़कर शहरों की ओर दौड़े। बढ़ती हुई बेरोजगारी ने इस विघटन को और तीखा किया, फलस्वरूप भारतीय जीवन में भी घुटन, टूटन, अनास्था, निराशा संत्रास एवं अन्तर्विरोध बढ़ा, जिसका प्रभाव इस काल के उपन्यासों पर भी पड़ा।

इन परिस्थितियों के साथ ही साथ कुछ देशी-विदेशी चिन्तकों एवं मनोवैज्ञानिकों के चिन्तन का भी असर इस युग के उपन्यासों पर देखा जा सकता है। इन चितकों में फ्रायड, जुंग और एडलर, मार्क्स और हीगल एवं कीर्कगार्ड तथा ज्या पॉल सार्त्र आदि विदेशी एवं दयानन्द, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, गाँधी और अरविन्द आदि भारतीयों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सबके प्रभाव स्वरूप प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास का विभिन्न दिशाओं में विकास हुआ, मोटे तौर पर उसे निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

मनोविश्लेषणवादी उपन्यास :

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास की एक प्रमुख प्रवृत्ति मनोविश्लेषण की प्रधानता के रूप में सामने आई। फ्रायड, एडलर एवं युंग आदि मनोविश्लेषकों के चिंतन से प्रभावित होकर लेखकों ने मानव मन की अन्तर्गुहाओं में प्रवेश करने का प्रयत्न किया। फ्रायड के अनुसार काम मानव की सबसे प्रबल एवं सहज शक्ति है, जिसको अनेक सामाजिक धार्मिक क्षेत्र की मर्यादायें एवं बंधनों के कारण प्रायः मानव सचेतन स्तर पर दबा देता है किन्तु वह प्रवृत्ति मानव के अर्धचेतन में पलती रहती है। सचेतन स्तर पर आवश्यक अभिव्यक्ति न पाने के कारण यह कुण्ठा का रूप ले लेती है, जो मानव के समग्र विकास में अन्ततः बाधक ही सिद्ध होती है। हिन्दी के मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों की भी लगभग यही मान्यता है। वे लोग स्वीकार करते हैं कि आज के साधारण मनुष्य का मन काम कुण्ठाओं से लदा हुआ है। अतः इनके उपन्यासों में इन सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक मानदण्डों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। इन उपन्यासकारों में प्रमुख हैं—जैनेन्द्र इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय एवं भगवतीचरण वर्मा आदि। जैनेन्द्र ने अपने 'परख' उपन्यास से लेकर 'सुनीता, 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त्त' एवं 'जयवर्धन' आदि सभी उपन्यासों में इन काम-कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति की है। अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी' (भाग १, भाग २) एवं 'नदी के द्वीप' उपन्यासों में भी वैयक्तिक मन की इन्हीं काम-कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति की प्रधानता है। इलाचंद्र जोशी भी प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार हैं, जिनके 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'जिप्सी' एवं 'जहाज का पंछी' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास ने तो बहुत ही लोकप्रियता प्राप्त की। उनके 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' एवं 'भूले बिसरे चित्र' आदि अन्य उपन्यासों में अनेक राजनीतिक समस्याओं पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है,

प्रगतिशील उपन्यास :

प्रेमचन्दोत्तर काल में मार्क्स से प्रभावित होकर अनेक प्रगतिशील उपन्यासों की भी रचना हुई है। इन उपन्या ों में समाज के शोषित वर्ग की अनेक समस्याओं को कलात्मक स्तर पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है और उसके प्रति सहानुभूति रखते हुए शोषक-वर्ग के प्रति आक्रोश व्यक्त किया गया है। इन उपन्यासकारों में प्रमुखतः यशपाल का नाम लिया जा सकता है, जिनके 'दादा कामरेड,' 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप', 'दिव्या', 'अमिता' एवं 'झूठा सच' आदि उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इनमें भी 'झूठा सच' को केवल प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यासों में शीर्षस्थ स्थान प्रदान किया जा सकता है, जिसमें भारत विभाजन के पूर्व का लाहौर, दिल्ली एवं लखनऊ आदि नगरों के जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। अन्य उपन्यासकारों में रांगेय राघव राहुल सांकृत्यायन, मन्मनाथगुप्त, भैरव प्रसाद गुप्त एवं अमृतराय आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास—प्रेमचन्दोत्तर युग में ऐतिहासिक उपन्यास भी बड़ी संख्या में लिखे गये। अकेले वृन्दावन लाल वर्मा ने ही अनेक उपन्यासों की रचना की, जिनमें 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी' 'मृगनयनी' एवं 'झांसी की रानी' आदि उपन्यास तो काफी लोकप्रियता अर्जित कर चुके हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री, राहुल जी एवं रांगेय राघव ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक उपन्यासों के क्षेत्र में एक और सशक्त हस्ताक्षर हैं—पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के। द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारु चन्द्रलेख,' 'पुनर्नवा' एवं 'अनामदास का पोथा' उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आत्मकथात्मक शैली को लेखक का मौलिक प्रयोग स्वीकार किया जा सकता है। द्विवेदी जी के उपन्यास कथ्य एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट कोटि के उपन्यासों में गिने जाते हैं।

आंचलिक उपन्यास—प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की एक प्रमुख प्रवृत्ति अंचल विशेष के जीवन की गहराई और विस्तार के साथ समग्र चित्र प्रस्तुत करने की रही है। इन उपन्यासों में स्थान विशेष की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एव सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ-साथ वहाँ के रहन-सहन, मान्यताओं, धारणाओं, विश्वासों, उत्सवों एवं मेलों आदि का भी विशद वर्णन रहता है। इन आंचलिक उपन्यासकारों में अग्रणी स्थान के अधिकारी हैं—फणीश्वरनाथ रेणु, जिनका 'मैला आंचल' उपन्यास इस क्षेत्र में मील का पत्थर ही बन गया है। इस उपन्यास में मिथिला के एक छोटे से गाँव का चित्र अपने सम्पूर्ण रंगों और रेखाओं के साथ चित्रित हुआ है। 'परती परिकथा' लेखक का दूसरा उपन्यास है, जिसे 'मैला आँचल' जैसी लोकप्रियता प्राप्त नहीं हो सकी। अन्य आंचलिक उपन्यासकारों में नागार्जुन का नाम भी उल्लेखनीय है

उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं—'रति नाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसर-नाथ' तथा 'वरुण के बेटे'। 'वरुण के बेटे' उपन्यास में आंचलिक जीवन की अपेक्षा एक व्यावसायिक जाति का जीवन अधिक अंकित हुआ है। मिथिला के कुछ मछुओं को उनके नये विद्रोही स्वर में उपस्थित किया गया है। उदयशंकर भट्ट ने भी अपने 'सागर, लहरें और मनुष्य' उपन्यास में महा नगरी बम्बई के उप नगरीय जीवन और उसकी एक प्रमुख व्यावसायिक जाति मछुओं की ही कथा प्रस्तुत की गई है।

प्रयोगवादी उपन्यास :

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की एक और प्रवृत्ति है—उपन्यास के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग करना। ये प्रयोग कथ्य एवं अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर लक्षित होते हैं। इस दृष्टि से अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' को हिन्दी का प्रथम प्रयोगवादी उपन्यास स्वीकार किया जा सकता है, जिसमें कथ्य को ही परम्परा से हटकर प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया गया, बल्कि शिल्प में भी ताज़गी लाने का प्रयास किया गया है। आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में—"शेखर मानसिक विकास के स्तरों की कथा है, बाह्य जीवन से तो उसकी असंगति अधिक ही दिखाई गई है। उत्तम पुरुष का महत्व तथा सार्थकता तथा अन्य पुरुष से उसके एडजेस्टमेंट को समस्या हिन्दी के इस प्रथम प्रयोगवादी उपन्यास में बड़े सशक्त ढंग से उभरी है।" अज्ञेय ने उपन्यास के क्षेत्र में 'तार-सप्तक' के वज़न पर ही 'बारहखम्भा' उपन्यास की योजना बनाई थी, जिसके १२ अध्यायों को अलग-अलग लेखकों से धारावाहिक क्रम में लिखवाने की योजना बनाई थी और जिसके संभवतः ११ अध्याय लिखे भी जा चुके थे। इस आयोजन के सहयोगी थे—अज्ञेय, मन्मथनाथगुप्त, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकार माचवे, अमृतलाल नागर, भारतभूषण अग्रवाल, देवराज, धर्मवीर भारती, रांगेय राघव तथा रामचन्द्र तिवारी किन्तु यह प्रयोग असफल ही रहा और आज इसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रह गया है। इन प्रयोगवादी उपन्यासों में आंचलिकता, मुहल्लों का जीवन, २४ घण्टे में या उससे भी कम में कथानक को पूरा कर देना तथा प्रवाहवादी शिल्प आदि के विभिन्न प्रयोग किये गये हैं। अन्य प्रमुख प्रयोगवादी उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती (गुनाहों का देवता, सूरज का सातवाँ घोड़ा), डॉ० देवराज (पथ की खोज, बाहर भीतर, रोड़े और पत्थर एवं अजय की डायरी) आदि, नरेश मेहता (डूबते मस्तूल) रघुवंश (तंतुजाल), लक्ष्मीनारायण लाल (काले फूल का पौधा), अमृतराय (नागफनी का देश), गिरिधर गोपाल (चाँदनी के खण्डहर), अमृतलाल नागर (बूँद और समुद्र) फणीश्वरनाथ रेणु (मैला आँचल) एवं लक्ष्मीकांत वर्मा (खाली कुर्सी की आत्मा) आदि अनेक नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें तन्तुजाल, चाँदनी के खण्डहर तथा डूबते मस्तूल उपन्यासों में चौबीस घण्टों के ही सीमित कथानक को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कथा की पुरानी नयी शैली 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में देखी जा सकती है। आत्मकथात्मक शैली के कई रूपों को खाली कुर्सी की आत्मा, बाणभट्ट की आत्मकथा एवं शेखरः एक जीवनी में देखा जा सकता है। 'डूबते-मस्तूल'

में 'फ्लैश बैक' शैली का प्रयोग किया गया है। आंचलिकता का प्रयोग रेणु एवं नागार्जुन के उपन्यासों में हुआ ही है। वस्तुतः यहाँ इन प्रयोगों की ओर संकेत ही किया जा सकता है, उसका विशद विवेचन एक स्वतन्त्र निबन्ध की अपेक्षा रखता है।

निष्कर्ष :

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास का विकास विभिन्न दिशाओं में हुआ है किन्तु अभी हिन्दी उपन्यास की आयु लगभग सौ वर्ष की है और इसी कारण अभी उसका कथ्य एवं शिल्प वांछित परिपक्वता प्राप्त नहीं कर सका। उपन्यासों के क्षेत्र में जो प्रयोग किये गये हैं, वे भी पुष्ट एवं दीर्घ परम्परा के अभाव में अधकचरे से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः वर्तमान उपन्यासों में जीवन की जिस घुटन, कुण्ठा, संत्रास एवं अन्तर्विरोधों का चित्रण किया जा रहा है, उसका भारतीय उपन्यासकारों को प्रामाणिक अनुभव नहीं है। इसी कारण हिन्दी के प्रयोगवादी उपन्यास को रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'असमय वृद्ध कथा साहित्य' की संज्ञा दी है, जो अभी टॉलसटॉय, डॉस्टॉएवस्को, डिकेन्स, हार्डी, मोपॉसाँ या स्टीफेन ज्विग जैसे उपन्यासकारों को उत्पन्न नहीं कर पाया।

—:o:—

कुछ संक्षिप्त निबंध

५३ आधुनिक हिन्दी काव्य पर पाश्चात्य प्रभाव

---

१. प्रभाव की सहजता

आज दुनिया सिमट कर बहुत छोटी सी हो गई है। वैज्ञानिक संचार एवं आवागमन के नित्य-प्रति बढ़ते हुए विविध एवं विपुल साधनों ने दुनिया के बिखरे हुए देशों को एक इकाई के रूप में संग्रथित करने का महान कार्य किया है। आज दुनिया के किसी भी देश के लिए यह संभव नहीं रह पाया है कि वह दुनिया के अन्य देशों से आत्यन्तिक रूप में कटकर अपनी अलग सत्ता बनाए रख सके। आज एक देश की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक आदि सभी क्षेत्रों की स्थिति. विकास संबंधी गतिविधि एवं उपलब्धि दूसरे देशों को प्रभावित करती ही है। साहित्य के क्षेत्र में भी इस प्रभाव का आना स्वाभाविक एवं आवश्यक भी है। कवि साहित्यकार अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है। दूसरे, सभी प्रभाव पहले मानसिक स्तर पर स्वीकृत होते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से होती है। अतः साहित्य का प्रभावित होना अत्यन्त सहज है। प्रभाव का अर्थ जब अंधानुकरण समझ लिया जाता है, तब यह साहित्य के सहज विकास के लिए हानिकारक सिद्ध होता है और साहित्यकार अपनी मौलिकता खो बैठता है।

२. पाश्चात्य प्रभाव कब से ?

यों तो सोलहवीं शताब्दी से ही डच, फ्रांसीसी एवं पुर्तगाली लोगों का आगमन भारत में प्रारम्भ हो गया था और इनका भी यत्किंचित प्रभाव भारतीय साहित्य पर लक्षित होता है किन्तु जितना अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव भारत की आधुनिक भाषाओं के साहित्य पर नजर आता है, उतना अन्य का नहीं। फ्रांसीसी एवं रूसी साहित्यों का भी जो प्रभाव पड़ा है। वह भी हमारे यहाँ अंग्रेजी के माध्यम से ही आया है। कुछ में यह प्रभाव १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही लक्षित होने लगता है किन्तु हिन्दी में इसके दर्शन १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से

होते हैं और कविता में तो २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ से। आधुनिक हिन्दी गद्य की अनेक विकसित एवं विकासमान विधाओं जैसे—उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी, रेखा-चित्र एवं रिपोर्ताज आदि पर जहां पाश्चात्य प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है, वहीं हिन्दी की आधुनिक कविता के तथ्य एवं अभिव्यक्ति में भी इसके दर्शन किए जा सकते हैं।

३. आधुनिक हिन्दी काव्य पर प्रभाव :

(अ) कथ्य पर प्रभाव

हिन्दी भी आधुनिक कविता पर विभिन्न पाश्चात्य चिंतकों का प्रभाव पड़ा है। इनमें मार्क्स, फ्रायड, युंग, एडलर, कीर्कगार्ड एवं सार्त्र के नाम उल्लेखनीय हैं। मार्क्स का जबरदस्त प्रभाव हिन्दी की प्रगतिवादी कविता में देखा जा सकता है, जहाँ 'प्रगति' का अर्थ मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार ही आगे बढ़ना माना गया है।

मार्क्स का प्रसिद्ध दर्शन है—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। मार्क्स सृष्टि में दो प्रधान तत्व देखता है—एक स्वीकारात्मक (Positive) और दूसरा नकारात्मक (Negative)। उसके अनुसार इन्हीं दोनों के संघर्ष का नाम जीवन (Matter) है। इन दोनों तत्वों के निरन्तर संघर्ष से ही चेतना उत्पन्न होती है और यही परिवर्तन का भी जनक है। प्रगतिवादी कविता में यही वर्ग-संघर्ष अनेक रूपों में मुखरित होता दिखलाई पड़ता है। कभी शोषित के प्रति सहानुभूति और शोषक के प्रति आक्रोश के रूप में और कभी व्यक्ति के स्थान पर समाज को महत्व देने के रूप में। निराला, नागार्जुन नरेन्द्र शर्मा रामविलास शर्मा, शिवमंगलसिंह सुमन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, धूमिल आदि ने अनेक अच्छी प्रगतिवादी रचनाएँ की हैं।

दूसरे बड़े चिंतक हैं—फ्रायड। मार्क्स का दर्शन यदि सामाजिक है तो फ्रायड का व्यक्तिवादी। यह व्यक्तिवादी मानव के अन्तर्मन की चेतना पर आधारित है। फ्रायड के अनुसार सृष्टि की तमाम कलाएं मानव के अचेतन मन की ही अभिव्यक्ति हैं। मानव की जो दमित इच्छाएँ एवं वासनाएँ अचेतन में दबी रहती है, वे ही कला का माध्यम पाकर अभिव्यक्त होती है। इन दमित इच्छाओं में भी सर्वाधिक सशक्त वासना काम की है। हिन्दी में अनेक प्रयोगवादी और नये कवियों पर फ्रायड का यह प्रभाव देखा जा सकता है। एक उदाहरण, अज्ञेय की 'सावनमेघ' कविता से—

> घिर गया नभ उमड़ आए मेघ काले
> भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका सा
> विशद, श्वासाहत, चिरातुर
> छा गया इन्द्र का नील वक्ष
> व्रज-सा यदि तड़ित से झुलसा हुआ सा

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ सारे उपमान प्रतीकार्थ रखते हैं।

तीसरे चिंतक हैं—सार्त्र। सार्त्र ने 'अस्तित्ववादी' दर्शन का प्रवर्तन किया। हिन्दी के अनेक कवियों में जो अस्तित्व के प्रति जागरूकता, मृत्यु-संबंधी चिन्तन

एवं परम्परा का विरोध आदि की प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं, उन पर सार्त्र के अस्तित्ववाद का प्रभाव है। अनेक फुटकर कविताओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण काव्य-कृतियों पर भी यह प्रभाव देखा जा सकता है। कुँवरनारायण का 'आत्मजयी' काव्य इसका अच्छा उदाहरण है।

चिंतकों के प्रभाव के अतिरिक्त कुछ वादों का प्रभाव भी हिन्दी के आधुनिक काव्य पर पड़ा है। जयशंकर प्रसाद की इस धारणा से सहमत होकर भी कि छायावाद मूलत: भारतीय सौन्दर्य दृष्टि का ही विकास है, इस तथ्य से इनकार कर सकना कठिन होगा कि उस पर अंग्रेजी के 'रोमांटिसिज्म' का भी यत्किंचित प्रभाव पड़ा है। शैले, वर्डसवर्थ, कीट्स एवं बाइरन आदि अनेक रोमांटीक कवियों का हिन्दी के छायावादी काव्य पर प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए शैले की 'क्लाउड' और 'स्काईलार्क' कविताओं का पंत की 'बादल' और 'मधुप कुमारी' कविताओं पर स्पष्ट प्रभाव लक्षित किया जा सकता है।

(आ) अभिव्यक्ति पर प्रभाव :

कथ्य के अतिरिक्त अभिव्यक्ति पर भी यह प्रभाव देखा जा सकता है। खड़ी बोली की अभिव्यंजना शक्ति में अंग्रेजी भाषा के मुहावरों और शब्दों के प्रयोग से निश्चय ही अभिवृद्धि हुई है। नये कवियों पर तो इसका जबर्दस्त प्रभाव पड़ा पड़ा है। पाश्चात्य काव्य में प्रचलित अनेक छन्दों को हिन्दी के कवियों ने अपनाया है। यथा—अंग्रेजी के 'सॉनेट' (चतुर्दशपदी) को रूपनारायण पाण्डेय, नरेन्द्र शर्मा पंत, निराला, रामविलास शर्मा' गिरिजाकुमार माथुर एवं प्रभाकर माचवे आदि अनेक कवियों ने अपनाया। 'मुक्त-छन्द' भी पाश्चात्य साहित्य की देन है. जिसका प्रयोग अनेक छायावादी कवियों ने किया और अब नये कवि प्रचुरता के साथ कर रहे हैं। अनेक विधाओं पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है। पत्र गीति, शोक गीत, संबोधन गीत, व्यंग्य, पैरोडी ओड एवं काव्यनाट्य आदि काव्य-रूपों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। धर्मवीर भारती और राजा दुबे ने पत्र गीतों की रचना की तो भारतेन्दु जी की मृत्यु पर प्रेमघन ने एवं निराला ने अपनी पुत्री सरोज की मृत्यु पर शोक गीतों की। लाला भगवानदीन, लोचन प्रसाद पाण्डेय ने अंग्रेजी के ''बैलेड' की तरह वीर गीतों का सृजन किया तो नरेश मेहता (संशय की एक रात) धर्मवीर भारती (अन्धा-युग) आदि ने काव्य-नाट्यों की। यही नहीं अनेक अलंकारों को भी पाश्चात्य काव्य से ग्रहण किया गया। यथा – मानवीकरण (परसोनीफिकेशन), विशेषण विपर्यय (ट्रांसफर्ड एपीथेट) ध्वन्यर्थव्यंजना (ऑनोमोटोपोइया) आदि।

४. उपसंहार—इन सबके अतिरिक्त अनेक कवियों और कृतियों का भी सीधा प्रभाव हिन्दी के अनेक कवियों एवं कृतियों पर देखा जा सकता है। व्यवस्थापन तक में यह प्रभाव नजर आता है। उदाहरण के लिए—जॉनलेमेन को 'न्यूराइटिंग

का प्रभाव अज्ञेय की 'तार-सातक' योजना पर देखा जा सकता है। सृजन के क्षेत्र में प्रभाव ग्रहण करना कोई बुरी बात नहीं है किन्तु कोरी नकल को मौलिक कृतित्व के रूप में प्रचारित एवं प्रसारित करना बुरा है। आज अंग्रेजी, रूसी, जर्मनी एवं फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं के साहित्य का हिन्दी में अनुवाद हो रहा है, इससे निश्चय ही हिन्दी के आधुनिक साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है और उस अनुवाद के परिणामस्वरूप भी हिन्दी-काव्य में कुछ नये प्रयोग किये जा रहे हैं। यों हिन्दी की भी कतिपय कृतियों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हुआ है, हो रहा है किन्तु अपेक्षाकृत उनकी संख्या अभी कम है। काश, हिन्दी का आधुनिक काव्य भी तमाम प्रभावों को समेटता हुआ अपनी मौलिकता की ऐसी छाप विश्व-साहित्य पर छोड़ सके कि वह भी उससे प्रभावित होने की विवशता स्वीकार कर सके।

—: ० :—

५४ छायावाद

१. विषय-प्रवेश : सामान्य परिचय :

'छायावाद' हिन्दी काव्य की उस समूची प्रवृत्ति का नाम है, जो लगभग १९२० ई० से लेकर १९३६ ई० तक की अवधि में मुख्य रूप से जयशंकर प्रसाद सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' एवं महादेवी वर्मा के एवं गौण रूप में रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री, सुमित्रा कुमारी सिन्हा एवं विद्यावती कोकिल आदि के काव्य में परिलक्षित होती है। प्रसाद जी के निधन के साथ ही साथ जैसे यह प्रवृत्ति भी समाप्त हो गई। पन्त एवं निराला ने पहले प्रगतिवादी कवियों के रूप में चोला बदला, फिर पन्त जी अध्यात्म की ओर झुके तो निराला ने आज के नये कवियों के लिये पृष्ठभूमि तैयार की। महादेवी वर्मा अभी तक छायावाद का साथ दे रही हैं। अन्य कवियों में से भी बहुतों ने मार्ग गदल दिया। अपने जीवन काल में इस काव्य-प्रवृत्ति को काफी विरोध और निर्मम आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा। सजनीवाद, हीजड़ावाद, अस्पष्ट लकीरें, रहस्यमय, गूढ़ार्थ बोधक, घासलेटी साहित्य और भी न जाने क्या-क्या इसके कवियों को सुनना और सहना पड़ा। प्रारम्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक भी इस प्रवृत्ति के साथ न्याय नही कर पाये, किन्तु इन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी ये छायावादी कवि हतोत्साह नहीं हुए, यह बड़ी बात थी।

२. नामकरण :

नामकरण आज भी शोध का ही विषय बना हुआ है। 'छायावाद' नाम भी संभवतः व्यंग्य में ही दिया गया है। कुछ आलोचकों का विचार है कि मुकुट-धर पाण्डेय ने सर्वप्रथम १९२० ई० में 'श्री शारदा' नामक पत्रिका में 'हिन्दी छाया-वाद' निबंध चार अंकों में प्रकाशित कराया था। सुशील कुमार का भी एक लेख १९२१ ई० में 'सरस्वती' में इसी नाम से प्रकाशित हुआ। बाद में इसके कवियों ने भी इस नाम को स्वीकार कर लिया। रामचन्द्र शुक्ल इस नामकरण का श्रेय बंगला के कवियों को देते हैं किन्तु हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि बंगला में छाया-वाद नाम कभी चला ही नहीं।

३. प्रवर्त्तक कौन ?

छायावाद के प्रवर्त्तक के लिए भी अनेक नाम लिए जाते रहे हैं। पं० राम-चन्द्र शुक्ल मैथिलीशरण गुप्त एवं मुकुटधर पाण्डेय को, रायकृष्णदास पंत को,

विनयमोहन शर्मा माखनलाल चतुर्वेदी को एवं इलाचन्द्र जोशी आदि अनेक आलोचक प्रसाद को छायावाद का प्रवर्त्तक मानते हैं। हमारे विचार में किसी काव्य-प्रवृत्ति के प्रवर्त्तन का सेहरा किसी एक कवि, कविता अथवा कृति के सिर पर बाँधना स्वाभाविक एवं श्रेयस्कर नहीं है। हम नन्ददुलारे वाजपेयी के इस विचार से सहमत है कि सन् १९१३ से १९२० तक की स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति में ही छायावाद की विशिष्ट शैली के बीज छिपे थे। इस प्रवृत्ति को विकसित करने में श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, रायकृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी, पंत, निराला आदि ने योग दिया, जिसे सुव्यवस्थित रूप जयशंकर प्रसाद ने प्रदान किया।

४. छायावाद और रोमांटिसिज्म :

'कुछ आलोचकों ने छायावाद को पाश्चात्य रोमांटिसिज्म का ही भारतीय संस्करण कहा है। उनके अनुसार छायावाद ने अतिशय काल्पनिकता, सूक्ष्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, अतृप्त प्रेम, निराशा, वेदना, प्रकृति का मानवीकरण, जिज्ञासा स्तरीय रहस्यवाद तथा लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एवं नूतन छन्द-विधान आदि की प्रवृत्तियाँ अंग्रेजी की रोमांटिक कविता से ही ली हैं। परम्परा के विरोध की प्रवृत्ति भी छायावाद में रोमांटिक कवियों जैसी ही है। इस सम्बन्ध में हमें डॉ० नगेन्द्र के विचार उचित प्रतीत होते हैं। डॉ० नगेन्द्र दोनों में अन्तर मानते हैं। उनके अनुसार, 'रोमानी काव्य का आधार अधिक निश्चित ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।" रोमांटिक कविता का विद्रोह सामन्तवाद और उसके समर्थकों के साथ था, जबकि छायावाद का सामन्तवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद से भी था। रोमांटिक कविता की पृष्ठ भूमि में फ्राँस की सफल क्रान्ति थी तो छायावाद की पृष्ठ भूमि में असफल असहयोग आन्दोलन। प्रसाद जी इसे शुद्ध भारतीय उपज मानते हैं, जिसके मूल स्रोत उपनिषद् हैं जिनकी प्रवृत्ति प्रकृति में परोक्ष सत्ता की अनुभूति और उसके प्रति आत्म-निवेदन की है। वे भारतीय पुरातन काव्य-शास्त्रियों द्वारा तरल लावण्य के लिए प्रयुक्त 'विच्छित्ति' अथवा 'छाया' शब्दों की ओर इंगित कर अपने मत की पुष्टि करते हैं। फिर भी इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि भारतीय संस्कारों की उपज होने पर भी इस पर रोमांटिसिज्म का यत्किंचित् प्रभाव पड़ा है।

५. छायावाद—विभिन्न परिभाषायें :

परिभाषाकारों को मोटे तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) छायावाद का अध्यात्म से सम्बन्ध जोड़ने वाला वर्ग : इस वर्ग में महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, गंगाप्रसाद पाण्डेय एवं इलाचन्द जोशी आदि विद्वान् आते हैं।

"मानव तथा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में किसी अज्ञात, सप्राण एवं आध्यात्मिक छाया का भान होना ही छायावाद है।" —नन्ददुलारे वाजपेयी

"छायावाद में जीवात्मा परमात्मा के दिव्य-अलौकिक एवं निश्छल सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है।" —रामकुमार वर्मा

(२) दूसरा वर्ग उन समीक्षकों का है जो छायावाद को शुद्ध लौकिक जीवन पर आधारित मानते है। इनमें डॉ० नगेन्द्र, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० देवराज एवं शिवदान सिंह चौहान आदि प्रमुख हैं।

"इसका जन्म व्यक्तिगत कुण्ठाओं से हुआ है और मन की वे ही वासनायें प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा इस काव्य में प्रकट की जाती हैं। × × वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप प्रदान करने की चेष्टा की जाती है।" —डॉ० नगेन्द्र

(३) तीसरा वर्ग इसमें अध्यात्म और लौकिक जीवन का समन्वय देखने वालों का है, जिनमें सुमित्रानन्दन पंत, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विनयमोहन शर्मा, गुलाबराय एवं प्रेमनारायण आदि प्रमुख हैं। एक परिभाषा—

"छायावाद में एक ओर तो ऐहिक जीवन की आकांक्षा सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं, संवेदनाओं, कठिनाइयों आदि के वर्णन की प्रधानता रहती है और दूसरी ओर निगूढ़ रहस्यात्मक संकेतों एवं किसी अलौकिक सत्ता के वर्णन सम्बन्धी आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है।" —पंत

इन कतिपय परिभाषाओं के अतिरिक्त शुक्ल जी एवं जयशंकर प्रसाद की परिभाषायें भी हैं। शुक्ल जी ने छायावाद को कभी यूरोप के रूपात्मक आभास या छाया के अनुकरण पर लिखी गई बंगला कविताओं का नवीन हिन्दी संस्करण कहा तो कभी इसे एक शैली मात्र माना। वस्तुतः शुक्ल जी छायावाद और रहस्यवाद में ही अन्तर नहीं कर पाए। एक परिभाषा प्रसाद जी की है, जो छायावाद के स्वरूप-विश्लेषण में काफी सहायक सिद्ध हो सकती है—

"मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य की कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। अतः सौन्दर्य के इसी सूक्ष्म रूप को अपनाते हुए पौराणिक कथाओं एवं नारी के वाह्य सौन्दर्य के वर्णन से भिन्न जिन कविताओं में वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हुई, वही छायावाद है।"

उक्त सभी परिभाषायें अपूर्ण हैं किन्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी में छायावाद की कोई न कोई विशेषता अवश्य विद्यमान है। वस्तुतः छायावाद जीवन और जगत् को देखने का एक भावात्मक दृष्टिकोण है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दृढ़ सत्ता और भारतीय समाज की अभेद्य नैतिकता ने उसको अन्तर्मुखी, वैयक्तिक वेदना एवं निराशा की अनुभूति से युक्त बनाया। प्रकृति जहाँ उसकी

अतृप्त वासनाओं एवं कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनी, वहीं वह उसकी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं की भी। रीतिकालीन स्थूलता की प्रतिक्रिया ने जहाँ उसके सौन्दर्य बोध को सूक्ष्मातिसूक्ष्म बनाया, वहीं द्विवेदीयुगीन पौराणिकता एवं इतिवृतात्मकता ने उसे आत्मपरक एवं लाक्षणिक, ध्वन्यात्मक एवं प्रतीकात्मक बनाया।

६. छायावाद की प्रमुख विशेषतायें :

(अ) कथ्यगत विशेषतायें :

(१) सूक्ष्म सौन्दर्य बोध—छायावाद की एक प्रमुख विशेषता उसके सूक्ष्म सौन्दर्य बोध से सम्बन्धित है। यों इन्होंने स्थूल एवं शारीरिक सौन्दर्य के चित्र भी प्रस्तुत किये हैं किन्तु सौन्दर्य के प्रति इनकी प्रतिनिधि दृष्टि अंगों में सुन्दरता की दर्शक नहीं अपितु चेतना में सौन्दर्य की दर्शक है—'उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।' वह 'कनक किरण के अन्तराल में लुक छिप कर चलने वाले' सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है।

(२) वैयक्तिकता— छायावाद का अधिकांश काव्य आत्मपरक है, जिसमें वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। आँसू, प्रेमपथिक (प्रसाद), ग्रंथि (पंत), सरोज-स्मृति (निराला), नीहार से दीपशिखा तक प्रायः सभी कृतियाँ (महादेवी) एवं बच्चन, भगवतीचरण वर्मा तथा नरेन्द्र शर्मा की अन्यान्य कृतियाँ एवं गीत, इन कवियों के व्यक्तिगत सुख दुःखों, आशा-निराशाओं की ही अभिव्यक्ति हैं। इसी कारण इसमें गीति-काव्य की रचना अधिक हुई, प्रबन्धकाव्यों की कम।

(३) कल्पना की अतिशयता, वायवीपन—सम्पूर्ण कविता में कल्पना की प्रधानता है। यथार्थ जगत् से इन्होंने बचने का ही प्रयास किया है। इस कल्पना की अतिशयता ने ही इनके काव्य को कहीं-कहीं अधिक सूक्ष्म एवं वायवी बना दिया है। 'श्रद्धा' के सौन्दर्य से सम्बद्ध प्रसाद की कल्पना की उड़ान देखिए—

> कुसुम कानन अंचल में मंद, पवन प्रेरित सौरभ साकार।
> रचित परमाणु पराग शरीर, खड़ा हो ले मधु का आधार।

(४) प्रकृति में लौकिक एवं अलौकिक भावनाओं का आरोपण—प्रकृति यहाँ इनकी लौकिक अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति का भी माध्यम है और आध्यात्मिक जिज्ञासाओं का भी।

लौकिक वासना का आरोपण :

> सिन्धु सेज पर धरा-वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी।
> प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी। —प्रसाद

आध्यात्मिक जिज्ञासा :

> कनक से दिन मोती सी रात, सुनहली साँझ गुलाबी प्रात।
> मिटाता रंगता बारंबार, कौन जग का यह चित्राधार ?
>
> —महादेवी वर्मा

(५) **नारी का आदर्श रूप** —यहाँ नारी दया, ममता, स्नेह, सहानुभूति, श्रद्धा आदि सभी गुणों के आगार के रूप में चित्रित की गई है। वह पुरुष की मार्ग-दर्शिका एवं प्रेरणा शक्ति है। वह या तो 'इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी' है अथवा साक्षात श्रद्धा स्वरूपा। इनके अतिरिक्त मानव-प्रेम, राष्ट्रीयता एवं सर्वात्मवाद आदि को भी छायावाद की विशेषताओं में स्थान दिया जा सकता है।

(आ) अभिव्यक्तिगत विशेषतायें :

(१) खड़ी बोली का चरम विकास इस काल में देखने को मिलता है। उत्तर मध्यकाल में जैसी अभिव्यंजना शक्ति एवं माधुर्य ब्रजभाषा में आ गया था, लगभग उसी स्थिति में इन कवियों ने खड़ी बोली को ला खड़ा किया। 'खड़ी बोली का सबसे बड़ा विधायक' पंत इसी काल की देन है।

(२) अभिधा के स्थान पर भाषा को लाक्षणिक एवं व्यंजनागर्भी बनाया गया है। छायावादी काव्य सर्वत्र ऐसे प्रयोगों से भरा है। महादेवी के विरह-विदग्ध जीवन का हृदय-स्पर्शी लाक्षणिक चित्र देखिए—

मैं नीर भरी दुख की बदली।
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा, क्रंदन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते, पलकों में निर्झरिणी मचली।

(३) **प्रतीकात्मकता**—निम्नलिखित पंक्तियों में यौवन के प्रतीक रूप में वसन्त को, किशोरावस्था के लिए पिछले पहरों को, सौन्दर्य के लिए कोकिल एवं युवतियों के हृदय में विद्यमान प्रेम की उमग को कली का प्रतीक बनाकर प्रस्तुत किया गया है—

मधुमय वसन्त जीवन वन के, वह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कब आए थे तुम चुपके से, रजनी के पिछले पहरों में।
क्या तुम्हें देखकर आते यों, मतवाली कोयल बोली थी,
उस नीरवता में अलसाई, कलियों ने आँखें खोली थीं।

इसी प्रकार के अनेकानेक प्रतीक-बहुल प्रयोग इस कविता में हुए हैं।

(४) **बिम्बमयता**—भाषा को चित्रमय बनाने का प्रयत्न किया गया है। प्रायः सभी प्रकार के बिम्ब छायावादी कविता में मिलते हैं। अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

(५) **नाद-सौन्दर्य** —

'झूम झूम मृदु गरज गरज घन घोर',
× × × ×
धँसता दलदल, हँसता है नद खल् खल्,
बहता, कहता कुल कुल कल कल कल कल। —निराला

(६) विशेषण विपर्यय (ट्रांसफर्ड एपीथेट), मानवीकरण (परसोनिफिकेशन) एवं ध्वन्यर्थव्यंजना (ऑनोमाटोपोइया) जैसे नवीन अलंकारों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है।

(६) **उपचार वक्रता**—उपचार वक्रता में अमूर्त पदार्थ का घन पदार्थ में, द्रव का एवं अचेतन में चेतन का आरोप किया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावादी काव्य में ऐसा बहुत हुआ है। उदाहरण के लिये निराला की प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' को ही लिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त छन्द-विधान में भी तुकान्त, अतुकान्त एवं मुक्त छन्द का प्रयोग किया गया। बड़ी मात्रा में गेय पदों की रचना हुई।

७. मूल्यांकन :

डॉ० नगेन्द्र छायावादी काव्य को प्रथम श्रेणी का काव्य नहीं मानते। उनका विचार है कि कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती। कुछ अन्य आलोचकों ने इसे अतिरेकी काव्य कहा है। अतिरेकी भावुकता, अतिरेकी कल्पना और अतिरेकी कलात्मकता। इन कथनों में भी दम हो सकता है किन्तु इतना तो निश्चित है कि जिस काव्य-प्रवृत्ति ने कामायनी' राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास, पल्लव, नीहार, नीरजा एवं दीपशिखा जैसे महत्वपूर्ण काव्य-ग्रंथ हिन्दी को प्रदान किये। प्रसाद, पंत, निराला एवं महादेवी जैसी प्रख्यात काव्य-प्रतिभाएँ उत्पन्न कीं, वह काव्य न हो प्रथम श्रेणी का, उसके महत्वपूर्ण एवं उच्च होने में तो किसी प्रकार की शंका की ही नहीं जा सकती।

—:o:—

५५ रहस्यवाद

१. अज्ञात एवं अप्राप्य को जानने एवं पाने की चिरन्तन इच्छा :

मानव ने जब से होश सम्भाला है, शायद तभी से उसे अज्ञात और अप्राप्य को जानने एवं पाने की इच्छा रही है। यह इच्छा भौतिक जगत में जितनी स्वाभाविक एवं बलवती रही है, उतनी ही लगभग आध्यात्मिक जगत में। जो कुछ अज्ञात एवं अप्राप्य है, उसका अधिकांश मानव अपने श्रम, निष्ठा, लगन एवं बुद्धि के माध्यम से प्राय: जान एवं पा लेता है। इस क्षेत्र में विज्ञान उसकी भरपूर सहायता करता आया है, अब भी कर रहा है, किन्तु समय-समय पर वह ऐसा भी महसूस करता रहा है कि इस भौतिक जगता से परे भी कोई शक्ति है, जो विज्ञान की पकड़ से बाहर है, बुद्धि जहाँ तक नहीं पहुँच पाती। सृजन और विनाश का कार्य अनवरत चल रहा है। सारी सृष्टि और प्रकृति में एक अनुशासन दिखलाई पड़ता है। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नदियाँ, पर्वत, सागर, जलवायु एवं वातावरण किसी न किसी अनुशासन में बँधे दिखाई देते हैं। मानव-मन में सहज ही जिज्ञासा जगती है, इनका अनुशास्ता कौन है ? आज बीसवीं शताब्दी के विज्ञान ने बहुत तरक्की कर ली है किन्तु नित नये रहस्य जन्म लेते हैं। सारे प्रयत्न कर लेने के बाद भी भयंकर सूखा, बाढ, तूफान, अंधड़ एवं भूकम्प के दृश्य दुनिया से गायब नहीं हुए और अब तो विश्व के वैज्ञानिक दुनिया के विचित्र प्रकार से बदलते हुए जलवायु का ही कारण खोजने के लिये चिन्तित हो उठे हैं। अनेक करिश्मों एवं चमत्कारों की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त हैं। जो कुछ जानकारी होती है, वह एक नया रहस्य उत्पन्न कर जाती है, सत्य को एक और नया आवरण ढँक लेता है—

सब कहते हैं 'खोलो खोलो, छबि देखूँगा जीवन धन की।
आवरण स्वयं बनते जाते, है भीड़ लग रही दर्शन की। (कामायानी)

२. रहस्यवाद एवं दर्शन :

और ये नये-नये आवरण ही रहस्य को जन्म देते हैं। हारकर मानव किसी अलौकिक शक्ति की शरण में जाना चाहता है किन्तु जब तक उस शक्ति को न पहचाने, उससे एकमेक कैसे हो सकता है ? ज्ञान और तर्क-वितर्क का सहारा लेता है। इसी से 'दर्शन' का जन्म होता है। ज्ञान से बात बनती दिखलाई नहीं पड़ती है तो भावना का सबल लेता है। जब उस अप्राप्य एवं अज्ञात शक्ति को जानने, समझने

प्राप्त न होने पर उसके वियोग में तड़पने, उसके आभास मात्र से पुलकित हो उसे निकट से निकट होकर पाने के लिये उससे अपने भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के अपने विविध अस्पष्ट अनुभवों की जब काव्यात्मक अभिव्यक्ति करने लगता है, तब 'रहस्यवाद' का जन्म होता है।

३. रहस्यवाद और छायावाद :

प्रारम्भ में आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान् भी छायावाद और रहस्यवाद को एक समझते रहे। शुक्ल जी ने 'छायावाद' शब्द का प्रयोग एक तो 'रहस्यवाद' के अर्थ में किया और दूसरा 'काव्य-शैली या पद्धति विशेष' के अर्थ में। (दे० हिन्दी सा० का इतिहास, संवत् २०१८, पृ० ६३७) किन्तु इन दोनों में अन्तर है। कवि जब जड़ प्रकृति में चेतना का आरोप कर उसे मानवी धरातल पर प्रस्तुत करता है तो 'छायावाद' की सृष्टि होती है और जब सम्पूर्ण जगत के पीछे किसी अखण्ड, अलौकिक सत्ता के दर्शन करता है तो 'रहस्यवाद' की।

४. रहस्यवाद : कुछ प्रमुख परिभाषाएँ :

१. "साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।"
—आचार्य शुक्ल

२. "रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का श्रेय हो जाता है।"
—महादेवी वर्मा

३. "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद है।"
—जयशंकर प्रसाद

४. "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।"
—डॉ० रामकुमार वर्मा

५. "प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़-चेतन के एकीकरण की प्रवृत्ति-छायावाद की एक विशेषता है। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनुभूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है, तभी छायावाद रहस्यवाद में परिणत हो जाता है।"
—गुलाबराय

निष्कर्ष :

१. रहस्यवाद शुद्ध काव्य के क्षेत्र की प्रवृत्ति है।

२. इसमें कवि के उन तमाम अनुभवों की अभिव्यक्ति मिलती है, जो जीवात्मा की परम सत्ता विषयक जिज्ञासा, मिलन की आकुलता, मिलन के प्रयत्न, न मिल पाने की स्थिति में वेदना की छटपटाहट से लेकर मिलन की आनन्दमयता के संबद्ध होते हैं।

३. यह परम सत्ता निराकार अव्यक्त, अस्पष्ट, अतएव रहस्यमय होती है।

४. कवि की जीवात्मा अलौकिक सत्ता से विविध प्रकार के निजी संबंध जोड़ती है, विशेष रूप से प्रणयिन-प्रणयी का।

५. हिन्दी काव्य में रहस्यवाद : विकास

हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद की प्रवृत्ति समय-समय पर उभरती एवं दबती रही है। हिन्दी के आदिकाल में यह प्रवृत्ति बौद्ध सिद्धों और नाथों में दिखलाई पड़ती है, जिसकी अभिव्यक्ति 'संध्या-भाषा' के द्वारा अथवा हठयोग की प्रक्रिया-वर्णन में अत्यन्त अस्पष्ट एवं दुरूह हो गई है। रहस्यवाद का समुचित विकास कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों एवं जायसी जैसे सूफी कवियों में ही दिखलाई पड़ता है। इनमें से कबीर और जायसी के काव्य में इसका विशेष स्फुरण हुआ है। कबीर आदि सन्तों ने सिद्धों और नाथों से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है, शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव भी उन पर लक्षित होता है और सूफियों के प्रेम की पीर के भी दर्शन होते हैं। जायसी जहाँ इस्लाम के एकेश्वरवाद से प्रभावित हुये हैं, वहीं भारतीय हठयोग और अद्वैतवाद से भी। शुक्ल जी ने जायसी में शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद के सर्वप्रथम दर्शन किये हैं तो श्यामसुन्दर दास ने कबीर को ही हिन्दी का सर्वप्रथम रहस्यवादी कवि माना है। कुछ आलोचक तुलसी के 'केशव कहि न जाय, का कहिये' जैसे पदों को एवं सूर के रास-लीला, मान-हरण आदि से सम्बन्धित पदों को उद्धृत कर इनमें भी रहस्यवाद के दर्शन करते हैं, जो उचित नहीं है। कारण, इनका उपास्य सगुण है, व्यक्त है, उसका स्वरूप पर्याप्त स्पष्ट है। इनका सम्बन्ध या तो सेवक-सेव्य भाव का है (तुलसी) अथवा सख्य भाव का (सूर)। इनमें प्रणय-भाव का अभाव है। मीरा में प्रणय भाव की आकुलता तो विद्यमान है किन्तु उसका आराध्य भी 'जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई' मोर मुकुट धारण कर रिझाने वाला कृष्ण है, फिर भी मीरा के कुछ पदों में रहस्य की झलक मिल जाती है। रीतिकालीन कवियों की दृष्टि तो शुद्ध अधिकांशतः लौकिक ही रही। भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग में भी इस प्रवृत्ति का विकास नहीं हुआ। छायावादी कवियों में इस प्रवृत्ति के पुनः दर्शन होते हैं, जिस पर जहाँ एक ओर भारतीय उपनिषदों को चिन्ताधारा का प्रभाव लक्षित होता है, वहीं रवीन्द्र बाबू की 'गीतांजलि' के माध्यम से पाश्चात्य रोमांटिक कवियों का भी। इनका अधिकांश रहस्यवाद जिज्ञासा के स्तर पर ही चुक जाता है, यद्यपि महादेवी वर्मा एवं प्रसाद में अपेक्षाकृत अधिक, पंत एवं निराला में कम, अन्य स्थितियों के भी दर्शन होते हैं। महादेवी वर्मा ने 'सांध्यगीत' की भूमिका में इन छायावादी कवियों के रहस्य-वाद का स्पष्टीकरण करते हुये ठीक ही लिखा है—"उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली,—जो मनुष्य के हृदय को आलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्क में बना सका।"

६. हिन्दी काव्य में रहस्यवाद : विभिन्न स्थितियाँ :

(१) अव्यक्त ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा :

पारब्रह्म के रूप को कैसो है उनमान । —'कबीर'
कहिबो कू सोभा नहीं, देख्याँ ही परमान ।

महानील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान ।
ग्रह-नक्षत्र और तारागण किसका करते से संधान ?
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिचे हुए,
तृण-वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए ? —प्रसाद

शून्य नभ में उमड़ जब दुःख भारसी,
नैश तन में सघन छा जाती घटा ।
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति-सी,
जब सुनहले आँसुओं के तार-सी
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ? —महादेवी वर्मा

ऐसी ही जिज्ञासा वाले विभिन्न उदाहरण पंत, निराला और रामकुमार वर्मा आदि कवियों के काव्य से प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

(२) विरह-वेदना की तीव्रता, प्रतीक्षा—कबीर, जायसी, एवं महादेवी में यह वेदना बड़ी तीव्र एवं आकुल कर देने वाली है । कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

पहुँच न सकूँ तुज्झ तक, सकूँ न तुझे बुलाय ।
जियरा यूँ ही लेहुगे, विरह तपाय तपाय ।।
अंषड़ियाँ प्रेम कषाइयाँ, लोग कहैं दुखड़ियाँ ।
साईं अपुने कारणै, रोइ रोइ रतड़ियाँ ।।
पीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहीं होय विदेस ।
तन में मन में रमि रहा, तिनको कहा सनेस ।। —कबीर

पिउँ हिरदय मेंह भेंट न होई, कोरे मिलाव, कहौं का रोई ।

× × × ×

यह तन जारों छार के, कहौं कि पवन उड़ाव ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहं पाव । —जायसी

अब शेष नहीं होगी ये मेरे प्राणों की पीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा तुममें ढूंढूंगी पीड़ा ।

× × ×

कब से मैं पथ देख रही प्रिय,
उर न तुम्हारे रेख रही प्रिय ।

× × ×

विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात। —महादेवी वर्मा

(३) विभिन्न सम्बन्धों की स्थापना—कवियों ने उस परम पिता से यों तो पिता-पुत्र, माता-पुत्र आदि के सम्बन्ध भी स्थापित किये हैं, किन्तु प्रणय-सम्बन्ध ही रहस्यवाद के अधिक अनुकूल पड़ता है।

हरि मोर पीय माई, हरि मोर पीव।
हरि बिन रहि न सकै मोर जीव।
हरि मोरा पीव मैं राम की बहुरिया। —कबीर

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
दूर तुमसे हूँ, अखण्ड सुहागिनी भी हूँ। —महादेवी वर्मा

(४) सर्वत्र व्याप्तता के दर्शन—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल। —कबीर

उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रह्यो सिगरो संसारा।

× × × ×

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर। —जायसी

एक ही तो असीम उल्लास,
जगत में पाता विविधाभास। —पंत

(५) मिलन का आनन्द—

दुलहिन गावहु मंगलाचार।
हमारे घरि आये हों राजा राम भरतार। —कबीर

देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइनि होई छावा।
गा अँधियार रैनि मसि छूटी। भा भिनसार, किरन-रवि छूटी। —जायसी

७. उपसंहार : नया रहस्यवाद

कुछ लोगों का विचार है कि आज 'रहस्यवाद' मर गया है। हमारे विचार में उनकी यह धारणा ठीक नहीं है। जब तक बुद्धि की सहायता से विज्ञान जीवन और जगत् के तथा इनसे परे के सभी रहस्यों की गुत्थियाँ नहीं सुलझा लेता, जब तक इस सबको समझने एवं जानने के लिए संबुद्धि (इंटयूशन) की सहायता की आवश्यकता पड़ती रहेगी, तब तक रहस्यवाद भले ही मर जाये, रहस्यमयता नहीं मरेगी। यदि ऐसा होता तो अज्ञेय आदि हिन्दी के नये कवियों की प्रवृत्ति रहस्योन्मुखी नहीं होती। 'आँगन में पार-द्वार' संकलन की अनेक कविताओं में अज्ञेय की इस रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति के दर्शन किये जा सकते हैं। अन्तर केवल इतना है कि इन नये कवियों का आलम्बन कोई अलौकिक शक्ति नहीं है। उनका ममेतर मम से भिन्न नहीं है। इसी को उन्होंने नया रहस्यवाद कहा है।

—:०:—

५६ सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

१. सूत्र वाक्य का जन्म :

यह विपुल व्यंजनागर्भी सूत्र-वाक्य आज कला और साहित्य के क्षेत्र का एक आदर्श एवं चरम प्रतिमान बन गया है। विद्वानों का विचार है कि इसका भारतीय साहित्य में प्रयोग सर्वप्रथम रवीन्द्र बाबू के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने किया था। वैसे इसका मूल उद्भावक यूनानी दार्शनिक अरस्तू को स्वीकार किया जाता है, जिसने 'द ट्रयू, द गुड, द ब्यूटीफुल' के रूप में इस सूत्र को तमाम कलाओं एवं साहित्य के आदर्श प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत किया था। यदि महर्षि देवेन्द्रनाथ ने अरस्तू के इन्हीं शब्दों के अनुवाद रूप में इस सूत्र वाक्य का प्रयोग किया हो तो भी मानना पड़ेगा कि यह अनुवाद भी इतना सटीक एवं भारतीय चिन्तनधारा के अनुकूल हुआ है कि इसमें अनुवाद की गंध तक विद्यमान नहीं है।

२. सूत्र वाक्य का व्यापक परिप्रेक्ष्य :

यह सूत्र वाक्य अपने अन्दर विपुल व्यंजना को समेटे हुए है। यही कारण है कि जीवन के विविध पक्षों के सम्बन्ध में भारतीय चिन्तनधारा से इसका अद्भुत साम्य दिखलाई पड़ता है। भारतीय चिन्तनधारा में भले ही 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का यथावत् प्रयोग न हुआ हो किन्तु किंचित् अन्य शब्दों के माध्यम से इन्हीं अर्थों का द्योतन होता रहा है। उनमें से कुछ यहाँ दृष्टव्य हैं :

साहित्य एवं कला का आदर्श	:	सत्यं	शिवं	सुन्दरम्
ब्रह्म का आदर्श	:	सत्	चित्	आनन्द
जीवन-दर्शन का आदर्श	:	ज्ञान	क्रिया	इच्छा
उपासना का आदर्श	:	ज्ञान	कर्म	भक्ति
वाणी का आदर्श	:	सत्यं	हितं	प्रियं

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत्
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्चते।"

—श्रीमद्भगवद्गीता

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्"

—मनुस्मृति

जिज्ञासा का आदर्श :   विज्ञान   धर्म   काव्य

इसके अतिरिक्त डॉ० भगवानदास ने अपने 'द साइंस ऑव सेक्रेड वर्ड' एवं 'द साइंस ऑव पीस' ग्रन्थों में ऐसे अनेक भारतीय चिन्तन से अनुप्राणित त्रिक् प्रस्तुत किए हैं। इस सबसे दो निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है कि एक तो 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का आदर्श भारतीय चिन्तन धारा के लिए नया नहीं है और दूसरे, काव्य अथवा कलाओं का चरम उद्देश्य देश-विदेश के जीवन के विविध पक्षों, आचार-विचारों, धर्मों, दर्शनों एवं विविध विज्ञानों के चरम उद्देश्य से भिन्न नहीं है।

३. सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् का स्वरूप विवेचन :

सत्य का स्वरूप—सत्य के स्वरूप का विवेचन करने से पहले हमें इस सत्य से अवश्य अवगत होना चाहिये कि इसके विषय में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। मानव के सारे यत्न इसी के संधान में संलग्न हैं। विज्ञान, धर्म, दर्शन, काव्य तथा अन्य कलाएँ इसी की ओर उन्मुख हैं। सबको कुछ न कुछ मिलता भी है, लेकिन ऐसा भी बहुत कुछ है, जो छूट जाता है। शायद, सृष्टि के संचालन के लिए यह आवश्यक भी है। मोटे तौर पर कहा जाता रहा है कि जो है, जिस का अस्तित्व है, वही सत्य है। ऊपर-ऊपर से यह सही भी जँचता है किन्तु थोड़ा-सा गहराई में उतरते ही इसकी सीमा स्पष्ट हो जाती है। जो है अथवा जिसका अस्तित्व है, यदि वही सत्य है तो जो हो सकता है, क्या उसे असत्य कहेंगे ? इतिहासकार, वैज्ञानिक अथवा गणितज्ञ 'जो है' को सत्य मान सकते हैं किन्तु साहित्यकार 'जो हो सकता है', उसे भी सत्य मानता है अथवा यों कहिये कि मानने को बाध्य है। अन्यथा, वह केवल फोटोग्राफर मात्र बनकर रह जायेगा, उन स्थानों और उन अंधेरी गुहाओं तक उसकी पहुंच नहीं होगी, जिन्हें रवि की किरणें भी नहीं छू पातीं, उसकी वस्तुओं के आर-पार देख सकने की शक्ति लुप्त हो जायेगी, वह भविष्य सृष्टा बन पायेगा, न दृष्टा। उसका कल्पना का व्यापार अवरुद्ध हो जायेगा, यानी वह सृजन से ही चुक जायेगा। अब यदि सत्य की परिभाषा में 'जो है' के साथ 'जो हो सकता है' को भी जोड़ लिया जाय, तब भी यह परिभाषा अप्रश्नित नहीं होगी। पूछा जा सकता है कि 'जो है' अथवा 'जो हो सकता है' क्या उसका दर्शन अथवा अनुभव सभी व्यक्तियों को, सभी युगों में एक जैसा होगा ? कदाचित् नहीं। यहीं आकर सत्य को व्यष्टि सत्य—समष्टि सत्य, युग-सत्य—शाश्वत सत्य जैसे वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है। तर्क दिया जाता है कि हर व्यक्ति और हर युग अपने-अपने अनुभव को प्रमाण मानकर अपने-अपने

सत्य की स्थापना कर लेता है और फिर बुद्धि के द्वारा उसकी पुष्टि में अनेक तर्क गढ़ लेता है। इसी कारण हिन्दी के दार्शनिक कवि प्रसाद ने 'सत्य' को 'मेधा के क्रीड़ा-पंजर का पाला हुआ सुआ' कहा है—

> और सत्य ! यह एक शब्द तू, कितना गहन हुआ है;
> मेधा के क्रीड़ा-पंजर का पाला हुआ सुआ है।
> —कामायनी, कर्म सर्ग

पिंजड़े में पला तोता वही बोलेगा, जो उसका मालिक रटायेगा। सत्य वही होगा, जो बुद्धि स्वीकार करेगी। किन्तु जैसे एक व्यष्टि सत्य होता है, वैसे ही समष्टि-सत्य भी होता है, जैसे एक युग का अपना अलग सत्य होता है, वैसे ही युगों-युगों का भी एक सत्य होता है। यानी, चरम विश्लेषण के समय सत्य भेदों में अभेद एवं खण्डों में अखण्ड की स्थिति को प्राप्त कर लेता है—

> रूपों में एक अरूप सदा खिलता है,
> गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
> अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
> पुरुषों के हर वैभव में ओझल
> अपौरुषेय मिलता है ! — अज्ञेय

और फिर विश्लेषण से परे भी, यानी न केवल अतीन्द्रिय बल्कि बुद्धि से भी परे, शुद्ध प्रातिभ ज्ञान (इंटयूशन) का विषय, जहाँ केवल 'कबीर' की भाँति ही कहना पड़ता है—

> "कहिबे कूँ सोभा नहीं देख्याँ ही परमान।"

साहित्यकार से यह अपेक्षा की जाती है कि उसकी कृति इसी सत्य से अनुप्राणित हो। सच्चा साहित्यकार वही है, जो व्यक्ति-सत्य को समष्टि सत्य बनाने में समर्थ हो, जो अपनी प्रामाणिक अनुभूति को जन-जन की प्रामाणिक अनुभूति बना दे। जो अपने युग के सत्य को युगों-युगों का सत्य बना पाने में सफल हो, जो जीवन और जगत् की वस्तुओं के आर-पार देख सकता हो, जो भेदों में अभेद और खण्डों में अखण्ड के दर्शन कर सकता हो।

शिव का स्वरूप :

शिव साधारणतः लोक मंगल का वाचक शब्द है। इसे सत्य का व्यवहार-रूप भी कह सकते हैं। 'भेद में अभेद यही सत्य का आदर्श है और यही शिव का मापदण्ड है' (गुलाबराय)। लोक-जीवन में इसकी आवश्यकता सदा महसूस की जाती रही है। इसी कारण 'ऋग्वेद' का ऋषि प्रार्थना करता है—'भद्रम् भद्रम् न आभर'—'भगवन् ! हमें बराबर कल्याण को प्राप्त कराइए' तथा 'तन्मे मनः शिव

संकल्पमस्तु'—'मेरे मन के संकल्प शुभ और कल्याणमय हों।' आदि-आदि। अब प्रश्न यह है कि यह कल्याण है क्या? क्या केवल मोटे तौर पर स्व एवं लोक-हित में दीखने वाला कार्य-व्यापार ही कल्याण है? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में मिलता है। भारतीय धर्म और दर्शन की अद्भुत कल्पना है—शिव की देवता रूप में स्थापना। शिव जहाँ कल्याण करने वाले शिव तथा शंभु हैं, वहीं वे विश्व का संहार करने वाले रुद्र भी। जहाँ वे नर-मुंड, सर्प एवं विषधारी हैं, वहीं चन्द्रमा और गंगा-धारी भी। यानी, सृजन और विनाश दोनों में ही कल्याण निहित है।

साहित्य इसी शिव की साधना करता है। काव्य-शास्त्रियों ने इसीलिए साहित्य के प्रयोजन में 'शिवेतरक्षतये' को महत्व दिया है। कुछ लोग जो इसे साहित्य पर आरोपित मूल्य सिद्ध करने के हामी हैं, वे यदि इसे न भी स्वीकार करें, तब भी वे शिवत्व के घेरे से बाहर नहीं जा सकते। कला, कला के लिए का राग अलापकर वे जिस शुद्ध काव्य की चर्चा करते हैं, अन्ततः वह भी अपनी चरम स्थिति में शिवत्व का रूप ही धारण कर लेता है।

सुन्दर का स्वरूप :

सत्य और शिव की भाँति सुन्दर का स्वरूप भी विवादास्पद है। साधारणतः सुन्दर से अभिप्राय है—जो अच्छा लगे, जिसमें आकृष्ट कर सकने की क्षमता हो। यहाँ भी वही प्रश्न उठता है कि जो अच्छा लगे, देखने में अथवा विचारने पर, अपनी बाह्य रूप-रचना के कारण अथवा अपनी आन्तरिक गुणवत्ता के कारण? और क्या यह भी जरूरी है कि जो चीज एक व्यक्ति को आकृष्ट करे, वह दूसरे को भी हर स्थिति में आकृष्ट करेगी ही? क्या प्रत्यक्ष जीवन में यह अनुभव नहीं होता कि एक समय कोई वस्तु हमें आकृष्ट करती है, तो दूसरे समय वही कुरूप अतएव दुखदायी हो जाती है। संयोग के समय जो चाँदनी, जो सरोवर अथवा नदी का किनारा मन को अपूर्व आह्लाद से भर देता है, वियोग के समय वही सब चीजें दुःखदायी हो जाती हैं। यहीं सौन्दर्य-विषयक वे प्रश्न उठते हैं, जिनका सदियों से काव्य-शास्त्री, दार्शनिक, कवि एवं अन्य विचारक समाधान खोजने का प्रयत्न करते रहे हैं। सौन्दर्य व्यक्तिपरक है अथवा वस्तु परक? सौन्दर्य स्थूल है अथवा सूक्ष्म? पहले प्रश्न के उत्तर में, 'बिहारी' का तो सहज उत्तर है—

समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय।

यानी, सौन्दर्य मन की रुचि पर निर्भर है, यानी वह व्यक्तिपरक है। कोई वस्तु सुन्दर इसलिए है कि वह हमारे मन को रुचती है, किन्तु 'बिहारी' अपनी इस धारणा पर जम नहीं पाते। वे यह भी कहते हैं—

सीतलता इस सुबास की, घटै न महिमा-मूर।
पीसनवारे जो तज्यौं, सोरा जानि कपूर।

यानी कपूर की शीतलता और सुबास की मूल महिमा में कोई अन्तर नहीं आता, यदि कोई उसे शोरा समझकर उपेक्षित कर दे। कहने का आशय सौन्दर्य वस्तुगत भी है। दूसरे प्रश्न का समाधान भी अंशतः इससे हो जाता है। सौन्दर्य स्थूल भी हैं, तभी अनेक कवियों ने नायिकाओं के बाह्य रूप-वर्णन में अपनी समस्त क्षमता चुका दी है। वह सूक्ष्म भी है, अन्यथा लोककथा का मजनू कुरुपा लैला में क्या सौन्दर्य देख पाता! अब एक प्रश्न और क्या कुरुप समझी जाने वाली वस्तुओं को भी सुन्दर कहा जा सकता है। उत्तर है—हाँ। सुधा का सौन्दर्य यदि अमृत्व में है तो विष का विषत्व में। राम अपने रामत्व के कारण यदि सुन्दर है तो रावण रावणत्व के कारण। नये कवियों को कैक्टस में भी सौन्दर्य नजर आता है और अभागे अड़अड़ाते कौए के स्वर में भी।

४. निष्कर्ष :

ऊपर के संक्षिप्त विवेचन को आधार बनाकर कुछ निष्कर्षों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है। वस्तुतः सत्य, शिव एवं सुन्दर तत्वतः भिन्न नहीं, प्रत्यक्ष के क्षेत्र में जो सौन्दर्य है, चिंतन के क्षेत्र में वही सत्य है और व्यवहार के क्षेत्र में वही शिवत्व है। जहाँ इनमें से एक का भी अस्तित्व है, वहीं अन्य दोनों का भी अस्तित्व अवश्यम्भावी है। अपनी व्यापक व्यंजना के कारण इसे साहित्य और कला के शाश्वत प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। आज जो कविता के नये प्रतिमानों की चर्चा की जा रही है, वह वस्तुतः पूर्व विवेचन के अधूरेपन की पूर्ति का ही प्रयत्न है। अनुभूति की प्रामाणिकता, व्यष्टि एवं समष्टि का समंजन और अभिव्यक्ति की सशक्तता वस्तुतः सत्य, शिव और सुन्दर के ही खन्ड रूप हैं। अपने अखण्ड रूप में नये प्रतिमान भी इन्हीं में समाहित हो जाते हैं। इस प्रतिमान को जीवन के अन्य आयामों एवं उपलब्धियों के आदर्श रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है।
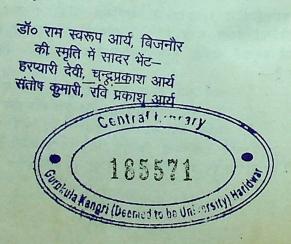
Books For Competitive Examinations

1. U.P.S.C. English Composition (with essays and current problems) by Dr. Chopra, Rai Jami and V. Kumar. — Rs. 20-00
2. Essays on Contemporary Issues (3rd Edn. 1979) by Dr. Chopra, V. Kumar, Sachdeva & Mukerjee — Rs. 15-00
3. Speak better Write Better English by M. M. Rai Jami — Rs. 12-50
4. A Treatise on the Art of Expansion & Precis writting by Dr. O. N. Gupta — Rs. 6-00
5. Arithmetic for Competitive Examinations (English) by Sharma & Agarwal. — Rs. 12-00
   —do— (Hindi) — Rs. 10-00
7. Elementary Mathematics by Sharma and Agarwal — Rs. 12-75
8. Basic Mathematics by Sharma & Agarwal — Rs. 8.00
9. Sainic School Admission Guide (With previous questions papers solved) by Capt. P. L. Suri — Rs. 15-00
10. U. P., P. C. S. & S. T. O. Examination Compulsory Question Paper (Unsolved) upto-date (with Ele. Maths) — Rs. 7-50
11. U. P., P. C. S & S. T. O. Examination Optional Question Papers (Unsolved) upto-date :
    - Part I Physical Sciences — Rs. 10-50
    - Part II Social Sciences — Rs. 9-75
12. U.P., P. C. S. Examination Compulsory Question Papers (Unsolved) upto-date — Rs. 4-50
13. U. P., P. C. S. & S. T. O Examination Question Papers (Elementary Mathematics (with short solutions) — Rs. 3-75
14. सामान्य हिन्दी—लेखक डा० मानसिंह वर्मा — Rs. 9.00
15. अभिनव हिन्दी निबन्ध—लेखक डा० मानसिंह वर्मा — Rs. 12.75
16. सामान्य हिन्दी एवं निबन्ध—लेखक डा० मानसिंह वर्मा — Rs. 15.00
17. सम्पूर्ण दर्शिका पुलिस सब-इन्सपेक्टर्स प्रतियोगी परीक्षायें. —लेखक शर्मा एवं अग्रवाल — Rs. 15.00

LOYAL BOOK DEPOT

MEERUT